सहसा सभापति महाशय आपटे एक किराये के ताँगे पर आते दिखाई दिये। चारों तरफ़ हलचल मच गई : लोग उठ-उठकर उनका स्वागत करने दौड़े और उन्हें लाकर मंच पर बैठा दिया। आपटे की अवस्था ३०-३५ वर्ष से अधिक न थी, दुबले-पतले आदमी थे, मुख पर चिन्ता का गाढ़ा रङ्ग चढ़ा हुआ; बाल भी पक चले थे, पर मुख पर सरल हास्य की रेखा झलक रही थी। वह एक सुफ़ेद मोटा कुरता पहने हुए थे, न पाँव में जूते थे, न सिर पर टोपी। इस अर्द्धनग्न, दुर्बल, निस्तेज प्राणी में न-जाने कौन-सा जादू था कि समस्त जनता उसकी पूजा करती थी, उसके पैरों पर सिर रगड़ती थी। इस एक प्राणी के हाथों में इतनी शक्ति थी कि वह क्षणमात्र में सारी मिलों को बन्द करा सकता था, शहर का सारा कारोबार मिटा सकता था। अधिकारियों को उसके भय से नींद न आती थी, रात को सोते-सोते चौंक पड़ते थे। उससे ज़्यादा भयंकर जन्तु अधिकारियों की दृष्टि में दूसरा न था। यह प्रचण्ड शासन-शक्ति उस एक हड्डी के आदमी से थरथर काँपती थी, क्योंकि उस हड्डी में एक पवित्र, निष्कलंक, बलवान और दिव्य आत्मा का निवास था।

(२)

आपटे ने मंच पर खड़े होकर पहले जनता को शान्त-चित्त रहने और अहिंसा-व्रत पालन करने का आदेश दिया। फिर देश की राजनीतिक स्थिति का वर्णन करने लगे। सहसा उनकी दृष्टि सामने मिस जोशी के बरामदे की ओर गई, तो उनका प्रजा-दुःख, पीड़ित हृदय तिलमिला उठा। यहाँ अगणित प्राणी अपनी विपत्ति की फ़रियाद सुनाने के लिए ज़मा थे और वहाँ मेज़ों पर चाय और बिस्कुट, मेवे और फल, बर्फ़ और शराब की रेल-पेल थी। वे लोग इन अभागों को देख-देख हँसते और तालियाँ बजाते थे। जीवन में पहली बार आपटे की ज़बान क़ाबू से बाहर हो गई। मेघ की भाँति गरजकर बोले—

इधर तो हमारे भाई दाने-दाने को मुहताज हो रहे हैं, उधर अनाज पर कर लगाया जा रहा है केवल इसलिए कि राज-कर्मचारियों के

हलुवे-पूरी में कमी न हो। हम जो देश के राजा हैं, जो छाती फाड़कर धरती से धन निकालते हैं, भूखों मरते हैं, और वे लोग, जिन्हें हमने अपने सुख और शांति की व्यवस्था करने के लिए रखा है, हमारे स्वामी बने हुए शराबों की बोतलें उड़ाते हैं। कितनी अनोखी बात है कि स्वामी भूखों मरे और सेवक शराबें उड़ाये, मेवे खाये और इटली और स्पेन की मिठाइयाँ चखे! यह किसका अपराध है? क्या सेवकों का? नहीं, कदापि नहीं, यह हमारा ही अपराध है कि हमने अपने सेवकों को इतना अधिकार दे रखा है। आज हम उच्च स्वर से कह देना चाहते हैं कि हम यह क्रूर और कुटिल व्यवहार नहीं सह सकते! यह हमारे लिए असह्य है कि हम और हमारे बाल-बच्चे दानों को तरसें और कर्मचारी लोग, विलास में डूबे हुए हमारे करुण-क्रन्दन की ज़रा भी परवा न करते हुए विहार करें। यह असह्य है कि हमारे घरों में चूल्हे न जलें और कर्मचारी लोग थिएटरों में ऐश करें, नाच-रङ्ग की महफ़िलें सजायें, दावतें उड़ायें, वेश्याओं पर कंचन की वर्षा करें। संसार में ऐसा और कौन देश होगा, जहाँ प्रजा तो भूखों मरती हो और प्रधान कर्मचारी अपने प्रेम-क्रीड़ाओं में मग्न हों; जहाँ स्त्रियाँ गलियों में ठोकरें खाती फिरती हों और अध्यापिकाओं का वेष धारण करनेवाली वेश्याएँ आमोद-प्रमोद के नशे में चूर हों...

(३)

एकाएक सशस्त्र सिपाहियों के दल में हलचल पड़ गई। उनका अफ़सर हुक्म दे रहा था—सभा भंग कर दो, नेताओं को पकड़ लो, कोई जाने न पाये। यह विद्रोहात्मक व्याख्यान है।

मिस्टर जौहरी ने पुलीस के अफ़सर को इशारे से बुलाकर कहा—और किसी को गिरफ्तार करने की ज़रूरत नहीं। आपटे ही को पकड़ो। वही हमारा शत्रु है।

पुलीस ने डंडे चलाने शुरू किये और कई सिपाहियों के साथ जाकर अफ़सर ने आपटे को गिरफ्तार कर लिया।

जनता ने त्योरियाँ बदलीं। अपने प्यारे नेता को यों गिरफ्तार

This is the best story

होते देखकर उनका धैर्य हाथ से जाता रहा।

लेकिन उसी वक्त आपटे की ललकार सुनाई दी—तुमने अहिंसा-व्रत किया है और अगर किसी ने उस व्रत को तोड़ा, तो उसका दोष मेरे सिर होगा। मैं तुमसे सविनय अनुरोध करता हूं कि अपने-अपने घर जाओ। अधिकारियों ने वही किया, जो हम समझे थे। इस सभा से हमारा जो उद्देश्य था, वह पूरा हो गया। हम यहाँ बलवा करने नहीं, केवल संसार की नैतिक सहानुभूति प्राप्त करने के लिए जमा हुए थे, और हमारा उद्देश्य पूरा हो गया।

एक क्षण में सभा भंग हो गई और आपटे पुलीस की हवालात में भेज दिये गये।

(४)

मिस्टर जौहरी ने कहा—बचा बहुत दिनों के बाद पञ्जे में आये हैं। राज-द्रोह का मुक़दमा चलाकर कम-से-कम १० साल के लिए अंडमन भेजूँगा।

मिस जोशी—इससे क्या फ़ायदा?

'क्यों? उसको अपने किये की सज़ा मिल जायगी।'

'लेकिन सोचिये, हमें उसका कितना मूल्य देना पड़ेगा? अभी जिस बात को गिने-गिनाये लोग जानते हैं, वह सारे संसार में फैलेगी और हम कहीं मुँह दिखाने लायक़ न रहेंगे। आप अख़बारों के संवाद-दाताओं की ज़बान तो नहीं बन्द कर सकते।'

'कुछ भी हो, मैं इसे जेल में सड़ाना चाहता हूँ। कुछ दिनों के लिए तो चैन की नींद नसीब होगी। बदनामी से तो डरना ही व्यर्थ है। हम प्रान्त के सारे समाचार-पत्रों को अपने सदाचार का राग अलापने के लिए मोल ले सकते हैं। हम प्रत्येक लाञ्छन को झूठा साबित कर सकते हैं, आपटे पर मिथ्या दोषारोपण का अपराध लगा सकते हैं।'

'मैं इससे सहज उपाय बतला सकती हूँ। आप आपटे को मेरे हाथ में छोड़ दीजिये। मैं उससे मिलूँगी और उन यंत्रों से, जिनका प्रयोग करने में हमारी जाति सिद्धहस्त है, उसके आंतरिक भावों और विचारों

की थाह लेकर आपके सामने रख दूँगी। मैं ऐसे प्रमाण खोज निकालना चाहती हूँ, जिनके उत्तर में उसे मुँह खोलने का साहस न हो, और संसार की सहानुभूति उसके बदले हमारे साथ हो। चारों ओर से यही आवाज़ आये कि यह कपटी और धूर्त था और सरकार ने उसके साथ वही व्यवहार किया है, जो होना चाहिये। मुझे विश्वास है कि वह षड्-यंत्रकारियों का मुखिया है और मैं इसे सिद्ध कर देना चाहती हूँ। मैं उसे जनता की दृष्टि में देवता नहीं बनाना चाहती, उसको राक्षस के रूप में दिखाना चाहती हूँ।'

'यह काम इतना आसान नहीं है, जितना तुमने समझ रखा है। आपटे राजनीति में बड़ा चतुर है।'

'ऐसा कोई पुरुष नहीं है, जिस पर युवती अपनी मोहिनी न डाल सके।'

'अगर तुम्हें विश्वास है कि तुम यह काम पूरा कर दिखाओगी, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है, मैं तो केवल उसे दण्ड देना चाहता हूँ।'

'तो हुक्म दे दीजिये कि वह इसी वक्त छोड़ दिया जाय।'

'जनता कहीं यह तो न समझेगी कि सरकार डर गई?'

'नहीं, मेरे ख़याल में तो जनता पर इस व्यवहार का बहुत अच्छा असर पड़ेगा। लोग समझेंगे कि सरकार ने जन-मत का सम्मान किया है।'

'लेकिन तुम्हें उसके घर जाते लोग देखेंगे तो मन में क्या कहेंगे?'

'नक़ाब डालकर जाऊँगी, किसी को कानोकान ख़बर न होगी।'

'मुझे तो अब भी भय है कि वह तुम्हें संदेह की दृष्टि से देखेगा और तुम्हारे पंजे में न आयेगा; लेकिन तुम्हारी इच्छा है तो आज़मा देखो।'

यह कहकर मिस्टर जौहरी ने मिस जोशी को प्रेममय नेत्रों से देखा, हाथ मिलाया और चले गये।

आकाश पर तारे निकले हुए थे; चैत की शीतल, सुखद वायु चल रही थी; सामने के चौड़े मैदान में सन्नाटा छाया हुआ था, लेकिन मिस जोशी को ऐसा मालूम हुआ मानो आपटे मञ्च पर खड़ा बोल रहा

है। उसका शान्त, सौम्य, विषादमय स्वरूप उसकी आँखों में समाया हुआ था।

(५)

प्रातःकाल मिस जोशी अपने भवन से निकली, लेकिन उसके वस्त्र बहुत साधारण थे और आभूषण के नाम शरीर पर एक धागा भी न था। अलंकार-विहीन होकर उसकी छवि स्वच्छ, निर्मल जल की भाँति और भी निखर गई थी। उसने सड़क पर आकर एक ताँगा लिया और चली।

आपटे का मकान ग़रीबों के एक दूर के मुहल्ले में था। ताँगेवाला मकान का पता जानता था। कोई दिक्क़त न हुई। मिस जोशी जब मकान के द्वार पर पहुँची, तो न-जाने क्यों उसका दिल धड़क रहा था। उसने काँपते हुए हाथों से कुण्डी खटखटाई। एक अधेड़ औरत ने निकलकर द्वार खोल दिया। मिस जोशी उस घर की सादगी देखकर दंग रह गई। एक किनारे चारपाई पड़ी हुई थी, एक टूटी आलमारी में कुछ कितावें चुनी हुई थीं, फ़र्श पर लिखने का डेस्क था और एक रस्सी की अलगनी पर कपड़े लटक रहे थे। कमरे के दूसरे हिस्से में एक लोहे का चूल्हा था और खाने के बरतन पड़े हुए थे। एक लम्बा-तड़ंगा आदमी, जो उसी अधेड़ औरत का पति था, बैठा एक टूटे हुए ताले की मरम्मत कर रहा था और एक पाँच-छः वर्ष का तेजस्वी बालक आपटे की पीठ पर चढ़ने के लिए उनके गले में हाथ डाल रहा था। आपटे इसी लोहार के साथ उसी के घर में रहते थे। समाचारपत्रों में लेख लिखकर जो कुछ मिलता, उसे दे देते और इस भाँति गृह-प्रबन्ध की चिन्ताओं से छुट्टी पाकर जीवन व्यतीत करते थे।

मिस जोशी को देखकर आपटे ज़रा चौंके, फिर खड़े होकर उनका स्वागत किया और सोचने लगे कि कहाँ बैठाऊँ। अपनी दरिद्रता पर आज उन्हें जितनी लज्जा आई, उतनी और कभी न आई थी। मिस जोशी उनका असमंजस देखकर चारपाई पर बैठ गई और ज़रा रुखाई से बोली—मैं बिना बुलाये आपके यहाँ आने के लिए क्षमा माँगती हूँ;

किन्तु काम ऐसा ज़रूरी था कि मेरे आये बिना पूरा न हो सकता। क्या मैं एक मिनट के लिए आपसे एकान्त में मिल सकती हूँ ?

आपटे ने जगन्नाथ की ओर देखकर कमरे से बाहर चले जाने का इशारा किया। उसकी स्त्री भी बाहर चली गई। केवल बालक रह गया। वह मिस जोशी की ओर बार-बार उत्सुक आँखों से देखता था मानो पूछ रहा हो कि तुम आपटे दादा की कौन हो ?

मिस जोशी ने चारपाई से उतरकर ज़मीन पर बैठते हुए कहा—आप कुछ अनुमान कर सकते हैं कि मैं इस वक्त क्यों आई हूँ ?

आपटे ने झेंपते हुए कहा—आपकी कृपा के सिवा और क्या कारण हो सकता है।

मिस जोशी—नहीं, संसार अभी इतना उदार नहीं हुआ है कि आप जिसे गालियाँ दें, वह आपको धन्यवाद दे। आपको याद है, कल आपने अपने व्याख्यान में मुझ पर क्या-क्या आक्षेप किये थे। मैं आपसे ज़ोर देकर कहती हूँ कि वे आक्षेप करके आपने मुझ पर घोर अत्याचार किया है। आप जैसे सहृदय, शीलवान्, विद्वान् आदमी से मुझे ऐसी आशा न थी। मैं अबला हूँ, मेरी रक्षा करनेवाला कोई नहीं है। क्या आपको उचित था कि एक अबला पर मिथ्यारोपण करें। अगर मैं पुरुष होती तो आपसे duel खेलने का आग्रह करती। अबला हूँ, इसलिए आपकी सज्जनता को स्पर्श करना ही मेरे हाथ में है। आपने मुझ पर जो लांछन लगाये हैं, वे सर्वथा निर्मूल हैं।

आपटे ने दृढ़ता से कहा—अनुमान तो बाहरी प्रमाणों से ही किया जाता है।

मिस जोशी—बाहरी प्रमाणों से आप किसी के अन्तस्तल की बात नहीं जान सकते।

आपटे—जिसका भीतर-बाहर एक न हो, उसे देखकर भ्रम में पड़ जाना स्वाभाविक है।

मिस जोशी—हाँ, तो यह आपका भ्रम है और मैं चाहती हूँ कि आप उस कलंक को मिटा दें, जो आपने मुझ पर लगाया है। आप

इसके लिए प्रायश्चित्त करेंगे ?

आपटे—अगर न करूँ तो मुझसे बड़ा दुरात्मा संसार में न होगा।

मिस जोशी—आप मुझ पर विश्वास करते हैं ?

आपटे—मैंने आज तक किसी रमणी पर अविश्वास नहीं किया।

मिस जोशी—क्या आपको यह सन्देह हो रहा है कि मैं आपके साथ कौशल कर रही हूँ ?

आपटे ने मिस जोशी की ओर अपने सदय, सजल, सरस नेत्रों से देखकर कहा—बाईजी, मैं गँवार और अशिष्ट प्राणी हूँ, लेकिन नारी-जाति के लिए मेरे हृदय में जो आदर है, वह उस श्रद्धा से कम नहीं है, जो मुझे देवताओं पर है। मैंने अपनी माता का मुख नहीं देखा, यह भी नहीं जानता कि मेरा पिता कौन था ; किन्तु जिस देवी के दया-वृत्त की छाया में मेरा पालन-पोषण हुआ, उसकी प्रेम-मूर्ति आज तक मेरी आँखों के सामने है और नारी-जाति के प्रति मेरी भक्ति को सजीव रखे हुए है। मैं उन शब्दों को मुँह से निकालने के लिए अत्यन्त दुःखी और लज्जित हूँ, जो आवेश में निकल गये, और मैं आज ही समाचारपत्रों में खेद प्रकट करके आपसे क्षमा की प्रार्थना करूँगा।

मिस जोशी को अब तक अधिकांश स्वार्थी आदमियों ही से साबिक़ा पड़ा था, जिनके चिकने-चुपड़े शब्दों में मतलब छिपा होता था। आपटे के सरल विश्वास पर उसका चित्त आनन्द से गद्‌गद हो गया। शायद वह गंगा में खड़ी होकर अपने अन्य मित्रों से यह बात कहती, तो उसके फ़ैशनेबुल मिलनेवालों में से किसी को उस पर विश्वास न आता। सब मुँह के सामने तो हाँ हाँ करते, पर द्वार के बाहर निकलते ही उसका मज़ाक उड़ाना शुरू करते। उन कपटी मित्रों के सम्मुख यह आदमी था, जिसके एक-एक शब्द में सचाई झलक रही थी, जिसके शब्द उसके अन्तस्तल से निकलते हुए मालूम होते थे।

आपटे उसे चुप देखकर किसी और ही चिन्ता में पड़े हुए थे। उन्हें भय हो रहा था कि अब मैं चाहे कितनी क्षमा माँगूँ, मिस जोशी के सामने कितनी सफ़ाइयाँ पेश करूँ, मेरे आक्षेपों का असर कभी न मिटेगा।

इस भाव ने अज्ञात-रूप से उन्हें अपने विषय की वह गुप्त बातें कहने की प्रेरणा की जो उन्हें उसकी दृष्टि में लघु बना दें, जिससे वह भी उन्हें नीच समझने लगे, उसको संतोष हो जाय कि यह भी कलुषित आत्मा है। बोले—मैं जन्म से अभागा हूँ। माता-पिता का तो मुँह ही देखना नसीब न हुआ, जिस दयाशीला महिला ने मुझे आश्रय दिया था, वह भी मुझे १३ वर्ष की अवस्था में अनाथ छोड़कर परलोक सिधार गई, उस समय मेरे सिर पर जो कुछ बीती उसे याद करके इतनी लज्जा आती है कि किसी को मुँह न दिखाऊँ। मैंने धोबी का काम किया, मोची का काम किया; घोड़े की साईसी की, एक होटल में बरतन माँजता रहा; यहाँ तक कि कितनी ही बार क्षुधा से व्याकुल होकर भीख भी माँगी। मज़दूरी करने को तो मैं बुरा नहीं समझता, आज भी मज़दूरी ही करता हूँ। भीख माँगन भी किसी-किसी दशा में क्षम्य है, लेकिन मैंने उस अवस्था में ऐसे-ऐसे कर्म किये, जिन्हें कहते लज्जा आती है—चोरी की, विश्वासघात किया, यहाँ तक कि चोरी के अपराध में क़ैद की सज़ा भी पाई।

मिस जोशी ने सजल-नयन होकर कहा—आप यह सब बातें मुझसे क्यों कह रहे हैं? मैं इनका उल्लेख करके आपको कितना बदनाम कर सकती हूँ, इसका आपको भय नहीं है?

आपटे ने हँसकर कहा—नहीं, आपसे मुझे यह भय नहीं है।

मिस जोशी—अगर मैं आपसे बदला लेना चाहूँ तो?

आपटे—जब मैं अपने अपराध पर लज्जित होकर आपसे क्षमा माँग रहा हूँ, तो मेरा अपराध रहा ही कहाँ, जिसका आप मुझसे बदला लेंगी। इससे तो मुझे भय होता है कि आपने मुझे क्षमा नहीं किया। लेकिन, यदि मैंने आपसे क्षमा न माँगी होती, तो भी आप मुझसे बदला न ले सकतीं। बदला लेनेवालों की आँखें यों सजल नहीं हो जाया करतीं। मैं आपको कपट करने के अयोग्य समझता हूँ। आप यदि कपट करना चाहतीं तो यहाँ कभी न आतीं।

मिस जोशी—मैं आपका भेद लेने ही के लिए आई हूँ।

आपटे—तो शौक से लीजिये। मैं बतला चुका हूँ कि मैंने चोरी के अपराध में क़ैद की सज़ा पाई थी। नासिक के जेल में रखा गया था। मेरा शरीर दुर्बल था, जेल की कड़ी मेहनत न हो सकती थी और अधिकारी लोग मुझे काम-चोर समझकर बेतों से मारते थे। आखिर एक दिन मैं रात को जेल से भाग खड़ा हुआ।

मिस जोशी—आप तो छिपे रुस्तम निकले !

आपटे—ऐसा भागा कि किसी को ख़बर न हुई। आज तक मेरे नाम वारंट जारी है और ५००) इनाम भी है।

मिस जोशी—तब तो मैं आपको ज़रूर ही पकड़ा दूँगी।

आपटे—तो फिर मैं आपको अपना असल नाम भी बतलाये देता हूँ। मेरा नाम दामोदर मोदी है। यह नाम तो पुलिस से बचने के लिए रख छोड़ा है।

बालक अब तक तो चुपचाप बैठा हुआ था। मिस जोशी के मुँह से पकड़ाने की बात सुनकर वह सजग हो गया। उन्हें डाटकर बोला—हमाले दादा को कौन पकलेगा ?

मिस जोशी--सिपाही, और कौन ?

बालक—हम सिपाही को मालेंगे।

यह कहकर वह एक कोने से अपने खेलने का डंडा उठा लाया और आपटे के पास वीरोचित भाव से खड़ा हो गया मानो सिपाहियों से उनकी रक्षा कर रहा है।

मिस जोशी—आपका रक्षक तो बड़ा बहादुर मालूम होता है।

आपटे—इसकी भी एक कथा है। साल भर होता है, यह लड़का खो गया था। मुझे रास्ते में मिला। मैं पूछता-पूछता इसे यहाँ लाया। उसी दिन से इन लोगों से मेरा इतना प्रेम हो गया कि इनके साथ रहने लगा।

मिस जोशी—आप कुछ अनुमान कर सकते हैं कि आपका वृत्तान्त सुनकर मैं आपको क्या समझ रही हूँ ?

आपटे—वही, जो मैं वास्तव में हूँ—नीच, कमीना, धूर्त...

मिस जोशी—नहीं, आप मुझ पर फिर अन्याय कर रहे हैं। पहला अन्याय तो क्षमा कर सकती हूँ, यह अन्याय क्षमा नहीं कर सकती। इतनी प्रतिकूल दशाओं में पड़कर भी जिसका हृदय इतना पवित्र, इतना निष्कपट, इतना सदय हो, वह आदमी नहीं, देवता है। भगवन्, आपने मुझ पर जो आक्षेप किये वह सत्य हैं। मैं आपके अनुमान से कहीं भ्रष्ट हूँ। मैं इस योग्य भी नहीं हूँ कि आपकी ओर ताक सकूँ। आपने अपने हृदय की विशालता दिखाकर मेरा असली स्वरूप मेरे सामने प्रकट कर दिया। मुझे क्षमा कीजिये, मुझ पर दया कीजिये।

यह कहते-कहते वह उनके पैरों पर गिर पड़ी। आपटे ने उसे उठा लिया और बोले—मिस जोशी, ईश्वर के लिए मुझे लज्जित न करो।

मिस जोशी ने गद्गद कण्ठ से कहा—आप इन दुष्टों के हाथ से मेरा उद्धार कीजिये, मुझे इस योग्य बनाइये कि आपकी विश्वास-पात्री बन सकूँ। ईश्वर साक्षी है कि मुझे कभी-कभी अपनी दशा पर कितना दुःख होता है। मैं बार-बार चेष्टा करती हूँ कि अपनी दशा सुधारूँ; इस विलासिता के जाल को तोड़ दूँ, जो मेरी आत्मा को चारों तरफ़ से जकड़े हुए है; पर दुर्बल आत्मा अपने निश्चय पर स्थिर नहीं रहती। मेरा पालन-पोषण जिस ढंग से हुआ, उसका यह परिणाम होना स्वाभाविक-सा मालूम होता है। मेरी उच्च शिक्षा ने गृहिणी-जीवन से मेरे मन में घृणा पैदा कर दी। मुझे किसी पुरुष के अधीन रहने का विचार अस्वाभाविक जान पड़ता था। मैं गृहिणी की ज़िम्मेदारियों और चिंताओं को अपनी मानसिक स्वाधीनता के लिए विष-तुल्य समझती थी। मैं तर्क-बुद्धि से अपने स्त्रीत्व को मिटा देना चाहती थी, मैं पुरुषों की भाँति स्वतंत्र रहना चाहती थी। क्यों किसी की पाबन्द होकर रहूँ? क्यों अपनी इच्छाओं को किसी व्यक्ति के साँचे में ढालूँ? क्यों किसी को यह कहने का अधिकार दूँ कि तुमने यह क्यों किया, वह क्यों किया? दाम्पत्य मेरी निगाह में तुच्छ वस्तु थी। अपने माता-पिता पर आलोचना करनी मेरे लिए उचित नहीं, ईश्वर उन्हें सद्गति दे, उनकी राय किसी बात पर न मिलती थी। पिता विद्वान् थे, माता के

लिए 'काला अक्षर भैंस बराबर' था। उनमें रात-दिन वाद-विवाद होता रहता था। पिताजी ऐसी स्त्री से विवाह हो जाना अपने जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य समझते थे। वह यह कहते कभी न थकते थे कि तुम मेरे पाँव की बेड़ी बन गई, नहीं तो मैं न-जाने कहाँ उड़कर पहुँचा होता। उनके विचार में सारा दोष माताजी की अशिक्षा के सिर था। वह अपनी एकमात्र पुत्री को मूर्खा माता के संसर्ग से दूर रखना चाहते थे। माता कभी मुझे कुछ कहतीं, तो पिताजी उन पर टूट पड़ते—तुमसे कितनी बार कह चुका कि लड़की को डाटो मत, वह स्वयं अपना भला-बुरा सोच सकती है, तुम्हारे डाटने से उसके आत्म-सम्मान को कितना धक्का लगेगा, यह तुम नहीं जान सकतीं। आखिर माताजी ने निराश होकर मुझे मेरे हाल पर छोड़ दिया और कदाचित् इसी शोक में चल बसीं। अपने घर की अशान्ति देखकर मुझे विवाह से और भी घृणा हो गई। सबसे बड़ा असर मुझ पर मेरे कॉलेज की लेडी प्रिंसिपल का हुआ, जो स्वयं अविवाहिता थीं। मेरा तो अब यह विचार है कि युवकों की शिक्षा का भार केवल आदर्श चरित्रों पर रखना चाहिये। विलास में रत, शौक़ीन कॉलेजों के प्रोफेसर, विद्यार्थियों पर कोई अच्छा असर नहीं डाल सकते। मैं इस वक्त ऐसी बातें आपसे कह रही हूँ, पर अभी घर जाकर यह सब भूल जाऊँगी। मैं जिस संसार में हूँ, उसका जलवायु ही दूषित है। वहाँ सभी मुझे कीचड़ में लथपथ देखना चाहते हैं, मेरे विलासासक्त रहने में ही उनका स्वार्थ है। आप व पहले आदमी हैं जिसने मुझ पर विश्वास किया है, जिसने मुझसे निष्कपट व्यवहार किया है। ईश्वर के लिए अब मुझे भूल न जाइयेगा।

आपटे ने मिस जोशी की ओर वेदनापूर्ण दृष्टि से देखकर कहा—अगर मैं आपकी कुछ सेवा कर सकूँ तो यह मेरे लिए सौभाग्य की बात होगी। मिस जोशी! हम सब मिट्टी के पुतले हैं, कोई निर्दोष नहीं। मनुष्य बिगड़ता है या तो परिस्थितियों से, या पूर्व-संस्कारों से। परिस्थितियों से गिरनेवाला मनुष्य उन परिस्थितियों का त्याग करने ही से

बच सकता है, संस्कारों से गिरनेवाले मनुष्य का मार्ग इससे कहीं कठिन है। आपकी आत्मा सुन्दर और पवित्र है, केवल परिस्थितियों ने उसे कुहरे की भाँति ढक लिया है। अब विवेक का सूर्य उदय हो गया है, ईश्वर ने चाहा तो कुहरा भी फट जायगा। लेकिन सबसे पहले उन परिस्थितियों को त्याग करने को तैयार हो जाइये।

मिस जोशी—यही आपको करना होगा।

आपटे ने चुभती हुई निगाहों से देखकर कहा—वैद्य रोगी को ज़बरदस्ती दवा पिलाता है।

मिस जोशी—मैं सब कुछ करूँगी। मैं कड़वी से कड़वी दवा पिऊँगी, यदि आप पिलायेंगे। कल आप मेरे घर आने की कृपा करेंगे, शाम को?

आपटे—अवश्य आऊँगा।

मिस जोशी ने विदा होते हुए कहा—भूलियेगा नहीं, मैं आपकी राह देखती रहूँगी। अपने रक्षक को भी लाइयेगा।

यह कहकर उसने बालक को गोद में उठाया और उसे गले से लगाकर बाहर निकल आई।

गर्व के मारे उसके पाँव ज़मीन पर न पड़ते थे। मालूम होता था, हवा में उड़ी जा रही है। प्यास से तड़पते हुए मनुष्य को नदी का तट नज़र आने लगा था।

(६)

दूसरे दिन प्रातःकाल मिस जोशी ने मेहमानों के नाम दावती कार्ड भेजे और उत्सव मनाने की तैयारियाँ करने लगी। मिस्टर आपटे के सम्मान में पार्टी दी जा रही थी। मिस्टर जौहरी ने कार्ड देखा तो मुसकराये। अब महाशय इस जाल से बचकर कहाँ जायँगे? मिस जोशी ने उन्हें फँसाने की यह अच्छी तरकीब निकाली। इस काम में निपुण मालूम होती है। मैंने समझा था, आपटे चालाक आदमी होगा, मगर इन आन्दोलनकारी विद्रोहियों को बकवास करने के सिवा और क्या सूझ सकता है।

चार ही बजे से मेहमान लोग आने लगे। नगर के बड़े-बड़े अधिकारी, बड़े-बड़े व्यापारी, बड़े-बड़े विद्वान्, प्रधान समाचार-पत्रों के सम्पादक, अपनी अपनी महिलाओं के साथ आने लगे। मिस जोशी ने आज अपने अच्छे-से-अच्छे वस्त्र और आभूषण निकाले थे; जिधर निकल जाती थी, मालूम होता था, अरुण प्रकाश की छटा चली आ रही है। भवन में चारों तरफ़ से सुगन्ध की लपटें आ रही थीं और मधुर संगीत की ध्वनि हवा में गूँज रही थी।

पाँच बजते-बजते मिस्टर जौहरी आ पहुँचे और मिस जोशी से हाथ मिलाते हुए मुसकराकर बोले—जी चाहता है, तुम्हारे हाथ चूम लूँ। अब मुझे विश्वास हो गया कि यह महाशय तुम्हारे पंजे से नहीं निकल सकते।

मिसेज़ पेटिट बोलीं—मिस जोशी दिलों का शिकार करने ही के लिए बनाई गई हैं।

मिस्टर सोराबजी—मैंने सुना है, आपटे बिलकुल गवाँर-सा आदमी है।

मिस्टर भरूचा—किसी युनिवर्सिटी में शिक्षा ही नहीं पाई, सभ्यता कहाँ से आती।

मिसेज़ भरूचा—आज उसे खूब बनाना चाहिये।

महन्त वीरभद्र डाढ़ी के भीतर से बोले—मैंने सुना है, नास्तिक है, वर्णाश्रम-धर्म का पालन नहीं करता।

मिस जोशी—नास्तिक तो मैं भी हूँ। ईश्वर पर मेरा भी विश्वास नहीं है।

महन्त—आप नास्तिक हों, पर आप कितने ही नास्तिकों को आस्तिक बना देती हैं।

मिस्टर जौहरी—आपने लाख रुपए की बात कही महन्तजी!

मिसेज़ भरूचा—क्यों महन्तजी, आपको मिस जोशी ही ने आस्तिक बनाया है क्या?

सहसा आपटे लोहार के बालक की उँगली पकड़े हुए भवन में

दाख़िल हुए। वह पूरे फैशनेबुल रईस बने हुए थे। बालक भी किसी रईस का लड़का मालूम होता था। आज आपटे को देखकर लोगों को विदित हुआ कि वह कितना सुन्दर, सजीला आदमी है। मुख से शौर्य टपक रहा था, पोर-पोर से शिष्टता झलकती थी, मालूम होता था वह इसी समाज में बचपन से पला है। लोग देख रहे थे कि वह कहीं चूके और तालियाँ बजायें, कहीं फिसले और क़हक़हे लगायें, पर आपटे मँजे हुए खेलाड़ी की भाँति जो क़दम उठाता था वह सधा हुआ, जो हाथ दिखलाता था वह जमा हुआ। लोग उसे पहले तुच्छ समझते थे, अब उससे ईर्ष्या करने लगे, उस पर फबतियाँ उड़ानी शुरू कीं। लेकिन आपटे इस कला में भी एक ही निकला। बात मुँह से निकली और उसने जवाब दिया, पर उसके जवाब में मालिन्य या कटुता का लेश भी न होता था। उसका एक-एक शब्द सरल, स्वच्छ, चित्त को प्रसन्न करनेवाले भावों में डूबा होता था। मिस जोशी उसकी वाक्य-चातुरी पर फूल उठती थी।

सोराबजी—आपने किस युनिवर्सिटी में शिक्षा पाई थी?

आपटे—युनिवर्सिटी में शिक्षा पाई होती, तो आज मैं भी शिक्षा-विभाग का अध्यक्ष न होता।

मिसेज़ भरूचा—मैं तो आपको भयङ्कर जन्तु समझती थी।

आपटे ने मुसकराकर कहा—आपने मुझे महिलाओं के सामने न देखा होगा।

सहसा मिस जोशी अपने सोने के कमरे में गई और अपने सारे वस्त्राभूषण उतार फेंके। उसके मुख से शुभ्र-संकल्प का तेज निकल रहा था। नेत्रों में दैवी ज्योति प्रस्फुटित हो रही थी, मानो किसी देवता ने उसे वरदान दिया हो। उसने सजे हुए कमरे को घृणा के नेत्रों से देखा, अपने आभूषणों को पैरों से ठुकरा दिया, और एक मोटी साफ़ साड़ी पहनकर बाहर निकली। आज प्रातःकाल ही उसने यह साड़ी मँगा ली थी।

उसे इस नये वेष में देखकर सब लोग चकित हो गये। यह काया-

पलट कैसी ? सहसा किसी की आँखों को विश्वास न आया। किन्तु मिस्टर जौहरी बग़लें बजाने लगे। मिस जोशी ने इसे फँसाने के लिए यह कोई नया स्वाँग रचा है।

मिस जोशी मेहमानों के सामने आकर बोलीं—

मित्रो ! आपको याद है, परसों महाशय आपटे ने मुझे कितनी गालियाँ दी थीं। यह महाशय खड़े हैं। आज मैं इन्हें उस दुर्व्यवहार का दण्ड देना चाहती हूँ। मैं कल इनके मकान पर जाकर इनके जीवन के सारे गुप्त रहस्यों को जान आई। यह जो जनता की भीड़ में गरजते फिरते हैं, मेरे एक ही निशान से गिर पड़े। मैं उन रहस्यों को खोलने में अब विलम्ब न करूँगी, आप लोग अधीर हो रहे होंगे। मैंने जो कुछ देखा, वह इतना भयंकर है कि उसका वृत्तान्त सुनकर शायद आप लोगों को मूर्छा आ जायगी। अब मुझे लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि यह महाशय पक्के विद्रोही हैं ..

मिस्टर जौहरी ने ताली बजाई और तालियों से हाल गूँज उठा।

मिस जोशी—लेकिन राज के द्रोही नहीं, अन्याय के द्रोही, दमन के द्रोही, अभिमान के द्रोही...

चारों ओर सन्नाटा छा गया। लोग विस्मित होकर एक दूसरे की ओर ताकने लगे।

मिस जोशी—महाशय आपटे ने गुप्त रूप से शस्त्र जमा किये हैं, और गुप्त रूप से हत्याएँ की हैं...

मिस्टर जौहरी ने तालियाँ बजाई और तालियों का दौंगड़ा फिर बरस गया।

मिस जोशी—लेकिन किसकी हत्या ? दुःख की, दरिद्रता की, प्रजा के कष्टों की, हठधर्मी की और अपने स्वार्थ की !

चारों ओर फिर सन्नाटा छा गया और लोग चकित हो-होकर एक-दूसरे की ओर ताकने लगे, मानो उन्हें अपने कानों पर विश्वास नहीं है।

मिस जोशी—महाशय आपटे ने गुप्त रूप से डकैतियाँ की हैं और कर रहे हैं—

अबकी किसी ने ताली न बजाई, लोग सुनना चाहते थे कि देखें आगे क्या कहती है।

उन्होंने मुझ पर भी हाथ साफ़ किया है, मेरा सब कुछ अपहरण कर लिया है, यहाँ तक कि अब मैं निराधार हूँ और उनके चरणों के सिवा मेरे लिए और कोई आश्रय नहीं है। प्राणाधार! इस अबला को अपने चरणों में स्थान दो, उसे डूबने से बचाओ। मैं जानती हूँ, तुम मुझे निराश न करोगे।

यह कहते-कहते वह जाकर आपटे के चरणों पर गिर पड़ी। सारी मंडली स्तंभित रह गई!

(७)

एक सप्ताह गुज़र चुका था। आपटे पुलीस की हिरासत में थे। उन पर अभियोग चलाने की तैयारियाँ हो रही थीं। सारे प्रान्त में हलचल मची हुई थी। नगर में रोज़ सभाएँ होती थीं, पुलीस रोज़ दस-पाँच आदमियों को पकड़ती थी। समाचार-पत्रों में ज़ोरों के साथ वाद-विवाद हो रहा था।

रात के नौ बज गये थे। मिस्टर जौहरी राज-भवन में मेज़ पर बैठे हुए सोच रहे थे कि मिस जोशी को क्योंकर वापस लाऊँ? उसी दिन से उनकी छाती पर साँप लोटता रहा था। उसकी सूरत एक क्षण के लिए आँखों से न उतरती थी।

वह सोच रहे थे, इसने मेरे साथ ऐसी दग़ा की! मैंने इसके लिए क्या कुछ न किया। इसकी कौन-सी इच्छा थी, जो मैंने पूरी नहीं की, और इसी ने मुझसे बेवफ़ाई की! नहीं, कभी नहीं, मैं इसके बग़ैर ज़िन्दा नहीं रह सकता। दुनिया चाहे मुझे बदनाम करे, हत्यारा कहे, चाहे मुझे पद से हाथ धोना पड़े, लेकिन आपटे को न छोड़ूँगा। इस रोड़े को रास्ते से हटा दूँगा, इस काँटे को पहलू से निकाल बाहर करूँगा।

सहसा कमरे का द्वार खुला और मिस जोशी ने प्रवेश किया। मिस्टर जौहरी हकबकाकर कुरसी पर से उठ खड़े हुए और यह सोचकर कि शायद मिस जोशी उधर से निराश होकर मेरे पास आई हैं, कुछ

रूखे, लेकिन नम्र भाव से बोले—आओ बाला, तुम्हारी ही याद में बैठा था। तुम कितनी ही बेवफ़ाई करो, पर तुम्हारी याद मेरे दिल से नहीं निकल सकती।

मिस जोशी—आप केवल ज़बान से कहते हैं।

मिस्टर जौहरी—क्या दिल चीरकर दिखा दूँ?

मिस जोशी—प्रेम प्रतिकार नहीं करता, प्रेम से दुराग्रह नहीं होता। आप मेरे ख़ून के प्यासे हो रहे हैं, उस पर भी आप कहते हैं, मैं तुम्हारी याद करता हूँ। आपने मेरे स्वामी को हिरासत में डाल रखा है, यह प्रेम है! आ[illegible] इसे क्या चाहते हैं? अगर आप समझ रहे हों कि इन सख़्तियों से डरकर मैं आपकी शरण आ जाऊँगी, तो आपका भ्रम है। आपको अख़्तियार है कि आपटे को काले पानी भेज दें, फाँसी पर चढ़ा दें, लेकिन इसका मुझ पर कोई असर न होगा। वह मेरे स्वामी हैं, मैं उनको अपना स्वामी समझती हूँ। उन्होंने अपनी विशाल उदारता से मेरा उद्धार किया। आप मुझे विषय के फन्दों में फँसाते थे, मेरी आत्मा को कलुषित करते थे। कभी आपको यह ख़याल आया कि इसकी आत्मा पर क्या बीत रही होगी? आप मुझे आत्म-शून्य समझते थे। इस देव-पुरुष ने अपनी निर्मल, स्वच्छ आत्मा के आकर्षण से मुझे पहली ही मुलाक़ात में खींच लिया। मैं उसकी हो गई और मरते दम तक उसी की रहूँगी। उस मार्ग से अब आप मुझे नहीं हटा सकते। मुझे एक सच्ची आत्मा की ज़रूरत थी। वह मुझे मिल गई। उसे पाकर अब तीनों लोक की सम्पदा मेरी आँखों में तुच्छ है। मैं उनके वियोग में चाहे प्राण दे दूँ, पर आपके काम नहीं आ सकती!

मिस्टर जौहरी—मिस जोशी! प्रेम उदार नहीं होता, क्षमाशील नहीं होता। मेरे लिए तुम सर्वस्व हो जब तक मैं समझता हूँ कि तुम मेरी हो। अगर तुम मेरी नहीं हो सकतीं तो मुझे इसकी क्या चिन्ता हो सकती है कि तुम किस दशा में हो?

मिस जोशी—यह आपका अन्तिम निश्चय है?

मिस्टर जौहरी—अगर मैं कह दूँ कि हाँ तो?

मिस जोशी ने सीने से पिस्तौल निकालकर कहा—तो पहले आपकी लाश ज़मीन पर फड़कती होगी और आपके बाद मेरी। बोलिये, यह आपका अन्तिम निश्चय है?

यह कहकर मिस जोशी ने जौहरी की तरफ़ पिस्तौल सीधा किया। जौहरी कुरसी से उठ खड़े हुए और मुसकराकर बोले—

क्या तुम मेरे लिए कभी इतना साहस कर सकती थीं? कदापि नहीं। अब मुझे विश्वास हो गया कि मैं तुम्हें नहीं पा सकता। जाओ, तुम्हारा आपटे तुम्हें मुबारक हो। उस पर से अभियोग उठा लिया जायगा। पवित्र प्रेम ही में यह साहस है। ...ाम हो गया कि तुम्हारा प्रेम पवित्र है। अगर कोई पुराना पापी भविष्य-वाणी कर सकता है तो मैं कहता हूँ वह दिन दूर नहीं है, जब तुम इस भवन की स्वामिनी होगी। आपटे ने मुझे प्रेम के क्षेत्र में ही नहीं, राजनीति के क्षेत्र में भी परास्त कर दिया। सच्चा आदमी एक मुलाक़ात में ही जीवन को बदल सकता है, आत्मा को जगा सकता है और अज्ञान को मिटाकर प्रकाश की ज्योति फैला सकता है, यह आज सिद्ध हो गया।

नरक का मार्ग

(१)

रात 'भक्तमाल' पढ़ते-पढ़ते न-जाने कब नींद आ गई। कैसे-कैसे महात्मा थे, जिनके लिए भगवत्-प्रेम ही सब कुछ था, इसी में मग्न रहते थे। ऐसी भक्ति बड़ी तपस्या से मिलती है। क्या मैं वह तपस्या नहीं कर सकती? इस जीवन में और कौन-सा सुख रखा है? आभूषणों से जिसे प्रेम हो वह जाने, यहाँ तो इनको देखकर आँखें फूटती हैं; धन-दौलत पर जो प्राण देता हो वह जाने, यहाँ तो इसका नाम सुनकर ज्वर-सा चढ़ आता है। कल पगली सुशीला ने कितनी उमंगों से मेरा शृंगार किया था, कितने प्रेम से बालों में फूल गूँथे थे। कितना

मना करती रहो, न मानी। आखिर वही हुआ जिसका मुझे भय था। जितनी देर उसके साथ हँसी थी, उससे कहीं ज़्यादा रोई। संसार में ऐसी भी कोई स्त्री है, जिसका पति उसका शृङ्गार देखकर सिर से पाँव तक जल उठे! कौन ऐसी स्त्री है जो अपने पति के मुँह से ये शब्द सुने—तुम मेरा परलोक बिगाड़ोगी, और कुछ नहीं, तुम्हारे रंग-ढंग कहे देते हैं—और उसका दिल विष खा लेने को न चाहे। भगवान, संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं। आखिर मैं नीचे चली गई और 'भक्तमाल' पढ़ने लगी। अब वृन्दावन-बिहारी ही की सेवा करूँगी, उन्हीं को अपना शृंगार दिखाऊँगी, वह तो देखकर न जलेंगे, वह तो मेरे मन का हाल जानते हैं।

(२)

भगवान्! मैं अपने मन को कैसे समझाऊँ! तुम अन्तर्यामी हो, तुम मेरे रोम-रोम का हाल जानते हो। मैं चाहती हूँ कि उन्हें अपना इष्ट समझूँ, उनके चरणों की सेवा करूँ, उनके इशारे पर चलूँ, उन्हें मेरी किसी बात से, किसी व्यवहार से, नाममात्र भी दुःख न हो। वह निर्दोष हैं, जो कुछ मेरे भाग्य में था वह हुआ, न उनका दोष है, न माता-पिता का, सारा दोष मेरे नसीबों ही का है। लेकिन यह सब जानते हुए भी जब उन्हें आते देखती हूँ तो मेरा दिल बैठ जाता है, मुँह पर मुर्दनी-सी छा जाती है, सिर भारी हो जाता है; जी चाहता है, इनकी सूरत न देखूँ, बात तक करने को जी नहीं चाहता; कदाचित् शत्रु को भी देखकर किसी का मन इतना क्लांत न होता होगा! उनके आने के समय दिल में धड़कन-सी होने लगती है। दो-एक दिन के लिए कहीं चले जाते हैं तो दिल पर से एक बोझ-सा उठ जाता है; हँसती भी हूँ, बोलती भी हूँ, जीवन में कुछ आनन्द आने लगता है, लेकिन उनके आने का समाचार पाते ही फिर चारों ओर अन्धकार! चित्त की ऐसी दशा क्यों है, यह मैं नहीं कह सकती। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि पूर्व-जन्म में हम दोनों में वैर था, उसी वैर का बदला लेने के लिए इन्होंने मुझसे विवाह किया है, वही पुराने संस्कार हमारे मन में बने हुए

हैं। नहीं तो वह मुझे देख-देखकर क्यों जलते और मैं उनकी सूरत से क्यों घृणा करती। विवाह करने का तो यह मतलब नहीं हुआ करता! मैं अपने घर इससे कहीं सुखी थी। कदाचित् मैं जीवन पर्यन्त अपने घर आनन्द से रह सकती थी। लेकिन इस लोक-प्रथा का बुरा हो, जो अभागिनी कन्याओं को किसी न-किसी पुरुष के गले बाँध देना अनिवार्य समझता है। वह क्या जानता है कि कितनी युवतियाँ उसके नाम को रो रही हैं, कितने अभिलाषाओं से लहराते हुए, कोमल हृदय उसके पैरों तले रौंदे जा रहे हैं! युवती के लिए पति कैसी-कैसी मधुर कल्पनाओं का स्रोत होता है, पुरुष में जो उत्तम है, श्रेष्ठ है, दर्शनीय है, उसकी सजीव मूर्ति इस शब्द के ध्यान में आते ही उसकी नज़रों के सामने आकर खड़ी हो जाती है। लेकिन मेरे लिए यह शब्द क्या है? हृदय में उठनेवाला शूल, कलेजे में खटकनेवाला काँटा, आँखों में गड़नेवाली किरकिरी, अंतःकरण को बेधनेवाला व्यंग्य-बाण! सुशीला को हमेशा हँसते देखती हूँ। वह कभी अपनी दरिद्रता का गिला नहीं करती; गहने नहीं हैं, कपड़े नहीं हैं, भाड़े के नन्हे-से मकान में रहती है, अपने हाथों घर का सारा काम-काज करती है, फिर भी उसे रोते नहीं देखती। अगर अपने बस की बात होती तो आज अपने धन को उसकी दरिद्रता से बदल लेती। अपने पति-देव को मुसकराते हुए घर में आते देखकर उसका सारा दुख-दारिद्रय छू-मंतर हो जाता है, छाती गज़-भर की हो जाती है। उसके प्रेमालिंगन में वह सुख है, जिस पर तीनो लोक का धन न्योछावर कर दूँ!

(२)

आज मुझसे ज़ब्त न हो सका। मैंने पूछा—तुमने मुझसे किस लिए विवाह किया था? यह प्रश्न महीनों से मेरे मन में उठता था पर मन को रोकती चली आती थी। आज प्याला छलक पड़ा। यह प्रश्न सुनकर कुछ बौखला-से गये, बग़लें झाँकने लगे, खीसें निकालकर बोले—घर सँभालने के लिए, गृहस्थी का भार उठाने के लिए, और नहीं क्या भोग-विलास के लिए? घरनी के बिना यह घर आपको भूत

का डेरा सा मालूम होता था। नौकर-चाकर घर की सम्पत्ति उड़ाये देते थे। जो चीज़ जहाँ पड़ी रहती थी, वहीं पड़ी रहती थी, कोई उसको देखनेवाला न था। तो अब मालूम हुआ कि मैं इस घर की चौकसी करने के लिए लाई गई हूँ। मुझे इस घर की रक्षा करनी चाहिये और अपने को धन्य भाग्य समझना चाहिये कि यह सारी सम्पत्ति मेरी है। मुख्य वस्तु संपत्ति है, मैं तो केवल चौकीदारिन हूँ। ऐसे घर में आज ही आग लग जाय! अब तक तो मैं अनजान में घर की चौकसी करती थी, जितना वह चाहते हैं उतना न सही, पर अपनी बुद्धि के अनुसार अवश्य करती थी। आज से किसी चीज़ को भूलकर भी छूने की क़सम खाती हूँ। यह मैं जानती हूँ कि कोई पुरुष घर की चौकसी के लिए विवाह नहीं करता और इन महाशय ने चिढ़कर यह बात मुझसे कही। लेकिन सुशीला ठीक कहती है, इन्हें स्त्री के बिना घर सूना लगता होगा, उसी तरह जैसे पिंजरे में चिड़िया को न देखकर पिंजरा सूना लगता है। यह है हम स्त्रियों का भाग्य!

(४)

मालूम नहीं, इन्हें मुझ पर इतना सन्देह क्यों होता है। जब से नसीब इस घर में लाया है, इन्हें बराबर सन्देहमूलक कटाक्ष करते देखती हूँ। क्या कारण है? ज़रा बाल गुँथवाकर बैठी और यह ओठ चबाने लगे। कहीं जाती नहीं, कहीं आती नहीं, किसी से बोलती नहीं, फिर भी इतना सन्देह! यह अपमान असह्य है। क्या मुझे अपनी आबरू प्यारी नहीं? यह मुझे इतनी छिछोरी क्यों समझते हैं, इन्हें मुझ पर सन्देह करते लज्जा भी नहीं आती? काना आदमी किसी को हँसते देखता है तो समझता है लोग मुझी पर हँस रहे हैं। शायद इन्हें भी यही वहम हो गया है कि मैं इन्हें चिढ़ाती हूँ। अपने अधिकार के बाहर कोई काम कर बैठने से कदाचित् हमारे चित्त की यही वृत्ति हो जाती है। भिक्षुक राजा की गद्दी पर बैठकर चैन की नींद नहीं सो सकता। उसे अपने चारों तरफ़ शत्रु ही शत्रु दिखाई देंगे। मैं समझती हूँ, सभी शादी करनेवाले बुड्ढों का यही हाल है।

आज सुशीला के कहने से मैं ठाकुरजी की झाँकी देखने जा रही थी। अब यह साधारण बुद्धि का आदमी भी समझ सकता है कि फूहड़ बहू बनकर बाहर निकल अपनी हँसी उड़ाना है, लेकिन आप उसी वक्त न-जाने किधर से टपक पड़े और मेरी ओर तिरस्कार-पूर्ण नेत्रों से देखकर बोले—कहाँ की तैयारी है ?

मैंने कह दिया, ज़रा ठाकुरजी की झाँकी देखने जाती हूँ। इतना सुनते ही त्योरियाँ चढ़ाकर बोले—तुम्हारे जाने की कुछ ज़रूरत नहीं। जो स्त्री अपने पति की सेवा नहीं कर सकती, उसे देवताओं के दर्शन से पुण्य के बदले पाप होता है। मुझसे उड़ने चली हो! मैं औरतों की नस-नस पहचानता हूँ।

ऐसा क्रोध आया कि बस अब क्या कहूँ। उसी दम कपड़े बदल डाले और प्रण कर लिया कि अब कभी दर्शन करने न जाऊँगी। इस अविश्वास का भी कुछ ठिकाना है! न-जाने क्या सोचकर रुक गई। उनकी बात का जवाब तो यही था कि उसी क्षण घर से चल खड़ी होती, फिर देखती मेरा क्या कर लेते!

इन्हें मेरे उदास और विमन रहने पर आश्चर्य होता है। मुझे मन में कृतघ्न समझते हैं। अपनी समझ में इन्होंने मेरे साथ विवाह करके शायद मुझ पर बड़ा एहसान किया है। इतनी बड़ी जायदाद और इतनी विशाल संपत्ति की स्वामिनी होकर मुझे फूले न समाना चाहिये था, आठों पहर इनका यश-गान करते रहना चाहिये था। मैं यह सब कुछ न करके उलटे और मुँह लटकाये रहती हूँ। कभी-कभी मुझे बेचारे पर दया आती है। यह नहीं समझते कि नारी-जीवन में कोई ऐसी वस्तु भी है जिसे खोकर उसकी आँखों में स्वर्ग भी नरक-तुल्य हो जाता है!

(५)

तीन दिन से बीमार हैं। डॉक्टर कहते हैं, बचने की कोई आशा नहीं, निमोनिया हो गया है। पर मुझे न-जाने क्यों इसका ग़म नहीं है। मैं इतनी वज्रहृदया कभी न थी। न-जाने वह मेरी कोमलता कहाँ चली गई। किसी बीमार की सूरत देखकर मेरा हृदय करुणा से चंचल

हो जाता था, मैं किसी का रोना नहीं सुन सकती थी। वही मैं हूँ कि आज तीन दिन से उन्हें अपने बग़ल के कमरे में पड़े कराहते सुनती हूँ और एक बार भी उन्हें देखने न गई, आँख में आँसू आने का ज़िक्र ही क्या। मुझे ऐसा मालूम होता है, इनसे मेरा कोई नाता ही नहीं। मुझे चाहे कोई पिशाचिनी कहे, चाहे कुलटा, पर मुझे तो यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं है कि इनकी बीमारी से मुझे एक प्रकार का ईर्ष्यामय आनन्द आ रहा है। इन्होंने मुझे यहाँ कारावास दे रखा था—मैं इसे विवाह का पवित्र नाम नहीं देना चाहती—यह कारावास ही है। मैं इतनी उदार नहीं हूँ कि जिसने मुझे क़ैद में डाल रखा हो उसकी पूजा करूँ, जो मुझे लात से मारे उसके पैरों को चूमूँ। मुझे तो मालूम हो रहा है, ईश्वर इन्हें इस पाप का दण्ड दे रहे हैं। मैं निस्संकोच होकर कहती हूँ कि मेरा इनसे विवाह नहीं हुआ। स्त्री किसी के गले बाँध दिये जाने से ही उसकी विवाहिता नहीं हो जाती। वही संयोग विवाह का पद पा सकता है जिसमें कम-से-कम एक बार तो हृदय प्रेम से पुलकित हो जाय! सुनती हूँ, महाशय अपने कमरे में पड़े-पड़े मुझे कोसा करते हैं, अपनी बीमारी का सारा बुख़ार मुझ पर निकालते हैं, लेकिन यहाँ इसकी परवा नहीं। जिसका जी चाहे जायदाद ले, धन ले, मुझे इसकी ज़रूरत नहीं!

(६)

आज तीन महीने हुए, मैं विधवा हो गई, कम-से-कम लोग यही कहते हैं। जिसका जो जी चाहे कहे, पर मैं अपने को जो कुछ समझती हूँ वह समझती हूँ। मैंने चूड़ियाँ नहीं तोड़ीं, क्यों तोड़ूँ? माँग में सेंदुर पहले भी न डालती थी, अब भी नहीं डालती। बूढ़े बाबा का क्रिया-कर्म उनके सुपुत्र ने किया, मैं पास न फटकी। घर में मुझ पर मनमानी आलोचनाएँ होती हैं, कोई मेरे गूँथे हुए बालों को देखकर नाक सिकोड़ता है, कोई मेरे आभूषणों पर आँख मटकाता है, यहाँ इसकी चिन्ता नहीं। इन्हें चिढ़ाने को मैं भी रङ्ग-बिरङ्गी साड़ियाँ पहनती हूँ, और भी बनती-सँवरती हूँ, मुझे ज़रा भी दुःख नहीं है। मैं तो क़ैद से छूट गई।

इधर कई दिन सुशीला के घर गई। छोटा-सा मकान है, कोई सजावट न सामान, चारपाइयाँ तक नहीं, पर सुशीला कितने आनन्द से रहती है। उसका उल्लास देखकर मेरे मन में भी भाँति-भाँति की कल्पनाएँ उठने लगती हैं—उन्हें कुत्सित क्यों कहूँ, जब मेरा मन उन्हें कुत्सित नहीं समझता। इनके जीवन में कितना उत्साह है, आँखें मुस्कराती रहती हैं, ओठों पर मधुर हास्य खेलता रहता है, बातों में प्रेम का स्रोत बहता हुआ जान पड़ता है। इस आनन्द से, चाहे वह कितना ही क्षणिक हो, जीवन सफल हो जाता है, फिर उसे कोई भूल नहीं सकता, उसकी स्मृति अन्त तक के लिए काफ़ी हो जाती है, इस मिज़राब की चोट हृदय के तारों को अन्त-काल तक मधुर स्वरों से कम्पित रख सकती है !

एक दिन मैंने सुशीला से कहा—अगर तेरे पतिदेव कहीं परदेश चले जायँ तो तू रोते-रोते मर जायगी ?

सुशीला गम्भीर भाव से बोली—नहीं बहन, मरूँगी नहीं, उनकी याद मुझे सदैव प्रफुल्लित करती रहेगी, चाहे उन्हें परदेश में बरसों लग जायँ !

मैं यही प्रेम चाहती हूँ, इसी चोट के लिए मेरा मन तड़पता रहता है, मैं भी ऐसी ही स्मृति चाहती हूँ जिससे दिल के तार सदैव बजते रहें, जिसका नशा नित्य छाया रहे !

(७)

रात रोते-रोते हिचकियाँ बँध गईं। न-जाने क्यों दिल भर-भर आता था। अपना जीवन सामने एक बीहड़ मैदान की भाँति फैला हुआ मालूम होता था, जहाँ बगूलों के सिवा हरियाली का नाम नहीं ! घर फाड़े खाता था, चित्त ऐसा चंचल हो रहा था कि कहीं उड़ जाऊँ। आज-कल भक्ति के ग्रन्थों की ओर ताकने का जी नहीं चाहता, कहीं सैर करने जाने की भी इच्छा नहीं होती, क्या चाहती हूँ, यह मैं स्वयं नहीं जानती। लेकिन मैं जो नहीं जानती वह मेरा एक-एक रोम जानता है, मैं अपनी भावनाओं की सजीव मूर्ति हूँ, मेरा एक-एक अंग मेरी आंतरिक वेदना का आर्तनाद हो रहा है !

(८)

मेरे चित्त की चञ्चलता उस अन्तिम दशा को पहुँच गई है, जब मनुष्य को निन्दा की न लज्जा रहती और न भय। जिन लोभी, स्वार्थी माता-पिता ने मुझे कुएँ में ढकेला, जिस पाषाण हृदय प्राणी ने मेरी माँग में सेंदुर डालने का स्वाँग किया, उनके प्रति मेरे मन में बार-बार दुष्कामनाएँ उठती हैं, मैं उन्हें लज्जित करना चाहती हूँ। मैं अपने मुँह में कालिख लगाकर उनके मुख में कालिख लगाना चाहती हूँ। मैं अपने प्राण देकर उन्हें प्राण-दण्ड दिलाना चाहती हूँ। मेरा नारीत्व लुप्त हो गया है, मेरे हृदय में प्रचण्ड ज्वाला उठी हुई है।

घर के सारे आदमी सो रहे थे। मैं चुपके से नीचे उतरी, द्वार खोला और घर से निकली; जैसे कोई प्राणी गर्मी से व्याकुल होकर घर से निकले और किसी खुली हुई जगह की ओर दौड़े। उस मकान में मेरा दम घुट रहा था।

सड़क पर सन्नाटा था, दूकानें बन्द हो चुकी थीं। सहसा एक बुढ़िया आती हुई दिखाई दी। मैं डरी कि कहीं चुड़ैल न हो। बुढ़िया ने मेरे समीप आकर मुझे सिर से पाँव तक देखा, और बोली—किसकी राह देख रही हो?

मैंने चिढ़कर कहा—मौत की।

बुढ़िया—तुम्हारे नसीबों में तो अभी ज़िन्दगी के बड़े-बड़े सुख भोगने लिखे हैं। अँधेरी रात गुज़र गई, आसमान पर सुबह की रोशनी नज़र आ रही है।

मैंने हँसकर कहा—अँधेरे में भी तुम्हारी आँखें इतनी तेज़ हैं कि नसीबों की लिखावट पढ़ लेती हैं?

बुढ़िया—आँखों से नहीं पढ़ती बेटा, अक़्ल से पढ़ती हूँ, धूप में चूँडे नहीं सुफेद किये हैं। तुम्हारे बुरे दिन गये और अच्छे दिन आ रहे हैं। हँसो मत बेटा, यही काम करते इतनी उम्र गुज़र गई। इसी बुढ़िया की बदौलत जो नदी में कूदने जा रही थीं, वे आज फूलों की सेज पर सो रही हैं; जो ज़हर का प्याला पीने को तैयार थीं वे आज दूध की

कुल्लियाँ कर रही हैं। इसीलिए इतनी रात गये निकलती हूँ कि अपने हाथों किसी अभागिनी का उद्धार हो सके तो करूँ। किसी से कुछ नहीं माँगती, भगवान् का दिया सब कुछ घर में है, केवल यही इच्छा है कि अपने से जहाँ तक हो सके दूसरों का उपकार करूँ। जिन्हें धन की इच्छा है उन्हें धन, जिन्हें सन्तान की इच्छा है उन्हें सन्तान, बस और क्या कहूँ, वह मन्त्र बता देती हूँ कि जिसकी जो इच्छा हो वह पूरी हो जाय।

मैंने कहा—मुझे न धन चाहिये, न सन्तान, मेरी मनोकामना तुम्हारे बस की बात नहीं।

बुढ़िया हँसी—बेटी, जो तुम चाहती हो वह मैं जानती हूँ; तुम वह चीज़ चाहती हो जो संसार में होते हुए स्वर्ग की है, जो देवताओं के वरदान से भी ज़्यादा आनन्दप्रद है, जो आकाश-कुसुम है, गूलर का फूल है और अमावस का चाँद है। लेकिन मेरे मन्त्र में वह शक्ति है जो भाग्य को भी सँवार सकती है। तुम प्रेम की प्यासी हो, मैं तुम्हें उस नाव पर बैठा सकती हूँ जो प्रेम के सागर में, प्रेम की तरङ्गों पर क्रीड़ा करती हुई तुम्हें पार उतार दे।

मैंने उत्कंठित होकर पूछा—माता, तुम्हारा घर कहाँ है?

बुढ़िया—बहुत नज़दीक है बेटी, तुम चलो तो मैं अपनी आँखों पर बैठाकर ले चलूँ।

मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यह कोई आकाश की देवी है। उसके पीछे-पीछे चल पड़ी।

(६)

आह! वह बुढ़िया जिसे मैं आकाश की देवी समझती थी, नरक की डाइन निकली। मेरा सर्वनाश हो गया। मैं अमृत खोजती थी, विष मिला; निर्मल स्वच्छ प्रेम की प्यासी थी, गन्दे; विषाक्त नाले में गिर पड़ी। वह दुर्लभ वस्तु न मिलनी थी, न मिली। मैं सुशीला का-सा सुख चाहती थी, कुलटाओं की विषय-वासना नहीं। लेकिन जीवन-पथ में एक बार उलटी राह चलकर फिर सीधे मार्ग पर आना कठिन है।

लेकिन मेरे अधःपतन का अपराध मेरे सिर नहीं, मेरे माता-पिता

और उस बूढ़े पर है जो मेरा स्वामी बनना चाहता था। मैं यह पंक्तियाँ न लिखती, लेकिन इस विचार से लिख रही हूँ कि मेरी आत्म-कथा पढ़कर लोगों की आँखें खुलें; मैं फिर कहती हूँ, अब भी अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते तो लड़की को क्वारी रख छोड़ो, ज़हर देकर मार डालो, गला घोंट डालो, पर किसी बूढ़े खूसट से मत ब्याहो। स्त्री सब कुछ सह सकती है, दारुण से दारुण दुःख, बड़े से बड़ा संकट—अगर नहीं सह सकती तो अपने यौवन-काल की उमंगों का कुचला जाना!

रही मैं, मेरे लिए अब इस जीवन में कोई आशा नहीं। इस अधम दशा को भी मैं उस दशा से न बदलूँगी, जिससे निकलकर आई हूँ!

स्त्री और पुरुष

विपिन बाबू के लिए स्त्री ही संसार की सबसे सुन्दर वस्तु थी। वह कवि थे और उनकी कविता के लिए स्त्रियों के रूप और यौवन की प्रशंसा ही सबसे चित्ताकर्षक विषय था। उनकी दृष्टि में स्त्री विराट् जगत् में व्याप्त कोमलता, माधुर्य और अलंकार की सजीव प्रतिमा थी। ज़बान पर स्त्री का नाम आते ही उनकी आँखें जगमगा उठती थीं, कान खड़े हो जाते थे, मानो किसी रसिक ने गान की आवाज़ सुन ली हो। जब से होश सँभाला, तभी से उन्होंने उस सुन्दरी की कल्पना करनी शुरू की जो उनके हृदय की रानी होगी; उसमें ऊषा की प्रफुल्लता होगी, पुष्प की कोमलता, कुन्दन की चमक, बसन्त की छवि, कोयल की ध्वनि। वह कवि-वर्णित सभी उपमाओं से विभूषित होगी। वह उस कल्पित मूर्ति के उपासक थे, कविताओं में उसका गुण गाते, मित्रों से उसकी चर्चा करते, नित्य उसी के ख़याल में मस्त रहते थे। वह दिन भी समीप आ गया था जब उनकी आशाएँ हरे-हरे पत्तों से लहराएँ

उनकी मुरादें पूरी होंगी। कालेज की अन्तिम परीक्षा समाप्त हो गई थी और विवाह के सन्देशे आने लगे थे।

(२)

विवाह तय हो गया। विपिन बाबू ने कन्या को देखने का बहुत आग्रह किया, लेकिन जब उनके मामूँ ने विश्वास दिलाया कि लड़की बहुत ही रूपवती है, मैंने उसे अपनी आँखों से देखा है, तब वह राज़ी हो गये। धूमधाम से बरात निकली, और विवाह का मुहूर्त आया। वधू आभूषणों से सजी हुई मण्डप में आई तो विपिन को उसके हाथ-पाँव नज़र आये। कितनी सुन्दर उँगलियाँ थीं, मानो दीप-शिखाएँ हों, अङ्गों की शोभा कितनी मनोहारिणी थी! विपिन फूले न समाये। दूसरे दिन वधू विदा हुई तो वह उसके दर्शनों के लिए इतने अधीर हुए कि ज्योंही रास्ते में कहारों ने पालकी रखकर मुँह-हाथ धोना शुरू किया आप चुपके से वधू के पास जा पहुँचे। वह घूँघट हटाये, पालकी से सिर निकाले बाहर झाँक रही थी। विपिन की निगाह उस पर पड़ गई। घृणा, क्रोध और निराशा की एक लहर-सी उन पर दौड़ गई। यह वह परम सुन्दरी रमणी न थी जिसकी उन्होंने कल्पना की थी, जिसकी वह बरसों से कल्पना कर रहे थे—यह एक चौड़े मुँह, चिपटी नाक, और फूले हुए गालोंवाली कुरूपा स्त्री थी। रङ्ग गोरा था, पर उसमें लाली के बदले सुफेदी थी; और फिर रंग कैसा ही सुन्दर हो, रूप की कमी नहीं पूरी कर सकता। विपिन का सारा उत्साह ठण्डा पड़ गया—हा! इसे मेरे ही गले पड़ना था, क्या इसके लिए समस्त संसार में और कोई न मिलता था? उन्हें अपने मामूँ पर क्रोध आया जिसने वधू की तारीफ़ों के पुल बाँध दिये थे। अगर इस वक्त वह मिल जाते तो विपिन उनकी ऐसी ख़बर लेता कि वह भी याद करते।

जब कहारों ने फिर पालकियाँ उठाई तो विपिन मन में सोचने लगा, इस स्त्री के साथ मैं कैसे बोलूँगा, कैसे उसके साथ जीवन [illegible]ँगा। उसकी ओर तो ताकने ही से घृणा होती है। ऐसी कुरूपा [illegible]भी संसार में है, इसका मुझे अब तक पता न था। क्या मुँह

ईश्वर ने बनाया है, क्या आँखें हैं ! मैं और सारे ऐबों की ओर से आँखें बन्द कर लेता, लेकिन यह चौड़ा-सा मुँह ! भगवान् ! क्या तुम्हें मुझी पर यह वज्राघात करना था ?

(३)

विपिन को अपना जीवन नरक-सा जान पड़ता था। वह अपने माँ से लड़ा, ससुर को एक लम्बा खर्रा लिखकर फटकारा, मा-बाप से हुज्जत की और जब इससे शांति न हुई तो कहीं भाग जाने की बात सोचने लगा। आशा पर उसे दया अवश्य आती थी, वह अपने को समझाता कि इसमें उस बेचारी का क्या दोष है, उसने ज़बरदस्ती तो मुझसे विवाह किया नहीं। लेकिन यह दया और यह विचार उस घृणा को न जीत सकता था जो आशा को देखते ही उसके रोम-रोम में व्याप्त हो जाती थी। आशा अपने अच्छे-से-अच्छे कपड़े पहनती, तरह-तरह से बाल सँवारती, घण्टों आइने के सामने खड़ी होकर अपना शृङ्गार करती, लेकिन विपिन को यह शुतुरग़मज़े-से मालूम होते। वह दिल से चाहती थी कि इन्हें प्रसन्न करूँ, उनकी सेवा करने के लिए अवसर खोजा करती थी, लेकिन विपिन उससे भागा-भागा फिरता था। अगर कभी भेंट हो भी जाती तो कुछ ऐसी जली-कटी बातें करने लगता कि आशा रोती हुई वहाँ से चली जाती।

सबसे बुरी बात यह थी कि उसका चरित्र भ्रष्ट होने लगा। वह यह भूल जाने की चेष्टा करने लगा कि मेरा विवाह हो गया है। कई-कई दिनों तक आशा को उसके दर्शन भी न होते। वह उसके क़हक़हे की आवाज़ें बाहर से आती हुई सुनती, झरोखे से देखती कि वह दोस्तों के गले में हाथ डाले सैर करने जा रहे हैं, और तड़पकर रह जाती।

एक दिन खाना खाते समय उसने कहा—अब तो आपके दर्शन ही नहीं होते। क्या मेरे कारण घर छोड़ दीजियेगा क्या ?

विपिन ने मुँह फेरकर कहा—घर ही पर तो रहता हूँ। आजकल ज़रा नौकरी की तलाश है, इसलिए दौड़-धूप ज़्यादा करनी पड़ती है।

आशा—किसी डाक्टर से मेरी सूरत क्यों नहीं बनवा देते ? सुनती

हूँ, आजकल सूरत बनानेवाले डाक्टर पैदा हुए हैं।

विपिन—क्यों नाहक़ चिढ़ाती हो, यहाँ तुम्हें किसने बुलाया था ?

आशा—आख़िर इस मर्ज़ की दवा कौन करेगा ?

विपिन—इस मर्ज़ की दवा नहीं है। जो काम ईश्वर से न करते बना, उसे आदमी क्या बना सकता है ?

आशा—यह तो तुम्हीं सोचो कि ईश्वर की भूल के लिए मुझे दण्ड दे रहे हो। संसार में कौन ऐसा आदमी है जिसे अच्छी सूरत बुरी लगती हो, लेकिन तुमने किसी मर्द को केवल रूप-हीन होने के कारण क्वाँरा रहते देखा है ? रूप-हीन लड़कियाँ भी मा-बाप के घर नहीं बैठी रहतीं। किसी न किसी तरह उनका निर्वाह हो ही जाता है। उनका पति उन पर प्राण न देता हो, लेकिन दूध की मक्खी नहीं समझता।

विपिन ने झुँझलाकर कहा—क्यों नाहक़ सिर खाती हो, मैं तुमसे बहस तो नहीं कर रहा हूँ। दिल पर जब्र नहीं किया जा सकता, और न दलीलों का उस पर कोई असर पड़ सकता है। मैं तुम्हें कुछ कहता तो नहीं हूँ, फिर तुम क्यों मुझसे हुज्जत करती हो ?

आशा यह झिड़की सुनकर चली गई। उसे मालूम हो गया कि इन्होंने मेरी ओर से सदा के लिए हृदय कठोर कर लिया है।

(४)

विपिन तो रोज़ सैर-सपाटे करते, कभी-कभी रात-रात ग़ायब रहते, इधर आशा चिन्ता और नैराश्य से घुलते-घुलते बीमार पड़ गई। लेकिन विपिन भूलकर भी उसे देखने न जाता, सेवा करना तो दूर रहा। इतना ही नहीं, वह दिल में मनाता था कि यह मर जाती तो गला छूटता, अबकी ख़ूब देख-भालकर अपनी पसन्द का विवाह करता।

अब वह और भी खुल खेला। पहले आशा से कुछ दबता था, कम-से-कम उसे यह धड़का लगा रहता था कि कोई मेरी चाल-ढाल पर निगाह रखनेवाला भी है। अब वह धड़का छूट गया। कुवासनाओं में ऐसा लिप्त हो गया कि मरदाने कमरे में ही जमघटे होने लगे। लेकिन विषय-भोग में धन ही का सर्वनाश नहीं होता, इससे कहीं अधिक बुद्धि

और बल का सर्वनाश होता है। विपिन का चेहरा पीला पड़ने लगा, देह भी क्षीण होने लगी, पसलियों की हड्डियाँ निकल आई, आँखों के इर्द-गिर्द गढ़े पड़ गये। अब वह पहले से कहीं ज़्यादा शौक़ करता, नित्य तेल लगाता, बाल बनवाता कपड़े बदलता, किन्तु मुख पर कान्ति न थी, रङ्ग रोग़न से क्या हो सकता था।

एक दिन आशा बरामदे में चारपाई पर लेटी हुई थी। इधर हफ्तों से उसने विपिन को न देखा था। उन्हें देखने की इच्छा हुई। उसे भय था कि वह न आयेंगे, फिर भी वह मन को न रोक सकी। विपिन को बुला भेजा। विपिन को भी उस पर कुछ दया आ गई। आकर सामने खड़े हो गये। आशा ने उनके मुँह की ओर देखा तो चौंक पड़ी। वह इतने दुर्बल हो गये थे कि पहचानना मुश्किल था। बोली—क्या तुम भी बीमार हो क्या? तुम तो मुझसे भी ज़्यादा घुल गये हो?

विपिन—उँह, ज़िन्दगी में रखा ही क्या है जिसके लिए जीने की फ़िक्र करूँ।

आशा—जीने की फ़िक्र न करने से कोई इतना दुबला नहीं हो जाता। तुम अपनी कोई दवा क्यों नहीं करते?

यह कहकर उसने विपिन का दाहना हाथ पकड़कर अपनी चारपाई पर बैठा लिया। विपिन ने भी हाथ छुड़ाने की चेष्टा न की। उनके स्वभाव में इस समय एक विचित्र नम्रता थी जो आशा ने कभी न देखी थी। बातों से भी निराशा टपकती थी। अक्खड़पन या क्रोध की गन्ध भी न थी। आशा को ऐसा मालूम हुआ कि उनकी आँखों में आँसू भरे हुए हैं।

विपिन चारपाई पर बैठते हुए बोले—मेरी दवा अब मौत करेगी। मैं तुम्हें जलाने के लिए नहीं कहता। ईश्वर जानता है, मैं तुम्हें चोट नहीं पहुँचाना चाहता। मैं अब ज़्यादा दिनों तक न जिऊँगा। मुझे किसी भयंकर रोग के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। डाक्टरों ने भी यही कहा है। मुझे इसका खेद है कि मेरे हाथों तुम्हें कष्ट पहुँचा, पर क्षमा करना, कभी-कभी बैठे-बैठे मेरा दिल डूब जाता है, मूर्छा-सी आ जाती है।

यह कहते एकाएक वह काँप उठे। सारी देह में सनसनी-सी दौड़ गई। मूर्छित होकर चारपाई पर गिर पड़े और हाथ-पैर पटकने लगे। मुँह से फिचकुर निकलने लगा। सारी देह पसीने से तर हो गई।

आशा का सारा रोग हवा हो गया। वह महीनों से बिस्तर न छोड़ सकी थी। पर इस समय उसके शिथिल अङ्गों में विचित्र स्फूर्ति दौड़ गई। उसने तेज़ी से उठकर विपिन को अच्छी तरह लिटा दिया और उनके मुख पर पानी के छींटें देने लगी। महरी भी दौड़ी आई और पंखा झलने लगी। बाहर ख़बर हुई, मित्रों ने दौड़कर डॉक्टर को बुलाया। बहुत यत्न करने पर भी विपिन ने आँखें न खोलीं। सन्ध्या होते-होते उनका मुँह टेढ़ा हो गया, और बायाँ अंग शून्य पड़ गया। हिलना तो दूर रहा, मुँह से बात निकलना भी मुश्किल हो गया। यह मूर्छा न थी, फ़ालिज था।

(५)

फ़ालिज के भयङ्कर रोग में रोगी की सेवा करना आसान काम नहीं है। उस पर आशा महीनों से बीमार थी। लेकिन इस रोग के सामने वह अपना रोग भूल गई। १५ दिनों तक विपिन की हालत बहुत नाजुक रही। आशा दिन-के-दिन और रात-की-रात उनके पास बैठी रहती, उनके लिए पथ्य बनाना, उन्हें गोद में सँभालकर दवा पिलाना, उनके ज़रा-ज़रा से इशारे को समझना उसी-जैसी धैर्यशीला स्त्री का काम था। अपना सिर दर्द से फटा करता, ज्वर से देह तपा करती, पर इसकी उसे ज़रा भी परवा न थी।

१५ दिनों के बाद विपिन की हालत कुछ सँभली। उनका दाहना पैर तो लुञ्ज पड़ गया था, पर तोतली भाषा में कुछ बोलने लगे थे। सबसे बुरी गति उनके सुन्दर मुख की हुई थी। वह इतना टेढ़ा हो गया था जैसे कोई रबर के खिलौने को खींचकर बढ़ा दे। बैटरी की मदद से ज़रा देर के लिए बैठ या खड़े तो हो जाते थे, लेकिन चलने-फिरने की ताक़त न थी।

एक दिन लेटे लेटे उन्हें क्या जाने क्या ख़याल आया। आइना

उठाकर अपना मुँह देखने लगे। ऐसा कुरूप आदमी उन्होंने कभी न देखा था। आहिस्ता से बोले—आशा, ईश्वर ने मुझे ग़रूर की सज़ा दे दी। वास्तव में यह उसी बुराई का बदला है, जो मैंने तुम्हारे साथ की। अब तुम अगर मेरा मुँह देखकर घृणा से मुँह फेर लो तो मुझे तुमसे ज़रा भी शिकायत न होगी। मैं चाहता हूँ कि तुम मुझसे उस दुर्व्यवहार का बदला लो जो मैंने तुम्हारे साथ किये हैं।

आशा ने पति की ओर कोमल भाव से देखकर कहा—मैं तो आपको अब भी उसी निगाह से देखती हूं। मुझे तो आप में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता।

विपिन—वाह, बन्दर का-सा मुँह हो गया है, तुम कहती हो कोई अन्तर ही नहीं। मैं तो अब कभी बाहर न निकलूँगा। ईश्वर ने मुझे सचमुच दण्ड दिया है!

(६)

बहुत यत्न किये गये पर विपिन का मुँह न सीधा हुआ। मुख का बायाँ भाग इतना टेढ़ा हो गया था कि चेहरा देखकर डर मालूम होता था। हाँ, पैरों में इतनी शक्ति आ गई कि अब वह चलने-फिरने लगे।

आशा ने पति की बीमारी में देवी की मनौती की थी। आज उसी पूजा का उत्सव था। मुहल्ले की स्त्रियाँ बनाव-सिंगार किये जमा थीं। गाना-बजाना हो रहा था।

एक सहेली ने पूछा—क्यों आशा, अब तो तुम्हें उनका मुँह ज़रा भी अच्छा न लगता होगा।

आशा ने गम्भीर होकर कहा—मुझे तो पहले से कहीं अच्छा मालूम होता है!

'चलो, बातें बनाती हो।'

'नहीं बहन, सच कहती हूँ, रूप के बदले मुझे उनकी आत्मा मिल गई जो रूप से कहीं बढ़कर है।'

विपिन कमरे में बैठे हुए थे। कई मित्र जमा थे। ताश हो रहा था।

कमरे में एक खिड़की थी जो आँगन में खुलती थी। इस वक्त वह बन्द थी। एक मित्र ने चुपके से उसे खोल दिया और शीशे से झाँककर विपिन से कहा—आज तो तुम्हारे यहाँ परियों का अच्छा जमघट है।

विपिन—बंद कर दो।

'अजी, ज़रा देखो तो कैसी-कैसी सूरतें हैं! तुम्हें इन सबों में कौन सबसे अच्छी मालूम होती है?'

विपिन ने उड़ती हुई नज़रों से देखकर कहा—मुझे तो वही स्त्री सबसे अच्छी मालूम होती है जो थाल में फूल रख रही है।

'वाह री आपकी निगाह! क्या सूरत के साथ तुम्हारी निगाह भी बिगड़ गई? मुझे तो वह सबसे बदसूरत मालूम होती है।'

'इसलिए कि तुम उसकी सूरत देखते हो और मैं उसकी आत्मा देखता हूँ।'

'अच्छा, यही मिसेज़ विपिन हैं?'

'जी हाँ, यह वही देवी है!'

उद्धार

(१)

हिन्दू समाज की वैवाहिक प्रथा इतनी दूषित, इतनी चिन्ताजनक, इतनी भयंकर हो गई है कि कुछ समझ में नहीं आता, उसका सुधार क्योंकर हो। बिरले ही ऐसे माता-पिता होंगे जिनके सात पुत्रों के बाद भी एक कन्या उत्पन्न हो जाय तो वह सहर्ष उसका स्वागत करें। कन्या का जन्म होते ही उसके विवाह की चिन्ता सिर पर सवार हो जाती है और आदमी उसी में डुबकियाँ खाने लगता है। अवस्था इतनी निराशामय और भयानक हो गई है कि ऐसे माता-पिताओं की कमी नहीं है जो कन्या की मृत्यु पर हृदय से प्रसन्न होते हैं, मानो सिर से बाधा टली।

इसका कारण केवल यही है कि दहेज की दर, दिन दूनी रात चौगुनी, पावस काल के जल-वेग के समान बढ़ती चली जा रही है। जहाँ दहेज की सैकड़ों में बातें होती थीं, वहाँ अब हज़ारों तक नौबत पहुँच गई है। अभी बहुत दिन नहीं गुज़रे कि एक या दो हज़ार रुपए दहेज केवल बड़े घरों की बात थी, छोटी-मोटी शादियाँ पाँच सौ से एक हज़ार तक तय हो जाती थीं। पर अब मामूली-मामूली विवाह भी तीन-चार हज़ार के नीचे नहीं तय होते। ख़र्च का तो यह हाल है और शिक्षित समाज की निर्धनता और दरिद्रता दिनों दिन बढ़ती जाती है। इसका अन्त क्या होगा, ईश्वर ही जाने। बेटे एक दरजन भी हों तो माता-पिता को चिन्ता नहीं होती। वह अपने ऊपर उनके विवाह-भार को अनिवार्य नहीं समझता, यह उसके लिए Compulsory विषय नहीं Optional विषय है। होगा तो कर देंगे; नहीं कह देंगे—बेटा, खाओ कमाओ, समाई हो तो विवाह कर लेना। बेटों की कुचरित्रता कलंक की बात नहीं समझी जाती; लेकिन कन्या का विवाह तो करना ही पड़ेगा, उससे भागकर कहाँ जायँगे? अगर विवाह में विलम्ब हुआ और कन्या के पाँव कहीं ऊँचे-नीचे पड़ गये तो फिर कुटुम्ब की नाक कट गई, वह पतित हो गया, टाट-बाहर कर दिया गया। अगर वह इस दुर्घटना को सफलता के साथ गुप्त रख सका तब तो कोई बात नहीं, उसको कलंकित करने का किसी को साहस नहीं, लेकिन अभाग्यवश यदि वह इसे छिपा न सका, भंडा-फोड़ हो गया तो फिर माता-पिता के लिए, भाई-बन्धुओं के लिए संसार में मुँह दिखाने को स्थान नहीं रहता। कोई अपमान इससे दुस्सह, कोई विपत्ति इससे भीषण नहीं। किसी भी व्याधि की इससे भयंकर कल्पना नहीं की जा सकती। लुत्फ़ तो यह है कि जो लोग बेटियों के विवाह की कठिनाइयों को भोग चुके होते हैं वही अपने बेटों के विवाह के अवसर पर बिलकुल भूल जाते हैं कि हमें कितनी ठोकरें खानी पड़ी थीं, ज़रा भी सहानुभूति नहीं प्रकट करते, बल्कि कन्या के विवाह में जो तावान उठाया था उसे चक्रवृद्धि ब्याज के साथ बेटे के विवाह में वसूल करने पर कटिबद्ध हो जाते हैं। कितने

ही माता-पिता इसी चिन्ता में घुल-घुलकर अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं, कोई संन्यास ग्रहण कर लेता है, कोई बूढ़े के गले कन्या को मढ़कर अपना गला छुड़ाता है, पात्र-कुपात्र के विचार करने का मौक़ा कहाँ, ठेलमठेल है।

मुंशी गुलज़ारीलाल ऐसे ही हतभागे पिताओं में थे। यों उनकी स्थिति बुरी न थी, दो-ढाई सौ रुपए महीने वकालत से पीट लेते थे, पर ख़ानदानी आदमी थे, उदार हृदय, बहुत किफ़ायत करने पर भी माकूल बचत न हो सकती थी। सम्बन्धियों का आदर-सत्कार न करें तो नहीं बनता, मित्रों की ख़ातिरदारी न करें तो नहीं बनता ; फिर ईश्वर के दिये हुए दो-तीन पुत्र थे, उनका पालन-पोषण, शिक्षण का भार था, क्या करते। पहली कन्या का विवाह उन्होंने अपनी हैसियत के अनुसार अच्छी तरह किया, पर दूसरी पुत्री का विवाह टेढ़ी खीर हो रहा था। यह आवश्यक था कि विवाह अच्छे घराने में हो, अन्यथा लोग हँसेंगे ; और अच्छे घराने के लिए कम-से-कम पाँच हज़ार का तख़मीना था। उधर पुत्री सयानी होती जाती थी। वही अनाज जो लड़के खाते थे, वह भी खाती थी, लेकिन लड़कों को देखो तो जैसे सूखे का रोग लगा हो और लड़की शुक्ल पक्ष का चाँद हो रही थी। बहुत दौड़-धूप करने पर बेचारे को एक लड़का मिला। बाप आबकारी के विभाग में ४००) का नौकर था, लड़का भी सुशिक्षित ; स्त्री से आकर बोले, लड़का तो मिला और घर-बार एक भी काटने योग्य नहीं, पर कठिनाई यही है कि लड़का कहता है, मैं अपना विवाह ही न करूँगा। बाप ने कितना समझाया, मैंने कितना समझाया, औरों ने समझाया पर वह टस से मस नहीं होता। कहता है, मैं कभी विवाह न करूँगा। समझ में नहीं आता, विवाह से क्यों इतनी घृणा करता है। कोई कारण नहीं बतलाता, बस यही कहता है, मेरी इच्छा! मा-बाप का एकलौता लड़का है, उनकी परम इच्छा है कि इसका विवाह हो जाय, पर करें क्या। यों उन्होंने फलदान तो रख लिया है, पर मुझसे कह दिया है कि लड़का स्वभाव का हठीला है और अगर न मानेगा तो फलदान आपको लौटा दिया जायगा।

स्त्री ने कहा—तुमने लड़के को एकान्त में बुलाकर पूछा नहीं ?

गुलज़ारीलाल—बुलाया था। बैठा रोता रहा, फिर उठकर चला गया। तुमसे क्या कहूँ, उसके पैरों पर गिर पड़ा लेकिन बिना कुछ कहे उठकर चला गया।

स्त्री—देखो, इस लड़की के पीछे क्या-क्या झेलना पड़ता है।

गुलज़ारीलाल—कुछ नहीं, आजकल के लौंडे सैलानी होते हैं। अँगरेज़ी पुस्तकों में पढ़ते हैं कि विलायत में कितने ही लोग अविवाहित रहना ही पसन्द करते हैं। बस यही सनक सवार हो जाती है कि निर्द्वन्द्व रहने में ही जीवन का सुख और शान्ति है। जितनी मुसीबतें हैं वह सब विवाह ही में हैं। मैं भी कालेज में था तब सोचा करता था कि अकेला रहूँगा और मज़े से सैर-सपाटा करूँगा।

स्त्री—है तो वास्तव में बात यही। विवाह ही तो सारी मुसीबतों की जड़ है। तुमने विवाह न किया होता तो क्यों ये चिन्ताएँ होतीं ? मैं भी क्वाँरी रहती तो चैन करती।

(२)

इसके एक महीना बाद मुन्शी गुलज़ारीलाल के पास वर ने यह पत्र लिखा—

'पूज्यवर,

सादर प्रणाम।

मैं आज बहुत असमंजस में पड़कर यह पत्र लिखने का साहस कर रहा हूँ। इस धृष्टता को क्षमा कीजियेगा।

आपके जाने के बाद से मेरे पिताजी और माताजी दोनों मुझ पर विवाह करने के लिए नाना प्रकार से दबाव डाल रहे हैं। माताजी रोती हैं, पिताजी नाराज़ होते हैं। वह समझते हैं कि मैं केवल अपनी ज़िद के कारण विवाह से भागता हूँ। कदाचित् उन्हें यह भी सन्देह हो रहा है कि मेरा चरित्र भ्रष्ट हो गया है। मैं वास्तविक कारण बताते हुए डरता हूँ कि इन लोगों को दुःख होगा और आश्चर्य नहीं कि शोक में उनके प्राणों पर ही बन जाय। इसलिए अब तक मैंने जो बात गुप्त

रखी थी वह आज विवश होकर आपसे प्रकट करता हूँ और आपसे साग्रह निवेदन करता हूँ कि आप इसे गोपनीय समझियेगा और किसी दशा में भी उन लोगों के कानों में इसकी भनक न पड़ने दीजियेगा। जो होना है वह तो होगा ही, पहले ही से क्यों उन्हें शोक में डुबाऊँ। मुझे ५-६ महीनों से यह अनुभव हो रहा है कि मैं क्षय-रोग से ग्रसित हूँ। उसके सभी लक्षण प्रकट होते जाते हैं। डाक्टरों की भी यही राय है। यहाँ सबसे अनुभवी जो दो डाक्टर हैं उन दोनों ही से मैंने अपनी आरोग्य-परीक्षा कराई और दोनों ही ने स्पष्ट कहा कि तुम्हें सिल है। अगर माता-पिता से यह बात कह दूँ तो वह रो-रोकर मर जायँगे। जब यह निश्चय है कि मैं संसार में थोड़े ही दिनों का मेहमान हूँ तो मेरे लिए विवाह की कल्पना करना भी पाप है। संभव है कि मैं विशेष प्रयत्न करने से साल दो साल जीवित रहूँ, पर वह दशा और भी भयंकर होगी, क्योंकि अगर कोई संतान हुई तो वह भी मेरे संस्कार से अकाल मृत्यु पायेगी और कदाचित् स्त्री को भी इसी रोग राक्षस का भक्षण बनना पड़े। मेरे अविवाहित रहने से जो कुछ बीतेगी मुझ ही पर बीतेगी। विवाहित हो जाने से मेरे साथ और भी कई जीवों का नाश हो जायगा। इसलिए आपसे मेरी विनीत प्रार्थना है कि मुझे इस बन्धन में डालने के लिए आग्रह न कीजिये, अन्यथा आपको पछताना पड़ेगा।

सेवक,

हजारीलाल।'

पत्र पढ़कर गुलज़ारीलाल ने स्त्री की ओर देखा और बोले—इस पत्र के विषय में तुम्हारा क्या विचार है?

स्त्री--मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि उसने बहाना रचा है।

गुलज़ारीलाल--बस बस, ठीक यही मेरा भी विचार है। उसने समझा है कि बीमारी का बहाना कर दूँगा तो लोग आप ही हट जायँगे। असल में बीमारी कुछ नहीं। मैंने तो देखा ही था, चेहरा चमक रहा था। बीमार का मुँह छिपा नहीं रहता।

स्त्री—राम का नाम लेके विवाह करो, कोई किसी का भाग्य थोड़े ही पढ़े बैठा है।

गुलज़ारीलाल—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।

स्त्री—न हो किसी डाक्टर से लड़के को दिखाओ। कहीं सचमुच यह बीमारी हो तो बेचारी अभा कहीं की न रहे।

गुलज़ारीलाल—तुम भी पागल हुई हो क्या, यह सब हीले-हवाले हैं। इन छोकरों के दिल का हाल मैं खूब जानता हूँ। सोचता होगा, अभी सैर-सपाटे कर रहा हूँ, विवाह हो जायगा तो यह गुलछर्रे कैसे उड़ेंगे।

स्त्री—तो शुभ मुहूर्त देखकर लग्न भिजवाने की तैयारी करो।

(२)

हज़ारीलाल बड़े धर्म-सन्देह में था। उसके पैरों में ज़बरदस्ती विवाह की बेड़ी डाली जा रही थी और वह कुछ न कर सकता था। उसने ससुर को अपना कच्चा चिट्ठा कह सुनाया, मगर किसी ने उसकी बातों पर विश्वास न किया। माँ बाप से अपनी बीमारी का हाल कहने का उसे साहस न होता था, न जाने उनके दिल पर क्या गुज़रे, न-जाने क्या कर बैठें। कभी सोचता, किसी डॉक्टर की शहादत लेकर ससुर के पास भेज दूँ, मगर फिर ध्यान आता, यदि उन लोगों को उस पर भी विश्वास न आया तो? आजकल डाक्टरों से सनद ले लेना कौन-सा मुश्किल काम है। सोचेंगे, किसी डॉक्टर को कुछ दे-दिलाकर लिखा लिया होगा। शादी के लिए तो इतना आग्रह हो रहा था, उधर डाक्टरों ने स्पष्ट कह दिया था कि अगर तुमने शादी की तो तुम्हारा जीवन-सूत्र और भी निर्बल हो जायगा। महीनों की जगह दिनों में वारा-न्यारा हो जाने की सम्भावना है।

लग्न आ चुकी थी। विवाह की तैयारियाँ हो रही थीं, मेहमान आते-जाते थे और हज़ारीलाल घर से भागा-भागा फिरता था। कहाँ चला जाऊँ? विवाह की कल्पना ही से उसके प्राण सूखे जाते थे। आह! उस अबला की क्या गति होगी? जब उसे यह बात मालूम होगी तो

वह मुझे अपने मन में क्या कहेगी ? कौन इस पाप का प्रायश्चित्त करेगा ? नहीं, यह उस अबला पर घोर अत्याचार है। उस पर यह अत्याचार न करूँगा, उसे वैधव्य की आग में न जलाऊँगा। मेरी ज़िन्दगी ही क्या, आज न मरा, कल मरूँगा, कल नहीं तो परसों, तो क्यों न आज ही मर जाऊँ ? आज ही जीवन का और उसके साथ सारी चिन्ताओं का, सारी विपत्तियों का, अन्त कर दूँ। पिताजी रोयेंगे, अम्माँ प्राण त्याग देंगी, लेकिन एक बालिका का जीवन तो सफल हो जायेगा, मेरे बाद कोई अभागा अनाथ तो न रोयेगा।

क्यों न चलकर पिताजी से कह दूँ ? वह एक-दो दिन दुखी रहेंगे, अम्माँजी दो एक रोज़ शोक से निराहार रह जायेंगी, कोई चिन्ता नहीं, अगर माता-पिता के इतने कष्ट से एक युवती की प्राण-रक्षा हो जाय तो क्या छोटी बात है !

यह सोचकर वह धीरे से उठा और आकर पिता के सामने खड़ा हो गया।

रात के दस बज गये थे। बाबू दरबारीलाल चारपाई पर लेटे हुए हुक्क़ा पी रहे थे। आज उन्हें सारा दिन दौड़ते गुज़रा था। शामियाना तय किया, बाजेवालों को बयाना दिया, आतशबाज़ी, फुलवारी आदि का प्रबन्ध किया, घंटों ब्राह्मणों के साथ सिर मारते रहे, इस वक्त ज़रा कमर सीधी कर रहे थे कि सहसा हज़ारीलाल को सामने देखकर चौंक पड़े। उसका उतारा हुआ चेहरा, सजल आँखें और कुण्ठित मुख देखा तो कुछ चिंतित होकर बोले—क्यों लालू, तबीयत तो अच्छी है न ? कुछ उदास मालूम होते हो।

हज़ारीलाल—मैं आपसे कुछ कहना चाहता हूँ, पर भय होता है कि कहीं आप अप्रसन्न न हों।

दरबारीलाल—समझ गया, वही पुरानी बात है न ? उसके सिवा कोई दूसरी बात हो तो शौक़ से कहो।

हज़ारीलाल—खेद है कि मैं उसी विषय में कुछ कहना चाहता हूँ।

दरबारीलाल—यही कहना चाहते हो न कि मुझे इस बन्धन में न

डालिये, मैं इसके अयोग्य हूँ, मैं यह भार सह नहीं सकता, यह बेड़ी मेरी गर्दन को तोड़ देगी, आदि, या और कोई नई बात ?

हज़ारीलाल—जी नहीं, नई बात है। मैं आपकी आज्ञा पालन करने के लिए सब प्रकार से तैयार हूँ, पर एक ऐसी बात है, जिसे मैंने अब तक छिपाया था, उसे भी प्रकट कर देना चाहता हूँ। इसके बाद आप जो कुछ निश्चय करेंगे उसे मैं शिरोधार्य करूँगा।

दरबारीलाल—कहो, क्या कहते हो ?

हज़ारीलाल ने बड़े विनीत शब्दों में अपना आशय कहा, डाक्टरों की राय भी बयान की और अन्त में बोले—ऐसी दशा में मुझे पूरी आशा है कि आप मुझे विवाह करने के लिए बाध्य न करेंगे।

दरबारीलाल ने पुत्र के मुख की ओर ग़ौर से देखा, कहीं ज़र्दी का नाम न था, इस कथन पर विश्वास न आया, पर अपना अविश्वास छिपाने और अपना हार्दिक शोक प्रकट करने के लिए वह कई मिनट तक गहरी चिन्ता में मग्न रहे। इसके बाद पीड़ित कंठ से बोले—बेटा, इस दशा में तो विवाह करना और भी आवश्यक है। ईश्वर न करे कि हम वह बुरा दिन देखने के लिए जीते रहें, पर विवाह हो जाने से तुम्हारी कोई निशानी तो रह जायगी। ईश्वर ने कोई संतान दे दी तो वही हमारे बुढ़ापे की लाठी होगी, उसी का मुँह देख-देखकर दिल को समझायेंगे, जीवन का कुछ आधार तो रहेगा। फिर आगे क्या होगा, यह कौन कह सकता है। डाक्टर किसी की कर्म रेखा तो नहीं पढ़े होते, ईश्वर की लीला अपरम्पार है, डाक्टर उसे नहीं समझ सकते। तुम निश्चिन्त होकर बैठो, हम जो कुछ करते हैं करने दो, भगवान् चाहेंगे तो सब कल्याण ही होगा।

हज़ारीलाल ने इसका कोई उत्तर न दिया। आँखें डबडबा आईं, कंठावरोध के कारण मुँह तक न खोल सका। चुपके से आकर अपने कमरे में लेट रहा।

तीन दिन और गुज़र गये, पर हज़ारीलाल कुछ निश्चय न कर सका। विवाह की तैयारियाँ पूरी हो गई थीं। आँगन में मंडप गड़

गया था, डाल, गहने सन्दूकों में रखे जा चुके थे। मैत्रेयी की पूजा हो चुकी थी और द्वार पर बाजों का शोर मचा हुआ था। महल्ले के लड़के जमा होकर बाजा सुनते थे और उल्लास से इधर-उधर दौड़ते थे।

सन्ध्या हो गई थी। बरात आज रात की गाड़ी से जानेवाली थी। बरातियों ने अपने वस्त्राभूषण पहनने शुरू किये। कोई नाई से बाल बनवाता था और चाहता था कि ख़त ऐसा साफ़ हो जाय मानो वहाँ बाल कभी थे ही नहीं, बूढ़े अपने पके बाल उखड़वाकर जवान बनने की चेष्टा कर रहे थे। तेल, साबुन, उबटन की लूट मची हुई थी और हज़ारीलाल बाग़ीचे में एक वृक्ष के नीचे उदास बैठा हुआ सोच रहा था, क्या करूँ?

अन्तिम निश्चय की घड़ी सिर पर खड़ी थी। अब एक क्षण भी विलम्ब करने का मौक़ा न था। अपनी वेदना किससे कहे, कोई सुननेवाला न था!

उसने सोचा, हमारे माता-पिता कितने अदूरदर्शी हैं, अपनी उमंग में इन्हें इतना भी नहीं सूझता कि वधू पर क्या गुज़रेगी। वधू के माता-पिता भी इतने अन्धे हो रहे हैं कि देखकर भी नहीं देखते, जानकर नहीं जानते।

क्या यह विवाह है? कदापि नहीं। यह तो लड़की को कुएँ में डालना है, भाड़ में झोंकना है, कुन्द छुरे से रेतना है। कोई यातना इतनी दुस्सह, इतनी हृदयविदारक नहीं हो सकती जितनी वैधव्य! और यह लोग जान-बूझकर अपनी पुत्री को वैधव्य के अग्नि-कुण्ड में डाले देते हैं। यह माता-पिता हैं? कदापि नहीं। यह लड़की के शत्रु हैं, क़साई हैं, वधिक हैं, हत्यारे हैं। क्या इनके लिए कोई दण्ड नहीं? जो जान-बूझकर अपनी प्रिय सन्तान के ख़ून से अपने हाथ रँगते हैं, उनके लिए कोई दण्ड नहीं? समाज भी उन्हें दण्ड नहीं देता। कोई कुछ नहीं कहता। हाय!

यह सोचकर हज़ारीलाल उठा और एक ओर चुपचाप चला।

उसके मुख पर तेज छाया हुआ था। उसने आत्म-बलिदान से इस कष्ट को निवारण करने का दृढ़ संकल्प कर लिया था। उस मृत्यु का लेशमात्र भी भय न था। वह उस दशा को पहुँच गया था जब सारी आशाएँ मृत्यु ही पर अवलम्बित हो जाती हैं।

उस दिन से फिर किसी ने हज़ारीलाल की सूरत नहीं देखी। मालूम नहीं, ज़मीन खा गई या आसमान। नदियों में जाल डाले गये, कुओं में बाँस पड़ गये, पुलीस में हुलिया लिखाया गया, समाचार-पत्रों में विज्ञप्ति निकाली गई ; पर कहीं पता न चला।

कई हफ्तों के बाद, छावनी रेलवे स्टेशन से एक मील पश्चिम की ओर सड़क पर कुछ हड्डियाँ मिलीं। लोगों को अनुमान हुआ कि हज़ारीलाल ने गाड़ी के नीचे दबकर जान दी। पर निश्चित रूप से कुछ न मालूम हुआ।

(४)

भादों का महीना था और तीज का दिन। घरों में सफ़ाई हो रही थी। सौभाग्यवती रमणियाँ सोलहों शृंगार किये गंगा-स्नान करने जा रही थीं। अम्बा स्नान करके आई थी और तुलसी के कच्चे चबूतरे के सामने खड़ी वन्दना कर रही थी। पतिगृह में उसे यह पहली ही तीज थी, बड़े उमंगों से व्रत रखा था। सहसा उसके पति ने अन्दर आकर उसे सहास नेत्रों से देखा और बोला—मुंशी दरबारीलाल तुम्हारे कौन होते हैं, यह उनके यहाँ से तुम्हारे लिए तीज की पटौनी आई है। अभी डाकिया दे गया है।

यह कहकर उसने एक पारसल चारपाई पर रख दिया। दरबारी-लाल का नाम सुनते ही अम्बा की आँखें सजल हो गईं। वह लपकी हुई आई और पारसल को हाथ में लेकर देखने लगी, पर उसकी हिम्मत न पड़ी कि उसे खोले। पिछली स्मृतियाँ जीवित हो गईं, हृदय में हज़ारीलाल के प्रति श्रद्धा का एक उद्गार-सा उठ पड़ा। आह! यह उसी देवात्मा के आत्म-बलिदान का पुनीत फल है कि मुझे यह दिन देखना नसीब हुआ। ईश्वर उन्हें सद्गति दें। वह आदमी नहीं, देवता

थे, जिसने मेरे कल्याण के निमित्त अपने प्राण तक समर्पण कर दिये !

पति ने पूछा—दरबारीलाल तुम्हारे चचा हैं ?

अम्बा—हाँ।

पति—इस पत्र में हज़ारीलाल का नाम लिखा है, यह कौन है ?

अम्बा—यह मुंशी दरबारीलाल के बेटे हैं।

पति—तुम्हारे चचेरे भाई ?

अम्बा—नहीं, मेरे परम दयालु उद्धारक, जीवनदाता, मुझे अथाह जल में डूबने से बचानेवाले, मुझे सौभाग्य का वरदान देनेवाले।

पति ने इस भाव से कहा मानो कोई भूली हुई बात याद आ गई हो—अहा ! मैं समझ गया। वास्तव में वह मनुष्य नहीं, देवता थे !

निर्वासन

परशुराम—वहीं, वहीं, वहीं दालान में ठहरो !

मर्यादा—क्यों, क्या मुझमें कुछ छूत लग गया ?

परशुराम—पहले यह बताओ कि तुम इतने दिनों कहाँ रहीं, किसके साथ रहीं, किस तरह रहीं और फिर यहाँ किसके साथ आईं ? तब, तब विचार...देखी जायगी।

मर्यादा—क्या इन बातों के पूछने का यही वक़्त है, फिर अवसर न मिलेगा ?

परशुराम—हाँ, यही बात है। तुम स्नान करके नदी से तो मेरे साथ ही निकली थीं। मेरे पीछे-पीछे कुछ दूर तक आई भी, मैं पीछे फिर-फिरकर तुम्हें देखता जाता था। फिर एकाएक तुम कहाँ ग़ायब हो गईं ?

मर्यादा—तुमने देखा नहीं, नागे साधुओं का एक दल सामने से आ गया। सब आदमी इधर-उधर दौड़ने लगे। मैं भी धक्के में पड़कर जाने किधर चली गई। जब ज़रा भीड़ कम हुई तो तुम्हें ढूँढ़ने लगी।

बासू का नाम ले-लेकर पुकारने लगी, पर तुम न दिखाई दिये।

परशुराम—अच्छा तब ?

मर्यादा—तब मैं एक किनारे बैठकर रोने लगी, कुछ सूझ ही न पड़ता था कि कहाँ जाऊँ, किससे कहूँ, आदमियों से डर लगता था। संध्या तक वहीं बैठी रोती रही।

परशुराम—इतना तूल क्यों देती हो ? वहाँ से फिर कहाँ गई ?

मर्यादा—संध्या को एक युवक ने आकर मुझसे पूछा, तुम्हारे घर के लोग खो तो नहीं गये हैं ? मैंने कहा हाँ। तब उसने तुम्हारा नाम, पता, ठिकाना पूछा। उसने सब एक किताब पर लिख लिया और मुझसे बोला, मेरे साथ आओ, मैं तुम्हें तुम्हारे घर भेज दूँगा।

परशुराम—वह कौन आदमी था ?

मर्यादा—वहाँ की सेवा समिति का स्वयंसेवक था।

परशुराम—तो तुम उसके साथ हो लीं ?

मर्यादा—और क्या करती ? वह मुझे समिति के कार्यालय में ले गया। वहाँ एक शामियाने में एक लम्बी डाढ़ीवाला मनुष्य बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। वही उन सेवकों का अध्यक्ष था। और भी कितने ही सेवक वहाँ खड़े थे। उसने मेरा पता-ठिकाना रजिस्टर में लिखकर मुझे एक अलग शामियाने में भेज दिया, जहाँ और भी कितनी खोई हुई स्त्रियाँ बैठी हुई थीं।

परशुराम—तुमने उसी वक्त अध्यक्ष से क्यों न कहा कि मुझे पहुँचा दीजिये ?

मर्यादा—मैंने एक बार नहीं सैकड़ों बार कहा, लेकिन वह यही कहते रहे, जब तक मेला ख़त्म न हो जाय और सब खोई हुई स्त्रियाँ एकत्र न हो जायँ, मैं भेजने का प्रबन्ध नहीं कर सकता। मेरे पास न इतने आदमी हैं, न इतना धन।

परशुराम—धन की तुम्हें क्या कमी थी, कोई एक सोने की चीज़ बेच देतीं तो काफ़ी रुपए मिल जाते।

मर्यादा—आदमी तो नहीं थे।

परशुराम—तुमने यह कहा था कि ख़र्च की कुछ चिन्ता न कीजिये, मैं अपना गहना बेचकर अदा कर दूँगी ?

मर्यादा—नहीं, यह तो मैंने नहीं कहा।

परशुराम—तुम्हें उस दशा में भी गहने इतने प्रिय थे ?

मर्यादा—और सब स्त्रियाँ कहने लगीं, घबराई क्यों जाती हो ? यहाँ किसी बात का डर नहीं है। हम सभी जल्द से जल्द अपने घर पहुँचना चाहती हैं, मगर क्या करें। तब मैं भी चुपकी हो रही।

परशुराम—और सब स्त्रियाँ कुएँ में गिर पड़तीं तो तुम भी गिर पड़तीं ?

मर्यादा—जानती तो थी कि यह लोग धर्म के नाते मेरी रक्षा कर रहे हैं, कुछ मेरे नौकर या मजूर नहीं हैं, फिर आग्रह किस मुँह से करती ? यह बात भी है कि बहुत-सी स्त्रियों को वहाँ देखकर मुझे कुछ तसल्ली हो गई।

परशुराम—हाँ, इससे बढ़कर तस्कीन की और क्या बात हो सकती थी ? अच्छा, वहाँ कै दिन तस्कीन का आनन्द उठाती रहीं ? मेला तो दूसरे ही दिन उठ गया होगा ?

मर्यादा—रात भर मैं स्त्रियों के साथ उसी शामियाने में रही।

परशुराम—अच्छा, तुमने मुझे तार क्यों न दिलवा दिया ?

मर्यादा—मैंने समझा, जब यह लोग पहुँचाने को कहते ही हैं तो तार क्यों दूँ ?

परशुराम—ख़ैर, रात को तुम वहीं रहीं। युवक बार-बार भीतर आते-जाते रहे होंगे ?

मर्यादा—केवल एक बार एक सेवक भोजन के लिए पूछने आया था, जब हम सबों ने खाने से इनकार कर दिया तो वह चला गया और फिर कोई न आया। मैं तो रात-भर जागती ही रही।

परशुराम—यह मैं कभी न मानूँगा कि इतने युवक वहाँ थे और कोई अन्दर न गया होगा। समिति के युवक आकाश के देवता नहीं होते। ख़ैर, वह दाढ़ीवाला अध्यक्ष तो ज़रूर ही देख-भाल करने गया होगा ?

मर्यादा—हाँ, वह आते थे ; पर द्वार पर से पूछ-पाछकर लौट जाते थे। हाँ, जब एक महिला के पेट में दर्द होने लगा था, तो दो-तीन बार दवाएँ पिलाने आये थे।

परशुराम—निकली न वही बात ! मैं इन धूर्तों की नस-नस पहचानता हूँ। विशेषकर तिलक-मालाधारी दढ़ियलों को तो मैं गुरु-घण्टाल ही समझता हूँ। तो वह महाशय कई बार दवाएँ देने गये ? क्यों, तुम्हारे पेट में तो दर्द नहीं होने लगा था ?

मर्यादा—तुम एक साधु पुरुष पर व्यर्थ आक्षेप कर रहे हो। वह बेचारे एक तो मेरे बाप के बराबर थे, दूसरे आँखें नीची किये रहने के सिवा कभी किसी पर सीधी निगाह नहीं करते थे।

परशुराम—हाँ, वहाँ सब देवता-ही-देवता जमा थे। ख़ैर, तुम रात-भर वहाँ रहीं। दूसरे दिन क्या हुआ ?

मर्यादा—दूसरे दिन भी वहीं रही। एक स्वयंसेवक हम सब स्त्रियों को साथ लेकर मुख्य-मुख्य पवित्र स्थानों का दर्शन कराने गया। दोपहर को लौटकर सबों ने भोजन किया।

परशुराम—तो वहाँ तुमने सैर-सपाटा भी ख़ूब किया, कोई कष्ट न होने पाया। भोजन के बाद गाना-बजाना हुआ होगा ?

मर्यादा—गाना-बजाना तो नहीं, हाँ सब अपना-अपना दुखड़ा रोती रहीं। शाम तक मेला उठ गया, तो दो सेवक हम लोगों को लेकर स्टेशन पर आये।

परशुराम—मगर तुम तो आज सातवें दिन आ रही हो और वह भी अकेली ?

मर्यादा—स्टेशन पर एक दुर्घटना हो गई।

परशुराम—हाँ, यह तो मैं समझ ही रहा था ! क्या दुर्घटना हुई ?

मर्यादा—जब सेवक टिकट लेने जा रहा था, तो एक आदमी ने आकर उससे कहा, यहाँ गोपीनाथ की धर्मशाला में एक बाबूजी ठहरे हुए हैं, उनकी स्त्री खो गई है, उनका भला-सा नाम है, गोरे-गोरे लम्बे-से ख़ूबसूरत आदमी हैं, लखनऊ मकान है ; झवाई टोले में। तुम्हारा

हुलिया उसने ऐसा ठीक बयान किया कि मुझे उस पर विश्वास आ गया। मैं सामने आकर बोली, तुम बाबूजी को जानते हो? वह हँसकर बोला, जानता नहीं हूँ तो तुम्हें तलाश क्यों करता फिरता हूँ। तुम्हारा बच्चा रो-रोकर हलाकान हो रहा है। सब औरतें कहने लगीं, चली जाओ, तुम्हारे स्वामीजी घबरा रहे होंगे। स्वयंसेवक ने उससे दो-चार बातें पूछकर मुझे उसके साथ कर दिया। मुझे क्या मालूम था कि मैं किसी नर-पिशाच के हाथों में पड़ी जाती हूँ। दिल में खुश थी कि अब बाबू को देखूँगी, तुम्हारे दर्शन करूँगी। शायद इसी उत्सुकता ने मुझे असावधान कर दिया।

परशुराम—तो तुम उस आदमी के साथ चल दीं? वह कौन था?

मर्यादा—क्या बतलाऊँ कौन था? मैं तो समझती हूँ, कोई दलाल था।

परशुराम—तुम्हें यह भी न सूझी कि उससे कहतीं, जाकर बाबूजी को भेज दो?

मर्यादा—अदिन आते हैं तो बुद्धि भी तो भ्रष्ट हो जाती है!

परशुराम—कोई आ रहा है।

मर्यादा—मैं गुसलखाने में छिपी जाती हूँ।

परशुराम—आओ भाभी, क्या अभी सोई नहीं, दस तो बज गये होंगे।

भाभी—वासुदेव को देखने को जी चाहता था भैया, क्या सो गया?

परशुराम—हाँ, वह तो अभी रोते-रोते सो गया है।

भाभी—कुछ मर्यादा का पता मिला? अब पता मिले भी तो तुम्हारे किस काम की। घर से निकली हुई स्त्रियाँ थान से छूटी हुई घोड़ी है, जिसका कुछ भरोसा नहीं।

परशुराम—कहाँ से कहाँ मैं उसे लेकर नहाने गया।

भाभी—होनहार है, भैया होनहार! अच्छा तो मैं भी जाती हूँ।

मर्यादा—(बाहर आकर) होनहार नहीं है, तुम्हारी चाल है। वासुदेव को प्यार करने के बहाने तुम इस घर पर अधिकार जमाना चाहती हो।

परशुराम—बको मत ! वह दलाल तुम्हें कहाँ ले गया ?

मर्यादा—स्वामी, यह न पूछिये, मुझे कहते लज्जा आती है।

परशुराम—यहाँ आते तो और भी लज्जा आनी चाहिये थी !

मर्यादा—मैं परमात्मा को साक्षी देती हूँ कि मैंने उसे अपना अंग भी स्पर्श नहीं करने दिया।

परशुराम—उसका हुलिया बयान कर सकती हो ?

मर्यादा—साँवला-सा छोटे डील का आदमी था। नीचा कुरता पहने हुए था।

परशुराम—गले में तावीज़ें भी थीं ?

मर्यादा—हाँ, थीं तो !

परशुराम—वह धर्मशाले का मेहतर था। मैंने उससे तुम्हारे गुम हो जाने की चर्चा की थी। उस दुष्ट ने उसका यह स्वाँग रचा।

मर्यादा—मुझे तो वह कोई ब्राह्मण मालूम होता था।

परशुराम—नहीं मेहतर था। वह तुम्हें अपने घर ले गया ?

मर्यादा—हाँ, उसने मुझे ताँगे पर बैठाया और एक तंग गली में, एक छोटे-से मकान के अन्दर ले जाकर बोला—तुम यहीं बैठो, तुम्हारे बाबूजी यहीं आयेंगे। अब मुझे विदित हुआ कि मुझे धोखा दिया गया। रोने लगी। वह आदमी थोड़ी देर के बाद चला गया और एक बुढ़िया आकर मुझे भाँति-भाँति के प्रलोभन देने लगी। सारी रात रोकर काटी। दूसरे दिन दोनों फिर मुझे समझाने लगे कि रो-रोकर जान दे दोगी, मगर यहाँ कोई तुम्हारी मदद को न आवेगा। तुम्हारा एक घर छूट गया। हम तुम्हें उससे कहीं अच्छा घर देंगे, जहाँ तुम सोने के कौर खाओगी और सोने से लद जाओगी। जब मैंने देखा कि यहाँ से किसी तरह नहीं निकल सकती, तो मैंने कौशल करने का निश्चय किया।

परशुराम—ख़ैर, सुन चुका। मैं तुम्हारा ही कहना माने लेता हूँ कि तुमने अपने सतीत्व की रक्षा की ; पर मेरा हृदय तुमसे घृणा करता है। तुम मेरे लिए फिर वह नहीं हो सकतीं, जो पहले थीं। इस घर में तुम्हारे लिए स्थान नहीं है।

मर्यादा—स्वामीजी, यह अन्याय न कीजिये। मैं आपकी वही स्त्री हूँ जो पहले थी। सोचिये, मेरी क्या दशा होगी?

परशुराम—मैं यह सब सोच चुका और निश्चय कर चुका। आज छः दिन से यही सोच रहा हूँ। तुम जानती हो मुझे समाज का भय नहीं है। छूत-विचार को मैंने पहले ही तिलाञ्जलि दे दी, देवी-देवताओं को पहले ही विदा कर चुका, पर जिस स्त्री पर दूसरी निगाहें पड़ चुकीं, जो एक सप्ताह तक न जाने कहाँ और किस दशा में रही, उसे अंगीकार करना मेरे लिए असम्भव है। अगर यह अन्याय है, तो ईश्वर की ओर से है, मेरा दोष नहीं।

मर्यादा—मेरी विवशता पर आपको ज़रा भी दया नहीं आती?

परशुराम—जहाँ घृणा है वहाँ दया कहाँ? मैं अब भी तुम्हारा भरण-पोषण करने को तैयार हूँ। जब तक जिऊँगा, तुम्हें अन्न-वस्त्र का कष्ट न होगा। पर अब तुम मेरी स्त्री नहीं हो सकतीं।

मर्यादा—मैं अपने पुत्र का मुँह न देखूँ, अगर किसी ने मुझे स्पर्श भी किया हो।

परशुराम—तुम्हारा किसी अन्य पुरुष के साथ क्षण-भर भी एकान्त में रहना तुम्हारे पातिव्रत को नष्ट करने के लिए बहुत है। यह विचित्र बन्धन है, रहे तो जन्म-जन्मान्तर तक रहे, टूटे तो क्षण-भर में टूट जाय। तुम्हीं बताओ, किसी मुसलमान ने ज़बरदस्ती मुझे अपना उच्छिष्ट भोजन खिला दिया होता तो तुम मुझे स्वीकार करतीं?

मर्यादा—वह...वह...तो दूसरी बात है।

परशुराम—नहीं, एक ही बात है। जहाँ भावों का सम्बन्ध है, वहाँ तर्क और न्याय से काम नहीं चलता। यहाँ तक कि अगर कोई कह दे कि तुम्हारे पानी को मेहतर ने छू लिया है, तब भी उसे ग्रहण करने से तुम्हें घृणा आयेगी। अपने ही दिल से सोचो कि मैं तुम्हारे साथ न्याय कर रहा हूँ या अन्याय?

मर्यादा—मैं तुम्हारी छुई हुई चीज़ न खाती, तुमसे पृथक् रहती, पर तुम्हें घर से तो न निकाल सकती थी। मुझे इसीलिए न दुत्कार रहे हो

कि तुम घर के स्वामी हो और समझते हो कि मैं इसका पालन करता हूं।

परशुराम—यह बात नहीं है। मैं इतना नीच नहीं हूं।

मर्यादा—तो तुम्हारा यह अन्तिम निश्चय है ?

परशुराम—हां, अन्तिम !

मर्यादा—जानते हो इसका परिणाम क्या होगा ?

परशुराम—जानता भी हूं और नहीं भी जानता।

मर्यादा—मुझे वासुदेव को ले जाने दोगे ?

परशुराम—वासुदेव मेरा पुत्र है।

मर्यादा—उसे एक बार प्यार कर लेने दोगे ?

परशुराम—अपनी इच्छा से नहीं, हां तुम्हारी इच्छा हो तो दूर से देख सकती हो।

मर्यादा—तो जाने दो, न देखूँगी। समझ लूँगी कि मैं विधवा भी हूँ और बाँझ भी। चलो मन ! अब इस घर में तुम्हारा निबाह नहीं है। चलो, जहां भाग्य ले जाय !

नैराश्य-लीला

पण्डित हृदयनाथ अयोध्या के एक सम्मानित पुरुष थे। धनवान् तो नहीं लेकिन खाने-पीने से खुश थे। कई मकान थे, उन्हीं के किराये पर गुज़र होता था। इधर किराये बढ़ गये थे जिससे उन्होंने अपनी सवारी भी रख ली थी। बहुत विचारशील आदमी थे, अच्छी शिक्षा पाई थी, संसार का काफ़ी तजुरबा था, पर क्रियात्मक शक्ति से वंचित थे, सब कुछ जानते हुए भी कुछ न जानते थे। समाज उनकी आंखों में एक भयंकर भूत था जिससे सदैव डरते रहना चाहिये; उसे ज़रा भी रुष्ट किया तो फिर जान की ख़ैर नहीं। उनकी स्त्री जागेश्वरी उनका प्रतिबिम्ब थी, पति के विचार उसके विचार, और पति की इच्छा उसकी इच्छा थी। दोनों प्राणियों में कभी मतभेद न होता था। जागेश्वरी

शिव की उपासक थी, हृदयनाथ वैष्णव थे, पर दान और व्रत में दोनों को समान श्रद्धा थी। दोनों धर्मनिष्ठ थे, उससे कहीं अधिक, जितना सामान्यतः शिक्षित लोग हुआ करते हैं। इसका कदाचित् यह कारण था कि एक कन्या के सिवा उनके और कोई सन्तान न थी। उसका विवाह तेरहवें वर्ष में हो गया था, और माता-पिता को अब यही लालसा थी कि भगवान् इसे पुत्रवती करें तो हम लोग नवासे के नाम अपना सब कुछ लिख-लिखाकर निश्चिन्त हो जायँ।

किन्तु विधाता को कुछ और ही मंजूर था। कैलासकुमारी का अभी गौना भी न हुआ था, वह अभी तक यह भी न जानने पाई थी कि विवाह का आशय क्या है, कि उसका सोहाग उठ गया। वैधव्य ने उसके जीवन की अभिलाषाओं का दीपक बुझा दिया।

माता और पिता विलाप कर रहे थे, घर में कुहराम मचा हुआ था, पर कैलासकुमारी भौचक्की हो-होकर सबके मुँह की ओर ताकती थी। उसकी समझ ही में न आता था कि यह लोग रोते क्यों हैं? मा-बाप की इकलौती बेटी थी। मा-बाप के अतिरिक्त वह किसी तीसरे व्यक्ति को अपने लिए आवश्यक न समझती थी। उसकी सुख-कल्पनाओं में अभी तक पति का प्रवेश न हुआ था। वह समझती थी, स्त्रियाँ पति के मरने पर इसीलिए रोती हैं कि वह उनका और उनके बच्चों का पालन करता है। मेरे घर में किस बात की कमी है? मुझे इसकी क्या चिन्ता है कि खायँगे क्या, पहनेंगे क्या? मुझे जिस चीज़ की ज़रूरत होगी, बाबूजी तुरन्त ला देंगे; अम्माँ से जो चीज़ माँगूँगी, वह तुरंत दे देंगी। फिर रोऊँ क्यों? वह अपनी माँ को रोते देखती तो रोती, पति के शोक से नहीं, माँ के प्रेम से! कभी सोचती, शायद यह लोग इसलिए रोते हैं कि कहीं मैं कोई ऐसी चीज़ न माँग बैठूँ, जिसे वह दे न सकें। तो मैं ऐसी चीज़ माँगूँगी ही क्यों? मैं अब भी तो उनसे कुछ नहीं माँगती, वह आप ही मेरे लिए एक-न-एक चीज़ नित्य लाते रहते हैं। क्या मैं अब कुछ और हो जाऊँगी? इधर माता का यह हाल था कि बेटी की सूरत देखते ही आँखों से आँसू की झड़ी लग जाती। बाप की

दशा और भी करुणाजनक थी। घर से आना-जाना छोड़ दिया। सिर पर हाथ धरे कमरे में अकेले उदास बैठे रहते। उसे विशेष दुःख इस बात का था कि सहेलियाँ भी अब उसके साथ खेलने न आतीं। उसने उनके घर जाने की माता से आज्ञा माँगी तो वह फूट फूटकर रोने लगीं। माता-पिता की यह दशा देखी तो उसने उनके सामने आना छोड़ दिया, बैठी क़िस्से-कहानियाँ पढ़ा करती। उसकी एकान्तप्रियता का मा-बाप ने कुछ और ही अर्थ समझा। लड़की शोक के मारे घुली जाती है, इस वज्राघात ने उसके हृदय को टुकड़े-टुकड़े कर डाला है।

एक दिन हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जी चाहता है, घर छोड़कर कहीं भाग जाऊँ। इसका कष्ट अब नहीं देखा जाता!

जागेश्वरी—मेरी तो भगवान् से यही प्रार्थना है कि मुझे संसार से उठा लें। कहाँ तक छाती पर पत्थर की सिल रखूँ।

हृदयनाथ—किसी भाँति इसका मन बहलाना चाहिये, जिसमें शोकमय विचार आने ही न पायें। हम लोगों को दुःखी और रोते देखकर उसका दुःख और भी दारुण हो जाता है।

जागेश्वरी—मेरी तो बुद्धि कुछ काम नहीं करती।

हृदयनाथ—हम लोग योंही मातम करते रहे, तो लड़की की जान पर बन जायगी। अब कभी-कभी उसे लेकर सैर करने चली जाया करो। कभी-कभी थिएटर दिखा दिया, कभी घर में गाना-बजाना करा दिया। इन बातों से उसका दिल बहलता रहेगा।

जागेश्वरी—मैं तो उसे देखते ही रो पड़ती हूँ। लेकिन अब जब्त करूँगी। तुम्हारा विचार बहुत अच्छा है। बिना दिल-बहलाव के उसका शोक दूर न होगा।

हृदयनाथ—मैं भी अब उससे दिल बहलानेवाली बातें किया करूँगा। कल एक सैरबीं लाऊँगा, अच्छे अच्छे दृश्य जमा करूँगा। ग्रामोफ़ोन तो आज ही मँगवाये देता हूँ। बस, उसे हर वक्त किसी-न-किसी काम में लगाये रहना चाहिये। (एकान्तवास शोक ज्वाला के लिए समीर के समान है)

उस दिन से जागेश्वरी ने कैलासकुमारी के लिए विनोद और प्रमोद के सामान जमा करने शुरू किये। कैलासी मा के पास आती तो उसकी आँखों में आँसू की बूँदें न देखती, होठों पर हँसी की आभा दिखाई देती। वह मुसकराकर कहती—बेटी, आज थिएटर में बहुत अच्छा तमाशा होनेवाला है, चलो देख आयें। कभी गंगा-स्नान की ठहरती, वहाँ मा-बेटी किश्ती पर बैठकर नदी में जल-विहार करतीं, कभी दोनों संध्या-समय पार्क की ओर चली जातीं। धीरे-धीरे सहेलियाँ भी आने लगीं। कभी सब-की-सब बैठकर ताश खेलतीं, कभी गातीं-बजातीं। पंडित हृदयनाथ ने भी विनोद की सामग्रियाँ जुटाईं। कैलासी को देखते ही मग्न होकर बोलते—बेटी आओ, तुम्हें आज काश्मीर के दृश्य दिखाऊँ; कभी कहते, आओ आज स्विट्ज़रलैंड की अनुपम झीलों और झरनों की छटा देखें, कभी ग्रामोफ़ोन बजाकर उसे सुनाते। कैलासी इन सैर-सपाटों का खूब आनन्द उठाती। इतने सुख से उसके दिन कभी न गुजरे थे।

(२)

इस भाँति दो वर्ष बीत गये। कैलासी सैर-तमाशे की इतनी आदी हो गई कि एक दिन भी थिएटर न जाती तो बेकली-सी होने लगती। (मनोरंजन नवीनता का दास है और समानता का शत्रु) थिएटरों के बाद सिनेमा की सनक सवार हुई। सिनेमा के बाद मिस्मेरिज़्म और हिप्नोटिज़्म के तमाशों की। ग्रामोफ़ोन के नये रिकार्ड आने लगे। संगीत का चस्का पड़ गया। बिरादरी में कहीं उत्सव होता तो मा-बेटी अवश्य जातीं। कैलासी नित्य इसी नशे में डूबी रहती, चलती तो कुछ गुनगुनाती हुई, किसी से बातें करती तो वही थिएटर और सिनेमा की। भौतिक संसार से अब उसे कोई वास्ता न था, अब उसका निवास कल्पना-संसार में था। दूसरे लोक की निवासिनी होकर उसे प्राणियों से कोई सहानुभूति न रही, किसी के दुःख पर ज़रा भी दया न आती। स्वभाव में उच्छृङ्खलता का विकास हुआ, अपनी सुरुचि पर गर्व करने लगी। सहेलियों से डींग मारती, यहाँ के लोग मूर्ख हैं, यह सिनेमा की

कद्र क्या करेंगे। इसकी कद्र तो पश्चिम के लोग करते हैं। वहाँ मनोरंजन की सामग्रियाँ उतनी ही आवश्यक हैं जितनी हवा। तभी तो वे इतने प्रसन्न-चित्त रहते हैं, मानो किसी बात की चिन्ता ही नहीं। यहाँ किसी को इसका रस ही नहीं। जिन्हें भगवान् ने सामर्थ्य भी दिया है, वह भी सरेशाम से मुँह ढाँपकर पड़ रहते हैं। सहेलियाँ कैलासी की यह गर्व-पूर्ण बातें सुनतीं और उसकी और भी प्रशंसा करतीं। वह उनका अपमान करने के आवेग में आप ही हास्यास्पद बन जाती थी।

पड़ोसियों में इन सैर-सपाटों की चर्चा होने लगी। लोक-सम्मति किसी की रिआयत नहीं करती। किसी ने सिर पर टोपी टेढ़ी रखी और पड़ोसियों की आँखों में खुबा, कोई ज़रा अकड़कर चला और पड़ोसियों ने आवाज़ें कसीं। विधवा के लिए पूजा-पाठ है, तीर्थ व्रत है, मोटा खाना है, मोटा पहनना है; उसे विनोद और विलास, राग और रंग की क्या ज़रूरत? विधाता ने उसके सुख के द्वार बन्द कर दिये हैं। लड़की प्यारी सही, लेकिन शर्म और हया भी तो कोई चीज़ है! जब मा-बाप ही उसे सिर चढ़ाये हुए हैं तो उसका क्या दोष? मगर एक दिन आँखें खुलेंगी अवश्य। महिलाएँ कहतीं, बाप तो मर्द हैं, लेकिन मा कैसी है, उसको ज़रा भी विचार नहीं कि दुनिया क्या कहेगी। कुछ उन्हीं की एक दुलारी बेटी थोड़े ही है, इस भाँति मन बढ़ाना अच्छा नहीं।

कुछ दिनों तक तो यह खिचड़ी आपस में पकती रही। अंत को एक दिन कई महिलाओं ने जागेश्वरी के घर पदार्पण किया। जागेश्वरी ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। कुछ देर तक इधर-उधर की बातें करने के बाद एक महिला बोली—महिलाएँ रहस्य की बातें करने में बहुत अभ्यस्त होती हैं—बहन, तुम्हीं मजे में हो कि हँसी-खुशी में दिन काट देती हो। हमें तो दिन पहाड़ हो जाता है। न कोई काम न धंधा, कोई कहाँ तक बातें करे?

दूसरी देवी ने आँखें मटकाते हुए कहा—अरे, तो यह तो बदे की बात है। सभी के दिन हँसी-खुशी में कटें तो रोये कौन। यहाँ तो सुबह से शाम तक चक्की-चूल्हे ही से छुट्टी नहीं मिलती; किसी बच्चे

को दस्त आ रहे हैं, तो किसी को ज्वर चढ़ा हुआ है। कोई मिठाइयों की रट लगा रहा है, तो कोई पैसों के लिए महनामथ मचाये हुए है। दिन-भर हाय-हाय करते बीत जाता है। सारे दिन कठपुतलियों की भाँति नाचती रहती हूँ।

तीसरी रमणी ने इस कथन का रहस्यमय भाव से विरोध किया—बच्चे की बात नहीं है, वैसा दिल चाहिये। तुम्हें तो कोई राजसिंहासन पर बिठा दे तब भी तस्कीन न होगी। तब और भी हाय-हाय करोगी।

इस पर एक वृद्धा ने कहा—नौज ऐसा दिल! यह भी कोई दिल है कि घर में चाहे आग लग जाय, दुनिया में कितना ही उपहास हो रहा हो, लेकिन आदमी अपने राग-रंग में मस्त रहे! वह दिल है कि पत्थर! हम गृहिणी कहलाती हैं, हमारा काम है अपनी गृहस्थी में रत रहना! आमोद-प्रमोद में दिन काटना हमारा काम नहीं।

और महिलाओं ने इस निर्दय व्यंग्य पर लज्जित होकर सिर झुका दिया। वे जागेश्वरी की चुटकियाँ लेनी चाहती थीं, उसके साथ बिल्ली और चूहे की निर्दय क्रीड़ा करना चाहती थीं। आहत को तड़पाना उनका उद्देश्य था। इस खुली हुई चोट ने उनके पर-पीड़न प्रेम के लिए कोई गुँजाइश न छोड़ी। तुरंत बात पलट दी, और स्त्री-शिक्षा पर बहस करने लगीं; किन्तु जागेश्वरी को ताड़ना मिल गई। स्त्रियों के विदा होने के बाद उसने जाकर पति से यह सारी कथा सुनाई। हृदयनाथ उन पुरुषों में न थे, जो प्रत्येक अवसर पर अपनी आत्मिक स्वाधीनता का स्वाँग भरते हैं, हठधर्मी को आत्म-स्वातंत्र्य के नाम से छिपाते हैं। वह सचिन्त भाव से बोले—तो अब क्या होगा?

जागेश्वरी—तुम्हीं कोई उपाय सोचो।

हृदयनाथ—पड़ोसियों ने जो आक्षेप किया है, वह सर्वथा उचित है। कैलासकुमारी के स्वभाव में मुझे एक विचित्र अन्तर दिखाई दे रहा है। मुझे स्वयं ज्ञात हो रहा है कि उसके मन-बहलाव के लिए हम लोगों ने जो उपाय निकाला है, वह मुनासिब नहीं है। उनका यह कथन सत्य है कि विधवाओं के लिए यह आमोद-विनोद वर्जित है।

अब हमें यह परिपाटी छोड़नी पड़ेगी।

जागेश्वरी—लेकिन कैलासी तो इन खेल तमाशों के बिना एक दिन भी नहीं रह सकती।

हृदयनाथ—उसकी मनोवृत्तियों को बदलना पड़ेगा।

(३)

शनैः-शनैः यह विलासोन्माद शान्त होने लगा। वासना का तिरस्कार किया जाने लगा। पंडितजी संध्या समय ग्रामोफ़ोन न बजाकर कोई धर्म-ग्रन्थ पढ़कर सुनाते। स्वाध्याय, संयम, उपासना में मा-बेटी रत रहने लगीं। कैलासी को गुरुजी ने दीक्षा दी, मुहल्ले और बिरादरी की स्त्रियाँ आईं, उत्सव मनाया गया।

मा-बेटी अब किश्ती पर सैर करने के लिए गंगा न जातीं, बल्कि स्नान करने के लिए। मंदिरों में नित्य जातीं। दोनों एकादशी का निर्जल व्रत रखने लगीं। कैलासी को गुरुजी नित्य संध्या समय धर्मोपदेश करते। कुछ दिन तक तो कैलासी को यह विचार-परिवर्तन बहुत कष्टजनक मालूम हुआ, पर धर्मनिष्ठा नारियों का स्वाभाविक गुण है, थोड़े ही दिनों में उसे धर्म मे रुचि हो गई। अब उसे अपनी अवस्था का ज्ञान होने लगा था। विषय-वासना से चित्त आप ही-आप खिंचने लगा। 'पति' का यथार्थ आशय समझ में आने लगा था। पति ही स्त्री का सच्चा मित्र, सच्चा पथ-प्रदर्शक और सच्चा सहायक है। पति-विहीन होना किसी घोर पाप का प्रायश्चित्त है। मैंने पूर्व-जन्म में कोई अकर्म किया होगा। पतिदेव जीवित होते तो मैं फिर माया में फँस जाती। प्रायश्चित्त का अवसर कहाँ मिलता! गुरुजी का वचन सत्य है कि परमात्मा ने तुम्हें पूर्व-कर्मों के प्रायश्चित्त का यह अवसर दिया है। वैधव्य यातना नहीं है, जीवोद्धार का साधन है। मेरा उद्धार त्याग, विराग, भक्ति और उपासना ही से होगा।

कुछ दिनों के बाद उसकी धार्मिक वृत्ति इतनी प्रबल हो गई, कि अन्य प्राणियों से वह पृथक् रहने लगी, किसी को न छूती, महरियों से दूर रहती, सहेलियों से गले तक न मिलती, दिन में दो-दो, तीन-तीन

बार स्नान करती, हमेशा कोई-न-कोई धर्म-ग्रंथ पढ़ा करती। साधु-महात्माओं के सेवा-सत्कार में उसे आत्मिक सुख प्राप्त होता। जहाँ किसी महात्मा के आने की ख़बर पाती, उनके दर्शनों के लिए विकल हो जाती। उनकी अमृतवाणी सुनने से जी न भरता। मन संसार से विरक्त होने लगा। तल्लीनता की अवस्था प्राप्त हो गई। घण्टों ध्यान और चिन्तन में मग्न रहती। सामाजिक बन्धनों से घृणा हो गई। हृदय स्वाधीनता के लिए लालायित हो गया। यहाँ तक कि तीन ही बरसों में उसने संन्यास ग्रहण करने का निश्चय कर लिया।

मा-बाप को यह समाचार ज्ञात हुआ तो होश उड़ गये। मा बोली—बेटी, अभी तुम्हारी उम्र ही क्या है कि तुम ऐसी बातें सोचती हो?

कैलासकुमारी—माया-मोह से जितनी जल्द निवृत्ति हो जाय उतना ही अच्छा।

हृदयनाथ—क्या अपने घर में रहकर माया-मोह से मुक्त नहीं हो सकती हो? माया-मोह का स्थान मन है, घर नहीं।

जागेश्वरी—कितनी बदनामी होगी!

कैलासकुमारी—अपने को भगवान् के चरणों पर अर्पण कर चुकी तो मुझे बदनामी की क्या चिन्ता?

जागेश्वरी—बेटी, तुम्हें न हो, हमको तो है। हमें तो तुम्हारा ही सहारा है। तुमने जो संन्यास ले लिया तो हम किस आधार पर जियेंगे?

कैलासकुमारी—परमात्मा ही सबका आधार है। किसी दूसरे प्राणी का आश्रय लेना भूल है।

दूसरे दिन यह बात मुहल्लेवालों के कानों में पहुँच गई। जब कोई अवस्था असाध्य हो जाती है, तो हम उस पर व्यंग करने लगते हैं। 'यह तो होना ही था, नयी बात क्या हुई, लड़कियों को इस तरह स्वच्छन्द नहीं कर दिया जाता, फूले न समाते थे कि लड़की ने कुल का नाम उज्ज्वल कर दिया। पुराण पढ़ती है, उपनिषद् और वेदान्त का पाठ करती है, धार्मिक समस्याओं पर ऐसी-ऐसी दलीलें करती है कि बड़े-बड़े विद्वानों की ज़बान बन्द हो जाती है, तो अब क्यों पछताते

है ?" भद्र पुरुषों में कई दिनों तक यही आलोचना होती रही। लेकिन जैसे अपने बच्चे के दौड़ते दौड़ते धम से गिर पड़ने पर हम पहले क्रोध के आवेश में उसे झिड़कियाँ सुनाते हैं, इसके बाद गोद में बिठाकर आँसू पोंछने और फुसलाने लगते हैं, उसी तरह इन भद्र पुरुषों ने व्यंग के बाद इस गुत्थी के सुलझाने का उपाय सोचना शुरू किया। कई सज्जन हृदयनाथ के पास आये और सिर झुकाकर बैठ गये। विषय का आरम्भ कैसे हो ?

कई मिनट के बाद एक सज्जन ने कहा—सुना है, डाक्टर गौड़ का प्रस्ताव आज बहुमत से स्वीकृत हो गया।

दूसरे महाशय बोले—यह लोग हिन्दू-धर्म का सर्वनाश करके छोड़ेंगे।

तीसरे महानुभाव ने फ़रमाया—सर्वनाश तो हो ही रहा है, अब और कोई क्या करेगा। जब हमारे साधु-महात्मा, जो हिन्दू-जाति के स्तम्भ हैं, इतने पतित हो गये हैं कि भोली-भाली युवतियों को बहकाने में संकोच नहीं करते तो सर्वनाश होने में रह ही क्या गया।

हृदयनाथ—यह विपत्ति तो मेरे सिर ही पड़ी हुई है। आप लोगों को तो मालूम होगा।

पहले महाशय—आप ही के सिर क्यों, हम सभी के सिर पड़ी हुई है।

दूसरे महाशय—समस्त जाति के सिर कहिये।

हृदयनाथ—उद्धार का कोई उपाय सोचिये।

पहले महाशय—आपने समझाया नहीं ?

हृदयनाथ—समझाके हार गया। कुछ सुनती ही नहीं।

तीसरे महाशय—पहले ही भूल हुई। उसे इस रास्ते पर डालना ही न चाहिये था।

पहले महाशय—उस पर पछताने से क्या होगा। सिर पर जो पड़ी है, उसका उपाय सोचना चाहिये। आपने समाचारपत्रों में देखा होगा, कुछ लोगों की सलाह है कि विधवाओं से अध्यापकों का काम लेना

चाहिये। यद्यपि मैं इसे भी बहुत अच्छा नहीं समझता, पर संन्यासिनी बनने से तो कहीं अच्छा है। लड़की अपनी आँखों के सामने तो रहेगी। अभिप्राय केवल यही है कि कोई ऐसा काम होना चाहिये, जिसमें लड़की का मन लगे। किसी अवलम्ब के विना मनुष्य को भटक जाने की शंका सदैव बनी रहती है। जिस घर में कोई नहीं रहता उसमें चमगादड़ बसेरा लेते हैं।

दूसरे महाशय—सलाह तो अच्छी है। मुहल्ले की दस-पाँच कन्याएँ पढ़ने के लिए बुला ली जायें। उन्हें किताबें, गुड़ियाँ आदि इनाम मिलता रहे तो बड़े शौक से आयेंगी। लड़की का मन तो लग जायगा।

हृदयनाथ—देखा चाहिये। भरसक समझाऊँगा!

ज्योंही यह लोग विदा हुए, हृदयनाथ ने कैलासकुमारी के सामने यह तजवीज़ पेश की। कैलासी को संन्यस्त के उच्चपद के सामने अध्यापिका बनना अपमानजनक जान पड़ता था। कहाँ वह महात्माओं का सत्संग, वह पर्वतों की गुफ़ा, वह सुरम्य प्राकृतिक दृश्य, वह हिमराशि की ज्ञान-मय ज्योति, वह मानसरोवर और कैलाश की शुभ्र छटा, वह आत्मदर्शन की विशाल कल्पनाएँ, और कहाँ बालिकाओं को चिड़ियों की भाँति पढ़ाना। लेकिन हृदयनाथ कई दिनों तक लगातार सेवा-धर्म का माहात्म्य उसके हृदय पर अंकित करते रहे। सेवा ही वास्तविक संन्यास है। संन्यासी केवल अपनी मुक्ति का इच्छुक होता है, सेवा-व्रतधारी अपने को परमार्थ की वेदी पर बलि दे देता है। इसका गौरव कहीं अधिक है। देखो, ऋषियों में दधीचि का जो यश है, हरिश्चन्द्र की जो कीर्ति है, उसकी तुलना और कहाँ की जा सकती है। संन्यास स्वार्थ है, सेवा त्याग है, आदि। उन्होंने इस कथन की उपनिषदों और वेदमंत्रों से पुष्टि की। यहाँ तक कि धीरे-धीरे कैलासी के विचारों में परिवर्तन होने लगा। पंडितजी ने मुहल्लेवालों की लड़कियों को एकत्र किया, पाठशाला का जन्म हो गया। नाना प्रकार के चित्र और खिलौने मँगाये गये। पंडितजी स्वयं कैलासकुमारी के साथ लड़कियों को पढ़ाते। कन्याएँ शौक़ से आतीं। उन्हें यहाँ की पढ़ाई खेल

मालूम होती। थोड़े ही दिनों में पाठशाला की धूम हो गई, अन्य मुहल्लों की कन्याएँ भी आने लगीं।

(४)

कैलासकुमारी की सेवा-प्रवृत्ति दिनोंदिन तीव्र होने लगी। दिन-भर लड़कियों को लिये रहती, कभी पढ़ाती, कभी उनके साथ खेलती, कभी सीना-पिरोना सिखाती। पाठशाला ने परिवार का रूप धारण कर लिया। कोई लड़की बीमार हो जाती तो तुरन्त उसके घर जाती, उसकी सेवा-सुश्रूषा करती, गाकर या कहानियाँ सुनाकर उसका दिल बहलाती।

पाठशाला को खुले हुए साल-भर हुआ था। एक लड़की को, जिससे वह बहुत प्रेम करती थी, चेचक निकल आई। कैलासी उसे देखने गई। मा-बाप ने बहुत मना किया, पर उसने न माना, कहा तुरत लौट आऊँगी। लड़की की हालत ख़राब थी। कहाँ तो रोते-रोते तालू सूखता था, कहाँ कैलासी को देखते ही मानो सारे कष्ट भाग गये। कैलासी एक घण्टे तक वहाँ रही। लड़की बराबर उससे बातें करती रही। लेकिन जब वह चलने को उठी, तो लड़की ने रोना शुरू किया। कैलासी मजबूर होकर बैठ गई। थोड़ी देर के बाद जब वह फिर उठी तो फिर लड़की की यही दशा हो गई। लड़की उसे किसी तरह छोड़ती ही न थी। सारा दिन गुज़र गया। रात को भी लड़की ने न आने दिया। हृदयनाथ उसे बुलाने को बार-बार आदमी भेजते, पर वह लड़की को छोड़कर न जा सकती। उसे ऐसी शंका होती थी कि मैं यहाँ से चली और लड़की हाथ से गई। उसकी मा विमाता थी। इससे कैलासी को उसके ममत्व पर विश्वास न होता था। इस प्रकार वह तीन दिनों तक वहाँ रही। आठों पहर बालिका के सिरहाने बैठी पंखा झलती रहती। बहुत थक जाती तो दीवार से पीठ टेक लेती। चौथे दिन लड़की की हालत कुछ सँभलती हुई मालूम हुई तो वह अपने घर आई। मगर अभी स्नान भी न करने पाई थी कि आदमी पहुँचा—जल्द चलिये, लड़की रो-रोकर जान दे रही है।

हृदयनाथ ने कहा—कह दो, अस्पताल से कोई नर्स बुला लें।

कैलासकुमारी—दादा, आप व्यर्थ में झुँझलाते हैं। उस बेचारी की जान बच जाये, मैं तीन दिन नहीं, तीन महीने उसकी सेवा करने को तैयार हूँ। आख़िर यह देह किस दिन काम आयेगी।

हृदयनाथ—तो और कन्याएँ कैसे पढ़ेंगी?

कैलासी—दो-एक दिन में वह अच्छी हो जायगी, दाने मुरझाने लगे हैं, तब तक आप ज़रा इन लड़कियों की देख-भाल करते रहियेगा।

हृदयनाथ—यह बीमारी छूत से फैलती है।

कैलासी—(हँसकर) मर जाऊँगी तो आपके सिर से एक विपत्ति टल जायगी!

यह कहकर उसने उधर की राह ली। भोजन की थाली परसी रह गई।

तब हृदयनाथ ने जागेश्वरी से कहा—जान पड़ता है, बहुत जल्द यह पाठशाला भी बन्द करनी पड़ेगी।

जागेश्वरी—बिना माँझी के नाव पार लगाना कठिन है। जिधर हवा पाती है, उधर ही बह जाती है।

हृदयनाथ—जो रास्ता निकालता हूँ, वही कुछ दिनों के बाद किसी दलदल में फँसा देता है। अब फिर बदनामी के सामान होते नज़र आ रहे हैं। लोग कहेंगे, लड़की दूसरों के घर जाती है और कई-कई दिन पड़ी रहती है। क्या करूँ, कह दूँ, लड़कियों को न पढ़ाया करो?

जागेश्वरी—इसके सिवा और हो ही क्या सकता है?

कैलासकुमारी दो दिन के बाद लौटी, तो हृदयनाथ ने पाठशाला बन्द कर देने की समस्या उसके सामने रखी। कैलासी ने तीव्र स्वर से कहा—अगर आपको बदनामी का इतना भय है, तो मुझे विष दे दीजिये। इसके सिवा बदनामी से बचने का और कोई उपाय नहीं है।

हृदयनाथ—बेटी, संसार में रहकर तो संसार की-सी करनी ही पड़ेगी।

आजकल के लड़कियों की तरह

कैलासी—तो कुछ मालूम भी तो हो कि संसार मुझसे क्या चाहता है। मुझमें जीव है, चेतना है, जड़ क्योंकर बन जाऊँ। मुझसे यह

नहीं हो सकता कि अपने को अभागिनी, दुखिया समझूँ और एक टुकड़ा रोटी खाकर पड़ी रहूँ। ऐसा क्यों करूँ? संसार मुझे जो चाहे समझे, मैं अपने को अभागिनी नहीं समझती। मैं अपने आत्म-सम्मान की रक्षा आप कर सकती हूँ। मैं इसे अपना घोर अपमान समझती हूँ कि पग-पग पर मुझ पर शंका की जाय, नित्य कोई चरवाहों की भाँति मेरे पीछे लाठी लिये घूमता रहे कि किसी के खेत में न जा पड़ूँ! यह दशा मेरे लिए असह्य है।

यह कहकर कैलासकुमारी वहाँ से चली गई कि कहीं मुँह से अनर्गल शब्द न निकल पड़ें। इधर कुछ दिनों से उसे अपनी बेकसी का यथार्थ ज्ञान होने लगा था। स्त्री पुरुष की कितनी अधीन है, मानो स्त्री को विधाता ने इसीलिए बनाया है कि पुरुषों के अधीन रहे! यह सोचकर वह समाज के अत्याचार पर दाँत पीसने लगती।

पाठशाला तो दूसरे ही दिन से बन्द हो गई, किन्तु उसी दिन से कैलासकुमारी को पुरुषों से जलन होने लगी। जिस सुख-भोग से प्रारब्ध हमें वंचित कर देता है, उससे हमें द्वेष हो जाता है। ग़रीब आदमी इसीलिए तो अमीरों से जलता है और धन की निन्दा करता है। कैलासी बार-बार झुँझलाती कि स्त्री क्यों पुरुष पर इतनी अवलम्बित है? पुरुष क्यों स्त्री के भाग्य का विधायक है? स्त्री क्यों नित्य पुरुषों का आश्रय चाहे, उनका मुँह ताके? इसीलिए न कि स्त्रियों में अभिमान नहीं है, आत्म-सम्मान नहीं है। नारी-हृदय के कोमल भाव, उसे कुत्ते का दुम हिलाना मालूम होने लगे। प्रेम कैसा? यह सब ढोंग है। स्त्री पुरुष के अधीन है, उसकी ख़ुशामद न करे, सेवा न करे, तो उसका निर्वाह कैसे हो।

एक दिन उसने अपने बाल गूँथे और जूड़े में एक गुलाब का फूल लगा लिया। मा ने देखा तो ओंठ से जीभ दबा ली। महरियों ने छाती पर हाथ रखे।

इसी तरह उसने एक दिन रंगीन रेशमी साड़ी पहन ली। पड़ोसिनों में इस पर ख़ूब आलोचनाएँ हुईं।

उसने एकादशी का व्रत रखना छोड़ दिया जो पिछले ८ बरसों से रखती आई थी। कंघी और आईने को वह अब त्याज्य न समझती थी।

सहालग के दिन आये। नित्य-प्रति उसके द्वार पर से बरातें निकलतीं। मुहल्ले की स्त्रियाँ अपनी-अपनी अटारियों पर खड़ी होकर देखतीं। वर के रंग-रूप, आकार-प्रकार पर टीकाएँ होतीं, जागेश्वरी से भी बिना एक आँख देखे न रहा जाता। लेकिन कैलासकुमारी कभी भूलकर भी इन जुलूसों को न देखती। कोई बरात या विवाह की बात चलाता तो वह मुँह फेर लेती। उसकी दृष्टि में वह विवाह नहीं, भोली-भाली कन्याओं का शिकार था। बरातों को यह शिकारियों के कुत्ते समझती। यह विवाह नहीं है, स्त्री का बलिदान है।

(५)

तीज का व्रत आया। घरों में सफ़ाई होने लगी। रमणियाँ इस व्रत को रखने की तैयारियाँ करने लगीं। जागेश्वरी ने भी व्रत का सामान किया। नई-नई साड़ियाँ मँगवाईं। कैलासकुमारी के ससुराल से इस अवसर पर कपड़े, मिठाइयाँ और खिलौने आया करते थे। अबकी भी आये। यह विवाहिता स्त्रियों का व्रत है। इसका फल है पति का कल्याण। विधवाएँ भी इस व्रत का यथोचित रीति से पालन करती हैं। पति से उनका सम्बन्ध शारीरिक नहीं, वरन् आध्यात्मिक होता है। उसका इस जीवन के साथ अन्त नहीं होता, अनन्त काल तक जीवित रहता है। कैलासकुमारी अब तक यह व्रत रखती आई थी। अबकी उसने निश्चय किया मैं यह व्रत न रखूँगी। मा ने सुना तो माथा ठोक लिया। बोली—बेटी, यह व्रत रखना तुम्हारा धर्म है।

कैलासकुमारी—पुरुष भी स्त्रियों के लिए कोई व्रत रखते हैं?

जागेश्वरी—मर्दों में इसकी प्रथा नहीं है।

कैलासकुमारी—इसीलिए न कि पुरुषों को स्त्रियों की जान उतनी प्यारी नहीं होती जितनी स्त्रियों को पुरुषों की जान?

जागेश्वरी—स्त्रियाँ पुरुषों की बराबरी कैसे कर सकती हैं? उनका तो धर्म है अपने पुरुष की सेवा करना।

कैलासकुमारी—मैं इसे अपना धर्म नहीं समझती। मेरे लिए अपनी आत्मा की रक्षा के सिवा और कोई धर्म नहीं है।

जागेश्वरी—बेटी, ग़ज़ब हो जायगा, दुनिया क्या कहेगी ?

कैलासकुमारी—फिर वही दुनिया ! अपनी आत्मा के सिवा मुझे किसी का भय नहीं।

हृदयनाथ ने जागेश्वरी से यह बातें सुनीं, तो चिन्ता-सागर में डूब गये। इन बातों का क्या आशय ? क्या आत्म-सम्मान का भाव जागृत हुआ है या नैराश्य की क्रूर क्रीड़ा है ? धनहीन प्राणी को जब कष्ट-निवारण का कोई उपाय नहीं रह जाता तो वह लज्जा को त्याग देता है। निस्सन्देह नैराश्य ने यह भीषण रूप धारण किया है। सामान्य दशाओं में नैराश्य अपने यथार्थ रूप में आता है, पर गर्वशील प्राणियों में वह परिमार्जित रूप ग्रहण कर लेता है। यहाँ वह हृदयगत कोमल भावों का अपहरण कर लेता है—चरित्र में अस्वाभाविक विकास उत्पन्न कर देता है—मनुष्य लोकलाज और उपहास की ओर से उदासीन हो जाता है : नैतिक बंधन टूट जाते हैं। यह नैराश्य की अन्तिम अवस्था है।

हृदयनाथ इन्हीं विचारों में मग्न थे कि जागेश्वरी ने कहा—अब क्या करना होगा ?

हृदयनाथ—क्या बताऊँ ?

जागेश्वरी—कोई उपाय है ?

हृदयनाथ—बस, एक ही उपाय है, पर उसे ज़बान पर नहीं ला सकता !

Bansidal Nauk 5/4/29

कौशल

(१)

पंडित बालकराम शास्त्री की धर्मपत्नी माया को बहुत दिनों से एक हार की लालसा थी और वह सैकड़ों ही बार पंडितजी से उसके लिए आग्रह कर चुकी थी ; किन्तु पण्डितजी हीला-हवाला करते रहते थे।

यह तो साफ़-साफ़ न कहते थे कि मेरे पास रुपए नहीं हैं—इससे उनके पराक्रम में बट्टा लगता था—तर्कनाओं की शरण लिया करते थे। गहनों से कुछ लाभ नहीं, एक तो धातु अच्छी नहीं मिलती; उस पर सोनार रुपए के आठ आने कर देता है, और सबसे बड़ी बात यह कि घर में गहने रखना चोरों को नेवता देना है। घड़ीभर के शृंगार के लिए इतनी विपत्ति सिर पर लेना मूर्खों का काम है। बेचारी माया तर्क-शास्त्र न पढ़ी थी, इन युक्तियों के सामने निरुत्तर हो जाती थी। पड़ोसिनों को देख-देखकर उसका जी ललचा करता था, पर दुःख किससे कहे। यदि पंडितजी ज़्यादा मेहनत करने के योग्य होते तो यह मुश्किल आसान हो जाती। पर वे आलसी जीव थे, अधिकांश समय भोजन और विश्राम में व्यतीत किया करते थे। पत्नीजी की कटूक्तियाँ सुननी मंज़ूर थीं, लेकिन निद्रा की मात्रा में कमी न कर सकते थे।

एक दिन पंडितजी पाठशाला से आये तो देखा कि माया के गले में सोने का हार विराज रहा है। हार की चमक से उसकी मुख-ज्योति चमक उठी थी। उन्होंने उसे कभी इतनी सुन्दरी न समझा था। पूछा—यह हार किसका है?

माया बोली—पड़ोस में जो बाबू साहब रहते हैं, उन्हीं की स्त्री का है। आज उनसे मिलने गई थी, यह हार देखा, बहुत पसन्द आया। तुम्हें दिखाने के लिए पहनकर चली आई। बस, ऐसा ही एक हार मुझे बनवा दो।

पंडित—दूसरे की चीज़ नाहक़ माँग लाई। कहीं चोरी हो जाय तो हार तो बनवाना ही पड़े, ऊपर से बदनामी भी हो।

माया—मैं तो ऐसा ही हार लूँगी! २० तोले का है।

पंडित—फिर वही ज़िद!

माया—जब सभी पहनती हैं तो मैं ही क्यों न पहनूँ?

पंडित—सब कुएँ में गिर पड़ें तो तुम भी कुएँ में गिर पड़ोगी? सोचो तो, इस वक्त इस हार के बनाने में ६००) लगेंगे। अगर १) प्रति सैकड़ा भी ब्याज रख लिया जाय तो ५ वर्ष में ६००) के लगभग १०००)

हो जायेंगे। लेकिन ५ वर्ष में तुम्हारा हार मुश्किल से २००) का रह जायगा। इतना बड़ा नुक़सान उठाकर हार पहनने में क्या सुख? यह हार वापस कर दो, भोजन करो, और आराम से पड़ा रहो।

यह कहते हुए पंडितजी बाहर चले गये।

रात को एकाएक माया ने शोर मचाकर कहा—चोर! चोर! हाय! घर में चोर! मुझे घसीटे लिये जाते हैं।

पंडितजी हकबकाकर उठे और बोले—कहाँ, कहाँ? दौड़ो, दौड़ो!

माया—मेरी कोठरी में गया है। मैंने उसकी परछाईं देखी।

पंडित—लालटेन लाओ, ज़रा मेरी लकड़ी उठा लेना।

माया—मुझसे तो मारे डर के उठा नहीं जाता।

कई आदमी बाहर से बोले—कहाँ हैं पंडितजी, कोई सेंद पड़ी है क्या?

माया—नहीं, नहीं, खपरैल पर से उतरे हैं। मेरी नींद खुली तो कोई मेरे ऊपर झुका हुआ था। हाय राम! यह तो हार ही ले गया! पहने-पहने सो गई थी। मुये ने गले से निकाल लिया। हाय भगवान्!

पंडित—तुमने हार उतार क्यों न दिया था?

माया—मैं क्या जानती थी कि आज ही यह मुसीबत सिर पड़नेवाली है, हाय भगवान्!

पंडित—अब हाय-हाय करने से क्या होगा? अपने कर्मों को रोओ। इसीलिए कहा करता था कि सब घड़ी बराबर नहीं जाती, न-जाने कब क्या हो जाय। अब आई समझ में मेरी बात! देखो और कुछ तो नहीं ले गया?

पड़ोसी लालटेन लिये आ पहुँचे। घर में कोना-कोना देखा। करियाँ देखीं, छत पर चढ़कर देखा, अगवाड़े-पिछवाड़े देखा, शौच-गृह में झाँका, कहीं चोर का पता न था।

एक पड़ोसी—किसी जानकार आदमी का काम है।

दूसरा पड़ोसी—बिना घर के भेदिये के कभी चोरी होती ही नहीं। और कुछ तो नहीं ले गया?

माया—और तो कुछ नहीं गया। बरतन सब पड़े हुए हैं। सन्दूक़ भी बन्द पड़े हुए हैं। निगोड़े को ले ही जाना था, तो मेरी चीज़ें ले जाता। पराई चीज़ ठहरी। भगवान्, उन्हें कौन मुँह दिखाऊँगी।

पण्डित—अब गहने का मजा मिल गया न ?

माया—हाय भगवान्, यह अपजस बदा था।

पण्डित—कितना समझाके हार गया, तुम न मानीं, न मानीं! बात-की-बात में ६००) निकल गये ! अब देखूँ भगवान् कैसे लाज रखते हैं।

माया—अभागे मेरे घर का एक-एक तिनका चुन ले जाते तो मुझे इतना दुःख न होता। अभी बेचारी ने नया ही बनवाया था !

पण्डित—खूब मालूम है, २० तोले का था ?

माया—२० ही तोले का तो कहती थीं।

पण्डित—बधिया बैठ गई और क्या ?

माया—कह दूँगी, घर में चोरी हो गई। क्या जान लेंगी ? अब उनके लिए कोई चोरी थोड़े ही करने जायगा !

पंडित—तुम्हारे घर से चीज़ गई, तुम्हें देनी पड़ेगी। उन्हें इससे क्या प्रयोजन कि चोर ले गया या तुमने उठाके रख लिया। पतियायेंगी ही नहीं।

माया—तो इतने रुपए कहाँ से आयेंगे ?

पंडित—कहीं-न-कहीं से तो आयेंगे ही, नहीं तो लाज कैसे रहेगी; मगर की तुमने बड़ी भूल।

माया—भगवान् से मँगनी की चीज़ भी न देखी गई। मुझे काल ने घेरा था, नहीं तो घड़ी भर गले में डाल लेने से ऐसा कौन-सा बड़ा सुख मिल गया ? मैं हूँ ही अभागिनी।

पंडित—अब पछताने और अपने को कोसने से क्या फ़ायदा ? चुप होके बैठो। पड़ोसिन से कह देना, घबराओ नहीं। तुम्हारी चीज़ जब तक लौटा न देंगे, तब तक हमें चैन न आयेगा।

(४)

पण्डित बालकराम को अब नित्य यही चिन्ता रहने लगी कि किसी

तरह हार बने। यों अगर टाट उलट देते तो कोई बात न थी। पड़ोसिन को सन्तोष ही करना पड़ता, ब्राह्मण से डांड़ कौन लेता; किन्तु पण्डितजी ब्राह्मणत्व के गौरव को इतने सस्ते दामों न बेचना चाहते थे। आलस्य छोड़कर धनोपार्जन में दत्तचित्त हो गये।

६ महीने तक उन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं जाना। दोपहर को सोना छोड़ दिया। रात को भी बहुत देर तक जागते। पहले केवल एक पाठशाला में पढ़ाया करते थे। इसके सिवा वह ब्राह्मण के लिए खुले हुए एक सौ एक व्यवसायों में सभी को निन्दनीय समझते थे। पर अब पाठशाला से आकर संध्या समय एक जगह 'भागवत की कथा' कहने जाते, वहाँ से लौटकर ११-१२ बजे रात तक जन्म-कुण्डलियाँ, वर्ष-फल आदि बनाया करते। प्रातःकाल मन्दिर में 'दुर्गाजी का पाठ' करते। माया पंडितजी का अध्यवसाय देख-देखकर कभी कभी पछताती कि कहाँ से कहाँ मैंने यह विपत्ति सिर पर ली। कहीं बीमार पड़ जायें तो लेने के देने पड़ें। उनका शरीर क्षीण होते देखकर उसे अब यह चिन्ता व्यथित करने लगी। यहाँ तक कि पाँच महीने गुज़र गये।

एक दिन संध्या समय वह दिया-बत्ती करने जा रही थी कि पंडितजी आये, जेब से एक पुड़िया निकालकर उसके सामने फेंक दी और बोले—लो, आज तुम्हारे ऋण से मुक्त हो गया।

माया ने पुड़िया खोली तो उसमें सोने का हार था, उसकी चमक-दमक, उसकी सुन्दर बनावट देखकर उसके अन्तःस्थल में गुदगुदी-सी होने लगी। मुख पर आनन्द की आभा दौड़ गई। उसने कातर नेत्रों से देखकर पूछा—खुश होकर दे रहे हो या नाराज़ होकर?

पंडित—इससे क्या मतलब? ऋण तो चुकाना ही पड़ेगा, चाहे खुशी से हो या नाखुशी से!

माया—यह ऋण नहीं है।

पंडित—और क्या है? बदला सही।

माया—बदला भी नहीं है।

पंडित—फिर क्या है।

माया—तुम्हारी...निशानी!

पंडित—तो क्या ऋण के लिए दूसरा हार बनवाना पड़ेगा?

माया—नहीं, नहीं, वह हार चोरी नहीं गया था। मैंने झूठ-मूठ शोर मचाया था।

पंडित—सच?

माया—हाँ, सच कहती हूँ।

पंडित—मेरी क़सम?

माया—तुम्हारे चरण छूकर कहती हूँ।

पंडित—तो तुमने मुझसे कौशल किया था?

माया—हाँ!

पंडित—तुम्हें मालूम है, तुम्हारे कौशल का मुझे क्या मूल्य देना पड़ा?

माया—क्या ६००) से ऊपर?

पंडित—बहुत ऊपर! इसके लिए मुझे अपने आत्म-स्वातंत्र्य को बलिदान करना पड़ा है।

स्वर्ग की देवी

(१)

भाग्य की बात! शादी-विवाह में आदमी का क्या अख़्तियार! जिससे ईश्वर ने, या उनके नायबों—ब्राह्मणों—ने तय कर दी, उससे हो गई। बाबू भारतदास ने लीला के लिए सुयोग्य वर खोजने में कोई बात उठा नहीं रखी। लेकिन जैसा घर-वर चाहते थे, वैसा न पा सके। वह लड़की को सुखी देखना चाहते थे, जैसा हरएक पिता का धर्म है; किन्तु इसके लिए उनकी समझ में सम्पत्ति ही सबसे [illegible] चीज़ थी। चरित्र या शिक्षा का स्थान गौण था। चरित्र तो किसी [illegible]

माथे पर लिखा नहीं रहता और शिक्षा का आजकल के ज़माने में मूल्य ही क्या ? हाँ, संपत्ति के साथ शिक्षा भी हो तो क्या पूछना ! ऐसा घर उन्होंने बहुत ढूँढ़ा, पर न मिला। ऐसे घर हैं ही कितने, जहाँ दोनों पदार्थ मिलें ? दो-चार घर मिले भी तो अपनी बिरादरी के न थे। बिरादरी भी मिली, तो ज़ायचा न मिला, ज़ायचा भी मिला तो शर्तें तय न हो सकीं। इस तरह मजबूर होकर भारतदास को लीला का विवाह लाला सन्तसरन के लड़के सीतासरन से करना पड़ा। अपने बाप का एकलौता बेटा था, थोड़ी-बहुत शिक्षा भी पाई थी, बातचीत सलीक़े से करता था, मामले-मुक़द्दमे समझता था और ज़रा दिल का रँगीला भी था। सबसे बड़ी बात यह थी कि रूपवान्, बलिष्ठ, प्रसन्न-मुख, साहसी आदमी था। मगर विचार वही बाबा आदम के ज़माने के थे। पुरानी जितनी बातें हैं सब अच्छी, नई जितनी बातें हैं सब ख़राब ! जायदाद के विषय में तो ज़मींदार साहब नये से-नये दफ़ों का व्यवहार करते थे, वहाँ अपना कोई अख़्तियार न था। लेकिन सामाजिक प्रथाओं के कट्टर पक्षपाती थे। सीतासरन अपने बाप को जो करते या कहते देखता, वही खुद भी कहता और करता था। उसमें खुद कुछ सोचने की शक्ति ही न थी। बुद्धि की मंदता बहुधा सामाजिक अनुदारता के रूप में प्रकट होती है।

•

लीला ने जिस दिन घर में पाँव रखा, उसी दिन से उसकी परीक्षा शुरू हुई। वे सभी काम, जिसकी उसके घर में तारीफ़ होती थी, यहाँ वर्जित थे। उसे बचपन से ताज़ी हवा पर जान देना सिखाया गया था, यहाँ उसके सामने मुँह खोलना भी पाप था। बचपन से सिखाया गया था कि रोशनी ही जीवन है, यहाँ रोशनी के दर्शन भी दुर्लभ थे। घर पर अहिंसा, क्षमा और दया ईश्वरीय गुण बताये गये थे, यहाँ इनका नाम लेने की भी स्वाधीनता न थी ! संतसरन बड़े तीखे, गुस्सेवर आदमी थे, नाक पर मक्खी न बैठने देते। धूर्तता और छल-कपट से ही उन्होंने जायदाद पैदा की थी और उसी को सफल जीवन का मंत्र समझते थे।

उनकी पत्नी उनसे भी दो अंगुल ऊँची थीं। मजाल क्या कि बहू अपनी अँधेरी कोठरी के द्वार पर खड़ी हो जाय, या कभी छत पर टहल सके। प्रलय आ जाता, आसमान सिर पर उठा लेतीं। उन्हें बकने का मर्ज़ था। दाल में नमक का ज़रा तेज़ हो जाना उन्हें दिन-भर बकने के लिए काफ़ी बहाना था। मोटी-ताज़ी महिला थीं, छींट का घाघरेदार लहँगा पहने, पानदान बग़ल में रखे, गहनों से लदी हुई, सारे दिन बरोठे में माची पर बैठी रहती थीं। क्या मजाल कि घर में उनकी इच्छा के विरुद्ध एक पत्ती भी हिल जाय! बहू की नई-नई आदतें देख-देख जला करती थीं। अब काहे को आबरू रहेगी। मुँडेर पर खड़ी होकर झाँकती है। मेरी लड़की ऐसी दीदा-दिलेर होती तो गला घोंट देती। न-जाने इसके देश में कौन लोग बसते हैं! गहने नहीं पहनती। जब देखो नंगी-बुच्ची बनी बैठी रहती है। यह भी कोई अच्छे लच्छन हैं। लीला के पीछे सीतासरन पर भी फटकार पड़ती। तुझे भी चाँदनी में सोना अच्छा लगता है, क्यों? तू भी अपने को मर्द कहेगा? वह मर्द कैसा कि औरत उसके कहने में न रहे। दिन-भर घर में घुसा रहता है! मुँह में ज़बान नहीं है? समझाता क्यों नहीं?

सीतासरन कहता—अम्माँ, जब कोई मेरे समझाने से माने तब तो?

मा—मानेगी क्यों नहीं, तू मर्द है कि नहीं? मर्द वह चाहिये कि कड़ी निगाह से देखे तो औरत काँप ~~उठे।~~

सीतासरन—तुम तो समझाती ही रहती हो।

मा—मेरी उसे क्या परवा। समझती होगी, बुढ़िया चार दिन में मर जायगी तब तो मैं मालकिन हो ही जाऊँगी।

सीतासरन—तो मैं भी तो उसकी बातों का जवाब नहीं दे पाता। देखती नहीं हो कितनी दुर्बल हो गई है। वह रंग ही नहीं रहा। उस कोठरी में पड़े-पड़े उसकी दशा बिगड़ती जाती है।

बेटे के मुँह से ऐसी बातें सुनकर माता आग हो जाती और सारे दिन जलती; कभी भाग्य को कोसती, कभी समय को।

सीतासरन माता के सामने तो ऐसी बातें करता, लेकिन लीला के

सामने जाते ही उसकी मति बदल जाती थी। वह वही बातें करता जो लीला को अच्छी लगतीं। यहाँ तक कि दोनों वृद्धा की हँसी उड़ाते। लीला को इस घर में और कोई सुख न था। वह सारे दिन कुढ़ती रहती थी। कभी चूल्हे के सामने न बैठी थी, पर यहाँ पँसेरियों आटा थोपना पड़ता, मजूरों और टहलुओं के लिए भी रोटियाँ पकानी पड़तीं। कभी-कभी वह चूल्हे के सामने बैठी घंटों रोती। यह बात न थी कि यह लोग कोई महाराज-रसोइया न रख सकते हों, पर घर की पुरानी प्रथा यही थी कि बहू खाना पकाये और उस प्रथा का निभाना ज़रूरी था। सीतासरन को देखकर लीला का संतप्त हृदय एक क्षण के लिए शान्त हो जाता था।

गर्मी के दिन थे और संध्या का समय। बाहर हवा चलती थी, भीतर देह फुकती थी। लीला कोठरी में बैठी एक किताब देख रही थी कि संतसरन ने आकर कहा—यहाँ तो बड़ी गर्मी है, बाहर बैठो।

लीला—यह गर्मी उन तानों से अच्छी है जो अभी सुनने पड़ेंगे।

सीतासरन—आज अगर बोलीं तो मैं भी बिगड़ जाऊँगा।

लीला—तब तो मेरा घर में रहना भी मुश्किल हो जायगा।

सीतासरन—बला से, अलग ही रहेंगे!

लीला—मैं तो मर भी जाऊँ तो भी अलग न हूँ। वह जो कुछ कहती-सुनती हैं, अपनी समझ में मेरे भले ही के लिए कहती सुनती हैं। उन्हें मुझसे कुछ दुश्मनी थोड़े ही है। हाँ, हमें उनकी बातें अच्छी न लगें, यह दूसरी बात है। उन्होंने खुद वह सब कष्ट झेले हैं, जो वह मुझे झेलवाना चाहती हैं। उनके स्वास्थ्य पर उन कष्टों का ज़रा भी असर नहीं पड़ा। वह इस ६५ वर्ष की उम्र में मुझसे कहीं टाँठी हैं। फिर उन्हें कैसे मालूम हो कि इन कष्टों से स्वास्थ्य बिगड़ सकता है?

सीतासरन ने उसके मुरझाये हुए मुख की ओर करुण नेत्रों से देखकर कहा—तुम्हें इस घर में आकर बहुत दुःख सहना पड़ा। यह घर तुम्हारे योग्य न था। तुमने पूर्व-जन्म में ज़रूर कोई पाप किया होगा।

प्रिय: बताओ तुम्हें प्रेम का कौन सा प्रस्ताव ...

लीला ने पति के हाथों से खेलते हुए कहा—यहाँ न आती तो तुम्हारा प्रेम कैसे पाती ?

(३)

पाँच साल गुज़र गये। लीला दो बच्चों की मा हो गई। एक लड़का था, दूसरी लड़की। लड़के का नाम जानकीसरन रखा गया और लड़की का नाम कामिनी। दोनों बच्चे घर को गुलज़ार किये रहते थे। लड़की दादा से हिली थी, लड़का दादी से। दोनों शोख़ और शरीर थे। गाली दे बैठना, मुँह चिढ़ा देना तो उनके लिए मामूली बात थी। दिन भर खाते और आये-दिन बीमार पड़े रहते। लीला ने तो खुद सभी कष्ट झेल लिये थे, पर बच्चों में बुरी आदतों का पड़ना उसे बहुत बुरा मालूम होता था। किन्तु उसकी कौन सुनता था। बच्चों की माता होकर उसकी अब गणना ही न रही थी। जो कुछ थे बच्चे थे, वह कुछ न थी। उसे किसी बच्चे को डाटने का भी अधिकार न था, सास फाड़ खाती थी।

सबसे बड़ी विपत्ति यह थी कि उसका स्वास्थ्य अब और भी ख़राब हो गया था। प्रसव-काल में उसे वे सभी अत्याचार सहने पड़े जो अज्ञान, मूर्खता और अंध-विश्वास ने सौर की रक्षा के लिए गढ़ रखे हैं। उस काल-कोठरी में, जहाँ न हवा का गुज़र था, न प्रकाश का, न सफ़ाई का, चारों ओर दुर्गन्ध, सील और गंदगी भरी हुई थी, उसका कोमल शरीर सूख गया। एक बार जो कसर रह गई थी वह दूसरी बार पूरी हो गई। चेहरा पीला पड़ गया, आँखें धँस गई। ऐसा मालूम होता, बदन में खून ही नहीं रहा। सूरत ही बदल गई।

गर्मियों के दिन थे। एक तरफ़ आम पके, दूसरी तरफ़ ख़रबूजे। इन दोनों मेवों की ऐसी अच्छी फ़सल पहले कभी न हुई थी। अबकी इनमें इतनी मिठास न-जाने कहाँ से आ गई थी कि कितना ही खाओ, मन न भरे। संतसरन के इलाक़े से आम और ख़रबूजे के टोकरे भरे चले आते थे। सारा घर खूब उछल-उछल खाता था। बाबू साहब पुरानी हड्डी के आदमी थे। सबेरे एक सैकड़े आमों का नाश्ता करते, फिर

पंसेरी-भर ख़रबूजे चट कर जाते। मालकिन उनसे पीछे रहनेवाली न थीं। उन्होंने तो एक वक्त का भोजन ही बन्द कर दिया। अनाज सड़नेवाली चीज़ नहीं। आज नहीं कल ख़र्च हो जायगा। आम और ख़रबूजे तो एक दिन भी नहीं टहर सकते। शुदनी थी और क्या। योंही हर साल दोनों चीजों की रेलपेल होती थी, पर किसी को कभी कोई शिकायत न होती थी। कभी पेट में गिरानी मालूम हुई तो हड़ की फंकी मार ली। एक दिन बाबू सन्तसरन के पेट में मीठा-मीठा दर्द होने लगा। आपने उसकी परवा न की। आम खाने बैठ गये। सैकड़ा पूरा करके उठे ही थे कि क़ै हुई। गिर पड़े। फिर तो तिल-तिल पर क़ै और दस्त होने लगे। हैज़ा हो गया। शहर के डाक्टर बुलाये गये; लेकिन उनके आने के पहले ही बाबू साहब चल बसे थे। रोना-पीटना मच गया। सन्ध्या होते-होते लाश घर से निकली। लोग दाह-क्रिया करके आधी रात को लौटे तो मालकिन को भी क़ै और दस्त हो रहे थे। फिर दौड़-धूप शुरू हुई। लेकिन सूर्य निकलते-निकलते वह भी सिधार गईं। स्त्री-पुरुष जीवन-पर्यन्त एक दिन के लिए भी अलग न हुए थे। संसार से भी साथ ही-साथ गये, सूर्यास्त के समय पति ने प्रस्थान किया, सूर्योदय के समय स्त्री ने।

लेकिन मुसीबत का अभी अन्त न हुआ था। लीला तो संस्कार की तैयारियों में लगी थी; मकान की सफ़ाई की तरफ़ किसी ने ध्यान न दिया। तीसरे दिन दोनों बच्चे दादा दादी के लिए रोते-रोते बैठके में जा पहुँचे। वहाँ एक आले पर ख़रबूजा कटा हुआ पड़ा था, दो-तीन क़लमी आम भी कटे रखे थे। इन पर मक्खियाँ भिनक रही थीं। जानकी ने एक तिपाई पर चढ़कर दोनों चीज़ें उतार लीं और दोनों ने मिलकर खाईं। शाम होते-होते दोनों को हैज़ा हो गया और दोनों मा-बाप को रोता छोड़ चल बसे। घर अँधेरा हो गया। तीन दिन पहले जहाँ चारों तरफ़ चहल-पहल थी, वहाँ अब सन्नाटा छाया हुआ था; किसी के रोने की आवाज़ भी न सुनाई देती थी। रोता ही कौन? ले-देके कुल दो प्राणी रह गये थे। और उन्हें रोने की भी सुधि न थी।

(४)

लीला का स्वास्थ्य पहले भी कुछ अच्छा न था, अब तो वह और भी बेजान हो गई। उठने-बैठने की शक्ति भी न रही। हरदम खोई-सी रहती, न कपड़े-लत्ते की सुधि थी, न खाने-पीने की। उसे न घर से वास्ता था, न बाहर से। जहाँ बैठती, वहीं बैठी रह जाती। महीनों कपड़े न बदलती, सिर में तेल न डालती। बच्चे ही उसके प्राणों के आधार थे। जब वही न रहे तो मरना और जीना बराबर था। रात-दिन यही मनाया करती कि भगवान् यहाँ से ले चलो। सुख-दुःख सब भुगत चुकी। अब सुख की लालसा नहीं है। लेकिन बुलाने से मौत किसी को आई है?

सीतासरन भी पहले तो बहुत रोया-धोया, यहाँ तक कि घर छोड़कर भागा जाता था; लेकिन ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, बच्चों का शोक उसके दिल से मिटता जाता था। सन्तान का दुःख तो कुछ माता ही को होता है। धीरे-धीरे उसका जी सँभल गया। पहले की भाँति मित्रों के साथ हँसी-दिल्लगी होने लगी। यारों ने और भी चङ्ग पर चढ़ाया। अब घर का मालिक था, जो चाहे कर सकता था। कोई उसका हाथ रोकनेवाला न था। सैर-सपाटे करने लगा। कहाँ तो लीला को रोते देख उसकी आँखें सजल हो जाती थीं, कहाँ अब उसे उदास और शोक-मग्न देखकर झुँझला उठता। ज़िन्दगी रोने ही के लिए तो नहीं है। ईश्वर ने लड़के दिये थे, ईश्वर ही ने छीन लिये। क्या लड़कों के पीछे प्राण दे देना होगा! लीला यह बातें सुनकर भौचक रह जाती। पिता के मुँह से ऐसे शब्द निकल सकते हैं! संसार में ऐसे प्राणी भी हैं!

होली के दिन थे। मर्दाने में गाना-बजाना हो रहा था। मित्रों की दावत का भी सामान किया गया था। अन्दर लीला ज़मीन पर पड़ी हुई रो रही थी। त्योहारों के दिन उसे रोते ही कटते थे। आज बच्चे होते तो अच्छे-अच्छे कपड़े पहने कैसे उछलते फिरते! वही न रहे तो कहाँ की तीज और कहाँ के त्योहार!

सहसा सीतासरन ने आकर कहा—क्या दिन भर रोती ही रहोगी?

ज़रा कपड़े तो बदल डालो, आदमी बन जाओ। यह क्या तुमने अपनी गत बना रखी है ?

लीला—तुम जाओ अपनी महफ़िल में बैठो, तुम्हें मेरी क्या फ़िक्र पड़ी है ?

सीतासरन—क्या दुनिया में और किसी के लड़के नहीं मरते ? तुम्हारे ही सिर यह मुसीबत आई है ?

लीला—यह बात कौन नहीं जानता। अपना-अपना दिल ही तो है। उस पर किसी का बस है ?

सीतासरन—मेरे साथ भी तुम्हारा कुछ कर्तव्य है ?

लीला ने कुतूहल से पति को देखा, मानो उनका आशय नहीं समझी। फिर मुँह फेरकर रोने लगी।

सीतासरन—मैं अब इस नहूसत का अन्त कर देना चाहता हूँ। अगर तुम्हारा अपने दिल पर क़ाबू नहीं है, तो मेरा भी अपने दिल पर क़ाबू नहीं है। मैं ज़िन्दगी-भर मातम नहीं मना सकता।

लीला—तुम राग-रंग मनाते हो, मैं तुम्हें मना तो नहीं करती ! मैं रोती हूँ तो क्यों नहीं रोने देते ?

सीतासरन—मेरा घर रोने के लिए नहीं है।

लीला—अच्छी बात है, तुम्हारे घर में न रोऊँगी।

(५)

लीला ने देखा, मेरे स्वामी मेरे हाथों से निकले जा रहे हैं। उन पर विषय का भूत सवार हो गया है और कोई समझानेवाला नहीं। वह अपने होश में नहीं हैं। मैं क्या करूँ। अगर मैं चली जाती हूँ, तो थोड़े ही दिनों में सारा घर मिट्टी में मिल जायगा और इनका वही हाल होगा, जो स्वार्थी मित्रों के चंगुल में फँसे हुए नौजवान रईसों का होता है। कोई कुलटा घर में आ जायगी और इनका सर्वनाश कर देगी। ईश्वर ! मैं क्या करूँ। अगर इन्हें कोई बीमारी हो जाती, तो क्या मैं उस दशा में इन्हें छोड़कर चली जाती ? कभी नहीं। मैं तन-मन से इनकी सेवा-शुश्रूषा करती, ईश्वर से प्रार्थना करती, देवताओं की मनौ-

तियाँ करती। माना इन्हें शारीरिक रोग नहीं है, लेकिन मानसिक रोग अवश्य है। जो आदमी रोने की जगह हँसे और हँसने की जगह रोये, उसके दीवाना होने में क्या सन्देह है ! मेरे चले जाने से इनका सर्व-नाश हो जायगा। इन्हें बचाना मेरा धर्म है।

हाँ, मुझे अपना शोक भूल जाना होगा। रोऊँगी—रोना तो मेरी तक़दीर में लिखा ही है—रोऊँगी, लेकिन हँस-हँसकर। अपने भाग्य से लड़ूँगी। जो जाते रहे उनके नाम को रोने के सिवा और कर ही क्या सकती हूँ, लेकिन जो है उसे न जाने दूँगी। आ, ऐ टूटे हुए हृदय ! आज तेरे टुकड़ों को जमा करके एक समाधि बनाऊँ और अपने शोक को उसके हवाले कर दूँ। ओ रोनेवाली आँखें, आओ और मेरे आँसुओं को अपनी विहँसित छटा में छिपा लो। आओ मेरे आभूषणो, मैंने बहुत दिनों तक तुम्हारा अपमान किया, मेरा अपराध क्षमा करो, तुम मेरे भले दिनों के साथी हो; तुमने मेरे साथ बहुत विहार किये हैं, अब इस संकट में मेरा साथ दो; मगर देखो दगा न करना, मेरे भेदों को छिपाये रखना !

लीला सारी रात बैठी अपने मन से यही बातें करती रही। उधर मर्दाने में धमा चौकड़ी मची हुई थी। सीतासरन नशे में चूर कभी गाता था, कभी तालियाँ बजाता था। उसके मित्र लोग भी उसी रङ्ग में रँगे हुए थे। मालूम होता था, इनके लिए भोग-विलास के सिवा और कोई काम नहीं है।

पिछले पहर को महफ़िल में सन्नाटा हो गया। हू-हा की आवाज़ें बन्द हो गईं। लीला ने सोचा, क्या लोग कहीं चले गये, या सो गये ? एकाएक सन्नाटा क्यों छा गया। जाकर देहलीज़ में खड़ी हो गई और बैठक में झाँककर देखा। सारी देह में एक ज्वाला-सी दौड़ गई। मित्र लोग विदा हो गये थे। समाजियों का पता न था। केवल एक रमणी मसनद पर लेटी हुई थी और सीतासरन उसके सामने झुका हुआ उससे बहुत धीरे-धीरे बातें कर रहा था। दोनों के चेहरों और आँखों से उनके मन के भाव साफ़ झलक रहे थे। एक की आँखों में अनुराग था, दूसरी की आँखों में कटाक्ष। एक भोला-भाला हृदय एक माया-

विनी रमणी के हाथों लुटा जाता था। लीला की सम्पत्ति को उसकी आँखों के सामने एक छलिनी चुराये लिये जाती थी। लीला को ऐसा क्रोध आया कि इसी समय चलकर इस कुलटा को आड़े हाथों लूं, ऐसा दुत्कारूँ, कि वह भी याद करे, खड़े-खड़े निकाल दूँ। वह पत्नी-भाव जो बहुत दिनों से सो रहा था जाग उठा और उसे विकल करने लगा, पर उसने ज़ब्त किया। वेग से दौड़ती हुई तृष्णाएँ अकस्मात् न रोकी जा सकती थीं। वह उलटे पाँव भीतर लौट आई और मन को शान्त करके सोचने लगी—वह रूप-रंग में, हाव-भाव में, नखरे-तिल्ले में उस दुष्टा की बराबरी नहीं कर सकती। बिलकुल चाँद का टुकड़ा है, अंग-अंग में स्फूर्ति भरी हुई है, पोर-पोर में मद झलक रहा है। उसकी आँखों में कितनी तृष्णा है, तृष्णा नहीं, बल्कि ज्वाला! लीला उसी वक़्त आईने के सामने गई। आज कई महीनों के बाद उसने आईने में अपनी सूरत देखी। उसके मुख से एक आह निकल गई। शोक ने उसकी काया-पलट कर दी थी। उस रमणी के सामने वह ऐसी लगती थी जैसे गुलाब के सामने जूही का फूल!

(६)

सीतासरन का ख़ुमार शाम को टूटा। आँखें खुलीं तो सामने लीला को खड़ी मुसकराते देखा। उसकी अनोखी छवि आँखों में समा गई। ऐसे ख़ुश हुए मानो बहुत दिनों के वियोग के बाद उससे भेंट हुई हो। उसे क्या मालूम था कि यह रूप भरने के लिए लीला ने कितने आँसू बहाये हैं, केशों में यह फूल गूँथने के पहले आँखों से कितने मोती पिरोये हैं। उन्होंने एक नवीन प्रेमोत्साह से उठकर उसे गले लगा लिया और मुसकराकर बोले—आज तो तुमने बड़े-बड़े शस्त्र सजा रखे हैं, कहाँ भागूँ?

लीला ने अपने हृदय की ओर उँगली दिखाकर कहा—यहाँ आ बैठो। बहुत भागे फिरते हो, अब तुम्हें बाँधकर रखूँगी। बाग़ की बहार का आनंद तो उठा चुके, अब इस अँधेरी कोठरी को भी देख लो।

सीतासरन ने लज्जित होकर कहा—उसे अँधेरी कोठरी मत कहो लीला! वह प्रेम का मानसरोवर है!

इतने में बाहर से किसी मित्र के आने की ख़बर आई। सीतासरन चलने लगे तो लीला ने उनका हाथ पकड़कर कहा—मैं न जाने दूँगी।

सीतासरन—अभी आता हूँ।

लीला—मुझे डर लगता है कहीं तुम चले न जाओ।

सीतासरन—इस शीतल, सुखद छवि का अमृत पीने के बाद भी?

सीतासरन बाहर आये तो मित्र महाशय बोले—आज दिन भर सोते ही रहे क्या? बहुत ख़ुश नज़र आते हो। इस वक़्त तो वहाँ चलने की ठहरी थी न? तुम्हारी राह देख रही हैं।

सीतासरन—चलने को तैयार हूँ लेकिन लीला जाने नहीं देती।

मित्र—निरे गाउदी ही रहे। आ गये फिर बीवी के पंजे में। फिर किस बिरते पर गरमाये थे?

सीतासरन—लीला ने घर से निकाल दिया था, तब आश्रय ढूँढ़ता फिरता था। अब उसने द्वार खोल दिये और खड़ी बुला रही है।

मित्र—अजी, यहाँ वह आनंद कहाँ? घर को लाख सजाओ तो क्या बाग़ हो जायगा?

सीतासरन—भई, घर बाग़ नहीं हो सकता, पर स्वर्ग हो सकता है। मुझे इस वक्त अपनी क्षुद्रता पर जितनी लज्जा आ रही है वह मैं ही जानता हूँ। जिस संतान-शोक में उसने अपने शरीर को घुला डाला, और अपने रूप-लावण्य को मिटा दिया उसी शोक को केवल मेरा एक इशारा पाकर उसने भुला दिया। ऐसा भुला दिया मानो कभी उसे शोक हुआ ही नहीं। मैं जानता हूँ वह बड़े से बड़े कष्ट सह सकती है। मेरी रक्षा उसके लिए आवश्यक है। पर जब अपनी उदासीनता के कारण उसने मेरी दशा बिगड़ती देखी तो अपना सारा शोक भूल गई। आज मैंने उसे अपने आभूषण पहनकर मुसकराते देखा तो मेरी आत्मा पुलकित हो उठी। मुझे ऐसा मालूम हो रहा है कि वह स्वर्ग की देवी है और केवल मुझ-जैसे दुर्बल प्राणी की रक्षा करने के लिए भेजी गई है। मैंने उसे जो कठोर शब्द कहे, वे अगर अपनी सारी संपत्ति बेचकर भी मिल सकते, तो लौटा लेता। लीला वास्तव में स्वर्ग की देवी है।

आधार

(१)

सारे गाँव में मथुरा का-सा गठीला जवान न था। कोई बीस बरस की उमर थी। मसें भीग रही थीं। गउयें चराता, दूध पीता, कसरत करता, कुश्ती लड़ता और सारे दिन बाँसुरी बजाता हार में विचरता था। ब्याह हो गया था पर अभी कोई बाल-बच्चा न था। घर में कई हल की खेती थी, कई छोटे-बड़े भाई थे। वे सब मिल-जुलकर खेती-बारी करते थे। मथुरा पर सारे घर को गर्व था, उसे सबसे अच्छा भोजन मिलता और सबसे कम काम करना पड़ता। जब उसे जाँघिये-लंगोट, नाल या मुग्दर के लिए रुपए-पैसे की ज़रूरत पड़ती तो तुरत दे दिये जाते थे। सारे घर की यही अभिलाषा थी कि मथुरा पहलवान हो जाय और अखाड़े में अपने से सवाये को पछाड़े। इस लाड़-प्यार से मथुरा ज़रा टर्रा हो गया था। गायें किसी के खेत में पड़ी हैं और आप अखाड़े में डंड लगा रहा है। कोई उलहना देता तो उसकी त्योरियाँ बदल जातीं। गरजकर कहता, जो मन में आये कर लो, मथुरा तो अखाड़ा छोड़कर गाय हाँकने न जायेंगे; पर उसका डील-डौल देखकर किसी को उससे उलझने की हिम्मत न पड़ती थी। लोग ग़म खा जाते थे।

गर्मियों के दिन थे, ताल-तलैया सूखी पड़ी थीं। ज़ोरों की लू चलने लगी थी। गाँव में कहीं से एक साँड़ आ निकला और गउओं के साथ हो लिया। सारे दिन तो गउओं के साथ रहता, रात को बस्ती में घुस आता और खूँटों से बँधे बैलों को सींगों से मारता। कभी किसी की गीली दीवार सींगों से खोद डालता, कभी घूरे का कूड़ा सींगों से उड़ाता। कई किसानों ने साग-भाजी लगा रखी थी, सारे दिन सींचते-सींचते मरते थे। यह साँड़ रात को उन हरे-भरे खेतों में पहुँच जाता और खेत का खेत तबाह कर देता। लोग उसे डंडों से मारते, गाँव के बाहर भगा आते, लेकिन ज़रा देर में फिर गायों में पहुँच जाता।

किसी की अक्ल काम न करती थी कि इस संकट को कैसे टाला जाय। मथुरा का घर गाँव के बीच में था, इसलिए उसके बैलों को साँड़ से कोई हानि न पहुँचती थी। गाँव में उपद्रव मचा हुआ था और मथुरा को ज़रा भी चिन्ता न थी।

आखिर जब धैर्य का अन्तिम बन्धन टूट गया तो एक दिन लोगों ने जाकर मथुरा को घेरा और बोले—भाई, कहो तो गाँव में रहें, कहो तो निकल जायें। जब खेती ही न बचेगी तो रहकर क्या करेंगे। तुम्हारी गायों के पीछे हमारा सत्यानाश हुआ जाता है, और तुम अपने रंग में मस्त हो। अगर भगवान् ने तुम्हें बल दिया है तो इससे दूसरे की रक्षा करनी चाहिये, यह नहीं कि सबको पीसकर पी जाओ। साँड़ तुम्हारी गायों के कारण आता है और उसे भगाना तुम्हारा काम है; लेकिन तुम कानों में तेल डाले बैठे हो, मानो तुमसे कुछ मतलब ही नहीं।

मथुरा को उनकी दशा पर दया आई। बलवान् मनुष्य प्रायः दयालु होता है। बोला— अच्छा जाओ, हम आज साँड़ को भगा देंगे।

एक आदमी ने कहा— दूर तक भगाना नहीं तो फिर लौट आयेगा।

मथुरा ने लाठी कन्धे पर रखते हुए उत्तर दिया—अब लौटकर न आयेगा।

(२)

चिलचिलाती दोपहरी थी और मथुरा साँड़ को भगाये लिये जाता था। दोनों पसीने में तर थे। साँड़ बार-बार गाँव की ओर घूमने की चेष्टा करता लेकिन मथुरा उसका इरादा ताड़कर दूर ही से उसकी राह छेक लेता। साँड़ क्रोध से उन्मत्त होकर कभी-कभी पीछे मुड़कर मथुरा पर तोड़ करना चाहता लेकिन उस समय मथुरा सामना बचाकर बगल से ताबड़-तोड़ इतनी लाठियाँ जमाता कि साँड़ को फिर भागना पड़ता। कभी दोनों अरहर के खेतों में दौड़ते, कभी झाड़ियों में। अरहर की खूँटियों से मथुरा के पाँव लहू-लुहान हो रहे थे, झाड़ियों से धोती फट गई थी; पर उसे इस समय साँड़ का पीछा करने के सिवा और कोई

सुधि न थी। गाँव पर गाँव आते थे और निकल जाते थे। मथुरा ने निश्चय कर लिया था कि इसे नदी पार भगाये बिना दम न लूंगा। उसका कण्ठ सूख गया था और आँखें लाल हो गई थीं, रोम-रोम से चिनगारियाँ-सी निकल रही थीं, दम उखड़ गया था, लेकिन वह एक क्षण के लिए भी दम न लेता था। दो-ढाई घण्टों की दौड़ के बाद जाकर नदी नज़र आई। यहीं हार-जीत का फ़ैसला होनेवाला था, यहीं दोनों खिलाड़ियों को अपने दाँव-पेंच के जौहर दिखाने थे। साँड़ सोचता था, अगर नदी में उतरा तो यह मार ही डालेगा, एक बार जान लड़ाकर लौटने की कोशिश करनी चाहिये। मथुरा सोचता था, अगर वह लौट पड़ा तो इतनी मेहनत व्यर्थ हो जायगी और गाँव के लोग मेरी हँसी उड़ायेंगे। दोनों अपनी-अपनी घात में थे। साँड़ ने बहुत चाहा कि तेज़ दौड़कर आगे निकल जाऊँ और वहाँ से पीछे को फिरूँ, पर मथुरा ने उसे मुड़ने का मौक़ा न दिया। उसकी जान इस वक्त सुई की नोक पर थी। एक हाथ भी चूका और प्राण गये, ज़रा पैर फिसला और फिर उठना नसीब न होगा। आखिर मनुष्य ने पशु पर विजय पाई और साँड़ को नदी में घुसने के सिवा और कोई उपाय न सूझा। मथुरा भी उसके पीछे नदी में पैठ गया और इतने डंडे लगाये कि उसकी लाठी टूट गई।

(३)

अब मथुरा को जोरों की प्यास लगी। उसमें नदी में मुँह लगा दिया और इस तरह हौंक हौंककर पानी पीने लगा मानो सारी नदी पी जायगा। उसे अपने जीवन में कभी पानी इतना अच्छा न लगा था और न कभी उसने इतना पानी पिया था। मालूम नहीं, पाँच सेर पी गया या दस सेर, लेकिन पानी गरम था, प्यास न बुझी; ज़रा देर में फिर नदी में मुँह लगा दिया और इतना पानी पिया कि पेट में साँस लेने की भी जगह न रही। तब गीली धोती कन्धे पर डालकर घर की ओर चला।

लेकिन दस ही पाँच पग चला होगा कि पेट में मीठा-मीठा दर्द

होने लगा। उसने सोचा दौड़कर पानी पीने से ऐसा दर्द अकसर हो जाता है, ज़रा देर में दूर हो जायगा। लेकिन दर्द बढ़ने लगा और मथुरा का आगे जाना कठिन हो गया। वह एक पेड़ के नीचे बैठ गया और दर्द से बेचैन होकर ज़मीन पर लोटने लगा। कभी पेट को दबाता, कभी खड़ा हो जाता, कभी बैठ जाता, पर दर्द बढ़ता ही जाता था। अन्त को उसने ज़ोर-ज़ोर से कराहना और रोना शुरू किया, पर वहाँ कौन बैठा था जो उसकी ख़बर लेता। दूर तक कोई गाँव नहीं, न आदमी, न आदमज़ाद, बेचारा दोपहरी के सन्नाटे में तड़प-तड़पकर मर गया। हम कड़े से कड़ा घाव सह सकते हैं; लेकिन ज़रा-सा भी व्यतिक्रम नहीं सह सकते। वही देव का-सा जवान जो कोसों तक साँड़ को भगाता चला आया था, तत्त्वों के विरोध का एक वार भी न सह सका। कौन जानता था कि यह दौड़ उसके लिए मौत की दौड़ होगी? कौन जानता था कि मौत ही साँड़ का रूप धरकर उसे यों नचा रही है? कौन जानता था कि वह जल जिसके बिना उसके प्राण ओठों पर आ रहे थे उसके लिए विष का काम करेगा?

सन्ध्या समय उसके घरवाले उसे ढूँढ़ते हुए आये। देखा तो वह अनन्त विश्राम में मग्न था।

(४)

एक महीना गुज़र गया। गाँववाले अपने काम-धन्धे में लगे। घरवालों ने रो-धोकर सब्र किया। पर अभागिनी विधवा के आँसू कैसे पुँछते। वह हरदम रोती रहती। आँखें चाहे बन्द भी हो जातीं, पर हृदय नित्य रोता रहता था। इस घर में अब कैसे निर्वाह होगा? किस आधार पर जिऊँगी? अपने लिए जीना या तो महात्माओं को आता है या लम्पटों ही को। अनूपा को यह कला क्या मालूम? उसके लिए तो जीवन का एक आधार चाहिये था, जिसे वह अपना सर्वस्व समझे, जिसके लिए वह जिये, जिस पर वह घमण्ड करे। घरवालों को यह गवारा न था कि यह कोई दूसरा घर करे। इसमें बदनामी थी। इसके सिवा ऐसी सुशील, घर के कामों में ऐसी कुशल, लेन-देन के मामले

में इतनी चतुर और रंग-रूप की ऐसी सराहनीय स्त्री का किसी दूसरे के घर पड़ जाना ही उन्हें असह्य था। उधर अनूपा के मैकेवाले एक जगह बातचीत पक्की कर रहे थे। जब सब बातें तय हो गई, तो एक दिन अनूपा का भाई उसे विदा कराने आ पहुँचा।

अब तो घर में खलबली मची। इधर से कहा गया, हम विदा न करेंगे ; भाई ने कहा, हम बिना विदा कराये मानेंगे नहीं। गाँव के आदमी जमा हो गये, पञ्चायत होने लगी। यह निश्चय हुआ कि अनूपा पर छोड़ दिया जाय। उसका जी चाहे चली जाय, जी चाहे रहे। यहाँवालों को विश्वास था कि अनूपा इतनी जल्द दूसरा घर करने पर राज़ी न होगी, दो-चार बार वह ऐसा कह भी चुकी थी। लेकिन इस वक्त जो पूछा गया तो वह जाने को तैयार थी। आख़िर उसकी विदाई का सामान होने लगा। डोली आ गई। गाँव-भर की स्त्रियाँ उसे देखने आईं। अनूपा उठकर अपनी सास के पैरों पर गिर पड़ी और हाथ जोड़कर बोली—अम्माँ, कहा-सुना माफ़ करना। जी में तो था कि इसी घर में पड़ी रहूँ पर भगवान् को मंजूर नहीं है।

यह कहते-कहते उसकी ज़बान बन्द हो गई।

सास करुणा से विह्वल हो उठी। बोली—बेटी, जहाँ जाओ वहाँ सुखी रहो। हमारे भाग्य ही फूट गये नहीं तो क्यों तुम्हें इस घर से जाना पड़ता। भगवान् का दिया और सब कुछ है, पर उन्होंने जो नहीं दिया उसमें अपना क्या बस। आज तुम्हारा देवर सयाना होता तो बिगड़ी बात बन जाती। तुम्हारे मन में बैठे तो इसी को अपना समझो, पालो-पोसो, बड़ा हो जायगा तो सगाई कर दूँगी। और तो अपना कोई बस नहीं।

यह कहकर उसने अपने सबसे छोटे लड़के वासुदेव से पूछा—क्यों रे! भौजाई से सगाई करेगा?

वासुदेव की उम्र पाँच साल से अधिक न थी। अबकी उसका ब्याह होनेवाला था। बातचीत हो चुकी थी। बोला—तब तो दूसरे के घर न जायगी न?

माँ—नहीं, जब तेरे साथ ब्याह हो जायगा तो क्यों जायगी ?

वासुदेव—तब मैं करूँगा।

माँ—अच्छा, उससे पूछ तुझसे ब्याह करेगी ?

वासुदेव अनूपा की गोद में जा बैठा और शरमाता हुआ बोला—हमसे ब्याह करेगी ?

यह कहकर वह हँसने लगा; लेकिन अनूपा की आँखें डबडबा गईं, वासुदेव को छाती से लगाती हुई बोली—अम्मा, दिल से कहती हो ?

सास—भगवान् जानते हैं !

अनूपा—तो आज से यह मेरे हो गये ?

सास—हाँ, सारा गाँव देख रहा है।

अनूपा—तो भैया से कहला भेजो, घर जायें, मैं उनके साथ न जाऊँगी।

अनूपा को जीवन के लिए किसी आधार की ज़रूरत थी। वह आधार मिल गया। सेवा मनुष्य की स्वाभाविक वृत्ति है। सेवा ही उसके जीवन का आधार है।

अनूपा ने वासुदेव को पालना-पोसना शुरू किया। उसे उबटन और तेल लगाती, दूध रोटी मल-मलकर खिलाती। आप तालाब नहाने जाती तो उसे भी नहलाती। खेत में जाती तो उसे भी साथ ले जाती। थोड़े ही दिनों में वह उससे इतना हिल-मिल गया कि एक क्षण के लिए भी उसे न छोड़ता। मा को भूल गया। कुछ खाने को जी चाहता तो अनूपा से माँगता, खेल में मार खाता तो रोता हुआ अनूपा के पास आता। अनूपा ही उसे सुलाती, अनूपा ही जगाती, बीमार होता तो अनूपा ही गोद में लेकर बदलू वैद्य के घर जाती, वही दवायें पिलाती।

गाँव के स्त्री-पुरुष उसकी यह प्रेम-तपस्या देखते और दाँतों उँगली दबाते। पहले बिरले ही किसी को उस पर विश्वास था। लोग समझते थे, साल-दो-साल में इसका जी ऊब जायगा और किसी तरफ़ का रास्ता लेगी, इस दुध-मुँहे बालक के नाम पर कब तक बैठी रहेगी। लेकिन यह सारी आशायें निमूल निकलीं। अनूपा को किसी ने अपने

व्रत से विचलित होते न देखा। जिस हृदय में सेवा का स्रोत बह रहा हो—स्वाधीन सेवा का—उसमें वासनाओं के लिए कहाँ स्थान! वासना का वार निर्मम, आशाहीन, आधारहीन प्राणियों ही पर होता है। चोर की अँधेरे ही में चलती है, उजाले में नहीं।

वासुदेव को भी कसरत का शौक़ था। उसकी शकल-सूरत मथुरा से मिलती-जुलती थी, डील-डौल भी वैसा ही था। उसने फिर अखाड़ा जगाया और उसकी बाँसुरी की तानें फिर खेतों में गूँजने लगीं।

इस भाँति १३ बरस गुज़र गये। वासुदेव और अनूपा में सगाई की तैयारी होने लगी।

(६)

लेकिन अब अनूपा वह अनूपा न थी, जिसने १४ वर्ष पहले वासुदेव को पति-भाव से देखा था, अब उस भाव का स्थान मातृ-भाव ने ले लिया था। इधर कुछ दिनों से वह एक गहरे सोच में डूबी रहती थी। सगाई के दिन ज्यों-ज्यों निकट आते थे, उसका दिल बैठा जाता था। अपने जीवन में इतने बड़े परिवर्तन की कल्पना ही से उसका कलेजा दहल उठता था। जिसे बालक की भाँति पाला-पोसा, उसे पति बनाते हुए लज्जा से उसका मुख लाल हो जाता था।

द्वार पर नगाड़ा बज रहा था। बिरादरी के लोग जमा थे। घर में गाना हो रहा था। आज सगाई की तिथि थी।

सहसा अनूपा ने जाकर सास से कहा—अम्माँ, मैं तो लाज के मारे मरी जाती हूँ।

सास ने भौचक्की होकर पूछा—क्यों बेटी, क्या है?

अनूपा—मैं सगाई न करूँगी।

सास—कैसी बात करती है बेटी? सारी तैयारी हो गई। लोग सुनेंगे तो क्या कहेंगे?

अनूपा—जो चाहें कहें, जिसके नाम पर १४ बरस बैठी रही उसी के नाम पर अब भी बैठी रहूँगी। मैंने समझा था, मरद के बिना औरत से रहा न जाता होगा। मेरी तो भगवान ने इज्जत-आबरू से निबाह

दी। जब नई उमर के दिन कट गये तो अब कौन चिन्ता है। वासुदेव की सगाई कोई लड़की खोजकर कर दो। जैसे अब तक उसे पाला, उसी तरह अब उसके बाल-बच्चों को पालूँगी।

एक आँच की कसर

सारे नगर में महाशय यशोदानन्द का बखान हो रहा था। नगर ही में नहीं, समस्त प्रान्त में उनकी कीर्ति गाई जाती थी, समाचारपत्रों में टिप्पणियाँ हो रही थीं, मित्रों के प्रशंसापूर्ण पत्रों का ताँता लगा हुआ था। समाज-सेवा इसको कहते हैं! उन्नत विचार के लोग ऐसा ही करते हैं! महाशयजी ने शिक्षित-समुदाय का मुख उज्ज्वल कर दिया। अब कौन यह कहने का साहस कर सकता है कि हमारे नेता केवल बात के धनी हैं, काम के धनी नहीं? महाशयजी चाहते तो अपने पुत्र के लिए उन्हें कम-से-कम २० हज़ार रुपए दहेज के मिलते, उस पर खुशामद घाते में! मगर लाला साहब ने सिद्धान्त के सामने धन की रत्ती-बराबर परवा न की, और अपने पुत्र का विवाह बिना एक पाई दहेज लिये स्वीकार किया। वाह-वाह! हिम्मत हो तो ऐसी हो, सिद्धान्त-प्रेम हो तो ऐसा हो; आदर्श-पालन हो तो ऐसा हो। वाह रे सच्चे वीर, अपनी माता के सच्चे सपूत, तूने वह कर दिखाया जो कभी किसी ने न किया था, हम बड़े गर्व से तेरे सामने मस्तक नवाते हैं!

महाशय यशोदानन्द के दो पुत्र थे। बड़ा लड़का पढ़-लिखकर फ़ाज़िल हो चुका था। उसी का विवाह हो रहा था और जैसा हम देख चुके हैं, बिना कुछ दहेज लिये।

आज वर का तिलक था। शाहजहाँपुर के महाशय स्वामीदयाल तिलक लेकर आनेवाले थे। शहर के गण्यमान्य सज्जनों को निमंत्रण दे दिये गये थे। वे लोग जमा हो गये थे। महफ़िल सजी हुई थी। एक प्रवीण सितारिया अपना कौशल दिखाकर लोगों को मुग्ध कर

रहा था। दावत का सामान भी तैयार था। मित्रगण यशोदानन्द को बधाइयाँ दे रहे थे।

एक महाशय बोले—तुमने तो यार कमाल कर दिया!

दूसरे—कमाल! यह कहिये कि झंडे गाड़ दिये। अब तक जिसे देखा मंच पर व्याख्यान झाड़ते ही देखा। जब काम करने का अवसर आता था तो लोग दुम दबा लेते थे।

तीसरे—कैसे-कैसे बहाने गढ़े जाते हैं—साहब हमें तो दहेज से सख्त नफ़रत है। यह मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध है, पर करूँ क्या, बच्चे की अम्मीजान नहीं मानतीं। कोई अपने बाप पर फेंकता है, कोई और किसी ख़ुर्राट पर।

चौथे—अजी, कितने तो ऐसे बेहया हैं जो साफ़-साफ़ कह देते हैं कि हमने लड़के की शिक्षा-दीक्षा में जितना ख़र्च किया है वह हमें मिलना चाहिये। मानो उन्होंने यह रुपए किसी बैंक में जमा किये थे!

पाँचवें—ख़ूब समझ रहा हूँ, आप लोग मुझ पर छींटे उड़ा रहे हैं। इसमें लड़केवालों का ही सारा दोष है या लड़कीवाले का भी कुछ है?

पहले—लड़कीवाले का क्या दोष है, सिवा इसके कि वह लड़की का बाप है?

दूसरे—सारा दोष ईश्वर का है जिसने लड़कियाँ पैदा कीं। क्यों?

पाँचवें—मैं यह नहीं कहता। न सारा दोष लड़कीवाले का है, न सारा दोष लड़केवालों का। दोनों ही दोषी हैं। अगर लड़कीवाला कुछ न दे तो उसे यह शिकायत करने का तो कोई अधिकार नहीं है। न कि डाल क्यों नहीं लाये, सुन्दर जोड़े क्यों नहीं लाये, बाजे-गाजे और धूमधाम के साथ क्यों नहीं आये? बताइये!

चौथे—हाँ, आपका यह प्रश्न ग़ौर करने के लायक़ है। मेरी समझ में तो ऐसी दशा में लड़के के पिता से यह शिकायत न होनी चाहिये।

पाँचवें—तो यों कहिये कि दहेज की प्रथा के साथ ही डाल, गहने

और जोड़ों की प्रथा भी त्याज्य है। केवल दहेज को मिटाने का प्रयत्न करना व्यर्थ है।

यशोदानन्द—यह भी lame excuse[१] है। मैंने दहेज नहीं लिया है, लेकिन क्या डाल गहने न ले जाऊँगा।

पहले—महाशय आपकी बात निराली है। आप अपनी गिनती हम दुनियावालों के साथ क्यों करते हैं। आपका स्थान तो देवताओं के साथ है।

दूसरे—२० हज़ार की रक़म छोड़ दी। क्या बात है।

यशोदानन्द—मेरा तो यह निश्चय है कि हमें सदैव principles[२] पर स्थिर रहना चाहिये। principle[३] के सामने money[४] की कोई value[५] नहीं है। दहेज की कुप्रथा पर मैंने ख़ुद कोई व्याख्यान नहीं दिया, शायद कोई नोट तक नहीं लिखा। हाँ, conference[६] में इस प्रस्ताव को second[७] कर चुका हूँ और इसलिए मैं अपने को उस प्रस्ताव से बँधा हुआ पाता हूँ। मैं उसे तोड़ना भी चाहूँ तो आत्मा न तोड़ने देगी। मैं सत्य कहता हूँ यह रुपए ले लूँ तो मुझे इतनी मानसिक वेदना होगी कि शायद मैं इस आघात से बच ही न सकूँ।

पाँचवें—अब की Conference आपको सभापति न बनाये तो उसका घोर अन्याय है।

यशोदानन्द—मैंने अपनी Duty[८] कर दी, उसका recognition[९] हो या न हो, मुझे इसकी परवा नहीं।

इतने में ख़बर हुई कि महाशय स्वामीदयाल आ पहुँचे। लोग उनका अभिवादन करने को तैयार हुए। उन्हें मसनद पर ला बैठाया और तिलक का संस्कार आरम्भ हो गया। स्वामीदयाल ने एक ढाक के पत्तल में एक नारियल, सुपारी, चावल, पान आदि वस्तुएँ वर के सामने रखीं। ब्राह्मणों ने मन्त्र पढ़े, हवन हुआ और वर के माथे पर

१—थोथी दलील। २—सिद्धान्तों। ३—सिद्धान्त। ४—धन। ५—मूल्य। ६—सभा। ७—अनुमोदन ८—कर्तव्य। ९—क़दर।

तिलक लगा दिया गया। तुरन्त घर की स्त्रियों ने मंगलाचरण गाना शुरू किया। यहाँ महफ़िल में महाशय यशोदानन्द ने एक चौकी पर खड़े होकर दहेज की कुप्रथा पर व्याख्यान देना शुरू किया। व्याख्यान पहले से लिखकर तैयार कर लिया गया था। उन्होंने दहेज की ऐतिहासिक व्याख्या की थी। पूर्वकाल में दहेज का नाम भी न था। महाशयो ! कोई जानता ही न था कि दहेज या ठहरौनी किस चिड़िया का नाम है। सत्य मानिये, कोई जानता ही न था कि ठहरौनी है क्या चीज़, पशु या पक्षी, आसमान में या ज़मीन में, खाने में या पीने में। बादशाही ज़माने में इस प्रथा की बुनियाद पड़ी। हमारे युवक सेनाओं में सम्मिलित होने लगे, यह वीर लोग थे, सेनाओं में जाना गर्व की बात समझते थे। माताएँ अपने दुलारों को अपने हाथ से शस्त्रों से सजाकर रणक्षेत्र में भेजती थीं। इस भाँति युवकों की संख्या कम होने लगी और लड़कों का मोल-तोल शुरू हुआ। आज यह नौबत आ गई है कि मेरी यह तुच्छ, महातुच्छ सेवा पर पत्रों में टिप्पणियाँ हो रही हैं मानो मैंने कोई असाधारण काम किया है। मैं कहता हूँ, अगर आप संसार में जीवित रहना चाहते हैं तो इस प्रथा का तुरन्त अन्त कीजिये।

एक महाशय ने शंका की—क्या इसका अन्त किये बिना हम सब मर जायँगे ?

यशोदानन्द—अगर ऐसा होता तो क्या पूछना था, लोगों को दण्ड मिल जाता और वास्तव में ऐसा ही होना चाहिये। यह ईश्वर का अत्याचार है कि ऐसे लोभी, धन पर गिरनेवाले, बुरदा-फ़रोश, अपनी सन्तान का विक्रय करनेवाले, नराधम जीवित हैं और सुखी हैं। समाज उनका तिरस्कार नहीं करता। मगर वह सब बुरदा-फ़रोश हैं...इत्यादि।

व्याख्यान बहुत लम्बा और हास्य से भरा हुआ था। लोगों ने खूब वाह-वाह की। अपना वक्तव्य समाप्त करने के बाद उन्होंने अपने छोटे लड़के परमानन्द को जिसकी अवस्था कोई ७ वर्ष की थी, मंच पर

खड़ा किया। उसे उन्होंने एक छोटा-सा व्याख्यान लिखकर दे रखा था। दिखाना चाहते थे कि इस कुल के छोटे बालक भी कितने कुशाग्र बुद्धि हैं। सभा-समाजों में बालकों से व्याख्यान दिलाने की प्रथा है ही, किसी को कुतूहल न हुआ। बालक बड़ा सुन्दर, होनहार, हँसमुख था। मुसकराता हुआ मंच पर आया और जेब में से एक काग़ज़ निकालकर बड़े गर्व के साथ उच्च स्वर से पढ़ने लगा—

प्रिय बन्धुवर,

नमस्कार।

आपके पत्र से विदित होता है कि आपको मुझ पर विश्वास नहीं है। मैं ईश्वर को साक्षी करके निवेदन करता हूँ कि निर्दिष्ट धन आप की सेवा में इतनी गुप्त रीति से पहुँचेगा कि किसी को लेश-मात्र भी सन्देह न होगा। हाँ, केवल एक जिज्ञासा करने की धृष्टता करता हूँ। इस व्यापार को गुप्त रखने से आपको जो सम्मान और प्रतिष्ठा लाभ होगी, और मेरे निकटवर्ती बन्धुजनों में मेरी जो निन्दा की जायगी उसके उपलक्ष्य में मेरे साथ क्या रिआयत होगी? मेरा विनीत अनुरोध है, कि २५ में से ५ निकालकर मेरे साथ न्याय किया जाय...।

महाशय यशोदानन्द घर में मेहमानों के लिए भोजन परसने का आदेश करने गये थे। निकले तो यह वाक्य उनके कान में पड़ा—'२५ में से ५ निकालकर मेरे साथ न्याय कीजिये।' चेहरा फ़क हो गया, झपटकर लड़के के पास गये, काग़ज उसके हाथ से छीन लिया और बोले—नालायक़, यह क्या पढ़ रहा है, यह तो किसी मुवक्किल का ख़त है जो उसने अपने मुकदमे के बारे में लिखा था। यह तू कहाँ से उठा लाया, शैतान, जा वह काग़ज ला, जो तुझे लिखकर दिया गया था।

एक महाशय—पढ़ने दीजिये, इस तहरीर में जो लुत्फ़ है वह किसी दूसरी तक़रीर में न होगा।

दूसरे—जादू वह जो सिर पर चढ़के बोले!

तीसरे—अब जलसा बरख़ास्त कीजिये, मैं तो चला।

चौथे—यहाँ भी चलन्तू हुए।

यशोदानन्द—बैठिये बैठिये, पत्तल लगाये जा रहे हैं।

पहले—बेटा परमानन्द, ज़रा यहाँ तो आना, तुमने यह काग़ज़ कहाँ पाया?

परमानन्द—बाबूजी ही ने तो लिखकर अपने मेज़ के अन्दर रख दिया था। मुझसे कहा था कि इसे पढ़ना। अब नाहक़ मुझसे ख़फ़ा हो रहे हैं।

यशोदानन्द—वह यह काग़ज़ था सुअर? मैंने तो मेज़ के ऊपर ही रख दिया था, तूने ड्राअर में से क्यों यह काग़ज़ निकाला?

परमानन्द—मुझे मेज़ पर नहीं मिला।

यशोदानन्द—तो मुझसे क्यों नहीं कहा, ड्राअर क्यों खोला? देखो आज ऐसी ख़बर लेता हूँ कि तुम भी याद करोगे।

पहले—यह आकाशवाणी है।

दूसरे—इसी को लीडरी कहते हैं कि अपना उल्लू भी सीधा करो और नेकनाम भी बनो।

तीसरे—शरम आनी चाहिये। यश त्याग से मिलता है, धोखे-धड़ी से नहीं।

चौथे—मिल तो गया था पर एक आँच की कसर रह गई।

पाँचवें—ईश्वर पाखंडियों को योंही दण्ड देता है।

यह कहते हुए लोग उठ खड़े हुए। यशोदानन्द समझ गये कि भंडा फूट गया, अब रंग न जमेगा, बार-बार परमानन्द को कुपित नेत्रों से देखते थे और डण्डा तोलकर रह जाते थे। इस शैतान ने आज जीती-जिताई बाज़ी खो दी, मुँह में कालिख लग गई, सिर नीचा हो गया। गोली मार देने का काम किया है।

उधर रास्ते में मित्र-वर्ग यों टिप्पणियाँ करते जा रहे थे—

एक—ईश्वर ने मुँह में कैसी कालिमा लगाई कि हयादार होगा तो अब सूरत न दिखायेगा।

दूसरा—ऐसे-ऐसे धनी, मानी, विद्वान् लोग ऐसे पतित हो सकते

हैं मुझे तो यही आश्चर्य है। लेना है तो खुले ख़ज़ाने लो, कौन तुम्हारा हाथ पकड़ता है; यह क्या कि माल भी चुपके-चुपके उड़ाओ और यश भी कमाओ?

तीसरा—मक्कार का मुँह काला?

चौथा—यशोदानन्द पर दया आ रही है। बेचारे ने इतनी धूर्तता की उस पर भी क़लई खुल ही गई। बस एक आँच की कसर रह गई!

माता का हृदय

(१)

माधवी की आँखों में सारा संसार अँधेरा हो रहा था। कोई अपना मददगार न दिखाई देता था। कहीं आशा की झलक न थी। उस निर्जन घर में वह अकेली पड़ी रोती थी और कोई आँसू पोछनेवाला न था। उसके पति को मरे हुए २२ वर्ष हो गये थे। घर में कोई सम्पत्ति न थी। उसने न-जाने किन तकलीफ़ों से अपने बच्चे को पाल-पोसकर बड़ा किया था। वही जवान बेटा आज उसकी गोद से छीन लिया गया था, और छीननेवाले कौन थे? अगर मृत्यु ने छीना होता तो वह सब्र कर लेती। मौत से किसी को द्वेष नहीं होता। मगर स्वार्थियों के हाथों यह अत्याचार असह्य हो रहा था। इस घोर सन्ताप की दशा में उसका जी रह-रहकर इतना विकल हो जाता कि इसी समय चलूँ और उस अत्याचारी से इसका बदला लूँ जिसने उस पर यह निष्ठुर आघात किया है। मारूँ या मर जाऊँ। दोनों ही में सन्तोष हो जायगा। कितना सुन्दर, कितना होनहार बालक था! यही उसके पति की निशानी, उसके जीवन का आधार, उसकी उम्र-भर की कमाई थी। वही लड़का इस वक़्त जेल में पड़ा न जाने क्या-क्या तकलीफें झेल रहा होगा! और उसका अपराध क्या था? कुछ नहीं। सारा मुहल्ला उस पर जान देता था। विद्यालय के अध्यापक उस पर जान देते थे। अपने-

बेगाने सभी तो उसे प्यार करते थे। कभी उसकी कोई शिकायत सुनने ही में नहीं आई। ऐसे बालक की माता होने पर अन्य माताएँ उसे बधाई देती थीं। कैसा सज्जन, कैसा उदार, कैसा परमार्थी। खुद भूखों सो रहे मगर क्या मजाल कि द्वार पर आनेवाले अतिथि को रूखा जवाब दे। ऐसा बालक क्या इस योग्य था कि जेल में जाता! उसका अपराध यही था। वह कभी-कभी सुननेवालों को अपने दुखी भाइयों का दुखड़ा सुनाया करता था, अत्याचार से पीड़ित प्राणियों की मदद के लिए हमेशा तैयार रहता था। क्या यही उसका अपराध था? दूसरों की सेवा करना भी अपराध है? किसी अतिथि को आश्रय देना भी अपराध है?

इस युवक का नाम आत्मानन्द था। दुर्भाग्यवश उसमें वे सभी सद्‌गुण थे जो जेल का द्वार खोल देते हैं। वह निर्भीक था, स्पष्टवादी था, साहसी था, स्वदेश-प्रेमी था, निस्स्वार्थ था, कर्तव्यपरायण था। जेल जाने के लिए इन्हीं गुणों की ज़रूरत है। स्वाधीन प्राणियों के लिए ये गुण स्वर्ग का द्वार खोल देते हैं, पराधीनों के लिए नरक के! आत्मानन्द के सेवा-कार्य ने, उसकी वक्तृताओं ने और उसके राजनीतिक लेखों ने उसे सरकारी कर्मचारियों की नज़रों में चढ़ा दिया था। सारा पुलीस-विभाग नीचे से ऊपर तक, उससे सतर्क रहता था, सबकी निगाहें उस पर लगी रहती थीं। आखिर ज़िले में एक भयंकर डाके ने उन्हें इच्छित अवसर प्रदान कर दिया। आत्मानन्द के घर की तलाशी हुई, कुछ पत्र और लेख मिले जिन्हें पुलीस ने डाके का बीजक सिद्ध किया। लगभग २० युवकों की एक टोली फाँस ली गई। आत्मानन्द इनका मुखिया ठहराया गया। शहादतें तैयार हुईं। इस बेकारी और गिरानी के ज़माने में आत्मा से ज़्यादा सस्ती और कौन वस्तु हो सकती है! बेचने को और किसी के पास रह ही क्या गया है। नाममात्र का प्रलोभन देकर अच्छी से अच्छी शहादतें मिल सकती हैं, और पुलीस के हाथों में पड़कर तो निकृष्ट से निकृष्ट गवाहियाँ भी देव-वाणी का महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं। शहादतें मिल गईं, महीनेभर

तक मुक़दमा चला, मुक़दमा क्या चला एक स्वाँग चलता रहा, और सारे अभियुक्तियों को सज़ाएँ दे दी गईं। आत्मानन्द को सबसे कठोर दण्ड मिला। ८ वर्ष का कठिन कारावास! माधवी रोज़ कचहरी जाती; एक कोने में बैठी सारी काररवाई देखा करती। मानवी चरित्र कितना दुर्बल, कितना निर्दय, कितना नीच है, इसका उसे तब तक अनुमान भी न हुआ था। जब आत्मानन्द को सज़ा सुना दी गई और वह माता को प्रणाम करके सिपाहियों के साथ चला तो माधवी मूर्च्छित होकर जमीन पर गिर पड़ी। दो-चार दयालु सज्जनों ने उसे एक ताँगे पर बैठाकर घर तक पहुँचाया। जब से वह होश में आई है, उसके हृदय में शूल सा उठ रहा है। किसी तरह धैर्य नहीं होता। उस घोर आत्म-वेदना की दशा में अब उसे अपने जीवन का केवल एक लक्ष्य दिखाई देता है, और वह इस अत्याचार का बदला है।

अब तक पुत्र उसके जीवन का आधार था। अब शत्रुओं से बदला लेना ही उसके जीवन का आधार होगा। जीवन में अब उसके लिए कोई आशा न थी। इस अत्याचार का बदला लेकर वह अपना जन्म सफल समझेगी। इस अभागे नर-पिशाच बागची ने जिस तरह उसे रक्त के आँसू रुलाये हैं उसी भाँति वह भी उसे रुलायेगी। नारी-हृदय कोमल है, लेकिन केवल अनुकूल दशा में। जिस दशा में पुरुष दूसरों को दबाता है, स्त्री शील और विनय की देवी हो जाती है। लेकिन जिसके हाथों अपना सर्वनाश हो गया हो उसके प्रति स्त्री को पुरुष से कम घृणा और क्रोध नहीं होता। अन्तर इतना ही है कि पुरुष शस्त्रों से काम लेता है, स्त्री कौशल से।

रात भीगती जाती थी, और माधवी उठने का नाम न लेती थी। उसका दुःख प्रतिकार के आवेश में विलीन होता जाता था। यहाँ तक कि इसके सिवा उसे और किसी बात की याद ही न रही। उसने सोचा, कैसे यह काम होगा? कभी घर से नहीं निकली! वैधव्य के २२ साल इसी घर में कट गये। लेकिन अब निकलूँगी। ज़बर्दस्ती निकलूँगी, भिखारिन बनूँगी, टहलनी बनूँगी, झूठ बोलूँगी, सब कुकर्म करूँगी।

सत्कर्म के लिए संसार में स्थान नहीं। ईश्वर ने निराश होकर कदाचित् इसकी ओर से मुँह फेर लिया है। तभी तो यहाँ ऐसे-ऐसे अत्याचार होते हैं और पापियों को दण्ड नहीं मिलता! अब इन्हीं हाथों से उसे दण्ड दूँगी।

( )

संध्या का समय था। लखनऊ के एक सजे हुए बँगले में मित्रों की महफ़िल जमी हुई थी। गाना-बजाना हो रहा था। एक तरफ़ आतश-बाज़ियाँ रखी हुई थीं। दूसरे कमरे में मेज़ों पर खाना चुना जा रहा था। चारों तरफ़ पुलिस के कर्मचारी नज़र आते थे। यह पुलिस के सुपरिंटेंडेंट मिस्टर बागची का बँगला है। कई दिन हुए उन्होंने एक मारके का मुक़दमा जीता था। अफ़सरों ने ख़ुश होकर उनकी तरक़्क़ी कर दी थी। और उसकी खुशी में यह उत्सव मनाया जा रहा था। यहाँ आये दिन ऐसे उत्सव होते रहते थे। मुफ़्त के गवैये मिल जाते थे, मुफ़्त की आतशबाज़ी; फल और मेवे और मिठाइयाँ आधे दामों पर बाज़ार से आ जाती थीं और चट दावत हो जाती थी। दूसरों के जहाँ सौ लगते, वहाँ इनका दस से काम चल जाता था। दौड़-धूप करने को सिपाहियों की फ़ौज थी ही! और यह मारके का मुक़दमा क्या था? वही जिससे निरपराध युवकों को बनावटी शहादतों से जेल में ठूँस दिया गया था।

गाना समाप्त होने पर लोग भोजन करने बैठे। बेगार के मज़दूर और पल्लेदार जो बाज़ार से दावत और सजावट के सामान लाये थे, रोते या दिल में गालियाँ देते चले गये थे, पर एक बुढ़िया अभी तक द्वार पर बैठी हुई थी। अन्य मज़दूरों की तरह वह भुनभुनाकर काम न करती थी। हुक्म पाते ही ख़ुश दिल मज़दूर की तरह दौड़-दौड़कर हुक्म बजा लाती थी। यह माधवी थी, जो इस समय मजूरनी का वेष धारण करके अपना घातक संकल्प पूरा करने आई थी।

मेहमान चले गये। महफ़िल उठ गई। दावत का सामान समेट दिया गया। चारों ओर सन्नाटा छा गया, लेकिन माधवी अभी तक यहीं बैठी थी।

सहसा मिस्टर बागची ने पूछा—बुड्ढी, तू यहाँ क्यों बैठी है ? तुझे कुछ खाने को मिल गया ?

माधवी—हाँ हजूर, मिल गया।

बागची—तो जाती क्यों नहीं ?

माधवी—कहाँ जाऊँ सरकार, मेरा कोई घर-द्वार थोड़े ही है ? हुकुम हो तो यहीं पड़ रहूँ। पाव-भर आटे की परवस्ती हो जाय हजूर।

बागची—नौकरी करेगी ?

माधवी—क्यों न करूँगी सरकार, यही तो चाहती हूँ।

बागची—लड़का खिला सकती है ?

माधवी—हाँ हजूर, यह मेरे मन का काम है।

बागची—अच्छी बात है। तू आज ही से रह। जा घर में देख जो काम बतायें वह कर।

(३)

एक महीना गुज़र गया। माधवी इतना तन-मन से काम करती है कि सारा घर उससे ख़ुश है। बहूजी का मिज़ाज बहुत ही चिड़चिड़ा है। वह दिनभर खाट पर पड़ी रहती हैं और बात-बात पर नौकरों पर झल्लाया करती हैं। लेकिन माधवी उनकी घुड़कियों को भी सहर्ष सह लेती है। अब तक मुश्किल से कोई दाई एक सप्ताह से अधिक ठहरी थी। माधवी ही का कलेजा है कि जली-कटी सुनकर भी मुख पर मैल नहीं आने देती।

मिस्टर बागची के कई लड़के हो चुके थे, पर यही सबसे छोटा बच्चा बच रहा था। बच्चे पैदा तो हृष्ट-पुष्ट होते, किन्तु जन्म लेते ही उन्हें एक-न-एक रोग लग जाता था, और कोई दो-चार महीने, कोई साल-भर जीकर चल देते थे। मा-बाप दोनों इस शिशु पर प्राण देते थे। उसे ज़रा जुकाम भी हो जाता तो दोन विकल हो जाते। स्त्री-पुरुष दोनों शिक्षित थे पर बच्चे की रक्षा के लिए टोना-टोटका, दुआ-तावीज़, जंतर-मंतर, एक से भी उन्हें इनकार न था।

माधवी से यह बालक इतना हिल गया कि एक क्षण के लिए भी

उसकी गोद से न उतरता। वह कहीं एक क्षण के लिए चली जाती तो रो-रोकर दुनिया सिर पर उठा लेता। वह सुलाती तो सोता, वह दूध पिलाती तो पीता, वह खिलाती तो खेलता, उसी को वह अपनी माता समझता। माधवी के सिवा उसके लिए संसार में और कोई अपना न था। बाप को तो वह दिनभर में केवल दो-चार बार देखता और समझता यह कोई परदेशी आदमी है। मा आलस्य और कमज़ोरी के मारे उसे गोद में लेकर टहल न सकती थी। उसे वह अपनी रक्षा का भार सँभालने के योग्य न समझता था; और नौकर-चाकर उसे गोद में लेते तो इतनी बेदर्दी से कि उसके कोमल अङ्गों में पीड़ा होने लगती थी। कोई उसे ऊपर उछाल देता था, यहाँ तक कि अबोध शिशु का कलेजा मुँह को आ जाता था। उन सबों से वह डरता था। केवल माधवी थी जो उसके स्वभाव को समझती थी। वह जानती थी कि कब क्या करने से बालक प्रसन्न होगा, इसीलिए बालक को भी उससे प्रेम था।

माधवी ने समझा था यहाँ कंचन बरसता होगा, लेकिन उसे यह देखकर कितना विस्मय हुआ कि बड़ी मुश्किल से महीने का ख़र्च पूरा पड़ता है। नौकरों से एक-एक पैसे का हिसाब लिया जाता था और बहुधा आवश्यक वस्तुएँ भी टाल दी जाती थीं। एक दिन माधवी ने कहा—बच्चे के लिए कोई सेजगाड़ी क्यों नहीं मँगवा देतीं। गोद में उसकी बाढ़ मारी जाती होगी।

मिसेज़ बागची ने कुंठित होकर कहा—कहाँ से मँगवा दूँ? कम से कम ५०-६० रुपए में आयेगी। इतने रुपए कहाँ हैं?

माधवी—मालकिन, आप भी ऐसा कहती हैं!

मिसेज़ बागची—झूठ नहीं कहती। बाबूजी की पहली स्त्री से पाँच लड़कियाँ और हैं। सब इस समय इलाहाबाद के एक स्कूल में पढ़ रही हैं। बड़ी की उम्र १५-१६ वर्ष से कम न होगी। आधा वेतन तो उधर ही चला जाता है। फिर उनकी शादी की भी तो फ़िक्र है। पाँचों के विवाह में कम से कम २५ हज़ार लगेंगे। इतने रुपए कहाँ से आयेंगे।

मैं तो चिंता के मारे मरी जाती हूँ। मुझे कोई दूसरी बीमारी नहीं है, केवल यही चिन्ता का रोग है।

माधवी—घूस भी तो मिलती है।

मिसेज़ बागची—बूढ़ा, ऐसी कमाई में बरकत नहीं होती। यही क्यों, सच पूछो तो इसी घूस ने हमारी यह दुर्गति कर रखी है। क्या जाने औरों को कैसे हज़म होती है। यहाँ तो जब ऐसे रुपए आते हैं तो कोई न कोई नुक़सान भी अवश्य हो जाता है। एक आता है तो दो लेकर जाता है। बार-बार मना करती हूँ, हराम की कौड़ी घर में न लाया करो, लेकिन मेरी कौन सुनता है।

बात यह थी कि माधवी को बालक से स्नेह होता जाता था। उसके अमंगल की कल्पना भी वह न कर सकती थी। वह अब उसी की नींद सोती और उसी की नींद जागती थी। अपने सर्वनाश की बात याद करके एक क्षण के लिए उसे बागची पर क्रोध तो हो आता था और घाव फिर हरा हो जाता था, पर मन पर कुत्सित भावों का आधिपत्य न था। घाव भर रहा था, केवल ठेस लगने से दर्द हो जाता था। उसमें स्वयं टीस या जलन न थी। इस परिवार पर अब उसे दया आती थी। सोचती, बेचारे यह छीन-झपट न करें तो कैसे गुज़र हो! लड़कियों का विवाह कहाँ से करेंगे। स्त्री को जब देखो बीमार ही रहती है। उस पर बाबूजी को एक बोतल शराब भी रोज़ चाहिए। यह लोग तो स्वयं अभागे हैं। जिसके घर में ५-५ क्वाँरी कन्याएँ हों, बालक हो-होकर मर जाते हों, घरनी सदा बीमार रहती हो, स्वामी शराब का लती हो, उस पर तो योंही ईश्वर का कोप है। इनसे तो मैं अभागिनी ही अच्छी!

(४)

दुर्बल बालकों के लिए बरसात बुरी बला है। कभी खाँसी है, कभी ज्वर, कभी दस्त। जब हवा में ही शीत भरी हो तो कोई कहाँ तक बचाये। माधवी एक दिन अपने घर चली गई थी। बच्चा रोने लगा तो मा ने एक नौकर को दिया, इसे बाहर से बहला ला। नौकर ने बाहर ले जाकर हरी-हरी घास पर बैठा दिया। पानी बरसकर

निकल गया था। भूमि गीली हो रही थी। कहीं-कहीं पानी भी जमा हो गया था। बालक को पानी में छपके लगाने से ज़्यादा प्यारा और कौन खेल हो सकता है। ख़ूब प्रेम से उमक-उमककर पानी में लोटने लगा। नौकर बैठा और आदमियों के साथ गपशप करता रहा। इस तरह घण्टों गुज़र गये। बच्चे ने ख़ूब सरदी खाई। घर आया तो उसकी नाक बह रही थी। रात को माधवी ने आकर देखा तो बच्चा खाँस रहा था। आधी रात के क़रीब उसके गले से खुरखुर की आवाज़ निकलने लगी। माधवी का कलेजा सन से हो गया! स्वामिनी को जगाकर बोली—देखो तो बच्चे को क्या हो गया है। क्या सर्दी-वर्दी तो नहीं लग गई। हाँ सर्दी ही तो मालूम होती है।

स्वामिनी हकबकाकर उठ बैठी और बालक की खुरखुराहट सुनी तो पाँव तले से ज़मीन निकल गई। यह भयंकर आवाज़ उसने कई बार सुनी थी। और उसे ख़ूब पहचानती थी। व्यग्र होकर बोली—ज़रा आग जलाओ। थोड़ा-सा चोकर लाकर एक पोटली बनाओ, सेंकने से लाभ होता है। इन नौकरों से तंग आ गई। आज कहार ज़रा देर के लिए बाहर ले गया था उसी ने सर्दी में छोड़ दिया होगा।

सारी रात दोनों बालक को सेंकती रहीं। किसी तरह सवेरा हुआ। मिस्टर बागची को ख़बर मिली तो सीधे डाक्टर के यहाँ दौड़े। ख़ैरियत इतनी थी कि जल्द एहतियात की गई थी। तीन दिन में बच्चा अच्छा हो गया। लेकिन इतना दुर्बल हो गया था कि उसे देखकर डर लगता था। सच पूछो तो माधवी की तपस्या ने बालक को बचाया। माता सोती, पिता सो जाता, किन्तु माधवी की आँखों में नींद न थी। खाना-पीना तक भूल गई। देवताओं की मनौतियाँ करती थी, बच्चे की बलाएँ लेती थी, बिलकुल पागल हो गई थी। यह वही माधवी है जो अपने सर्वनाश का बदला लेने आई थी। अपकार की जगह उपकार कर रही थी। विष पिलाने आई थी, सुधा पिला रही थी। मनुष्य में देवता कितना प्रबल है!

प्रातःकाल का समय था। मिस्टर बागची शिशु के झूले के पास

This is a very good book. It is my advice to read this book.

बैठे हुए थे। स्त्री के सिर में पीड़ा हो रही थी। वह चारपाई पर लेटी हुई थी, और माधवी समीप बैठी बच्चे के लिए दूध गरम कर रही थी। सहसा बागची ने कहा—बूढ़ा, हम जब तक जियेंगे तुम्हारा यश गायगे। तुमने बच्चे को जिला लिया।

स्त्री—यह देवी बनकर हमारा कष्ट निवारण करने के लिए आ गई। यह न होती तो न-जाने क्या हो जाता। बूढ़ा, तुमसे मेरी एक विनती है। यों तो मरना-जीना प्रारब्ध के हाथ है लेकिन अपना-अपना पौरा भी बड़ी चीज़ है। मैं अभागिनी हूँ। अब की तुम्हारे ही पुण्य-प्रताप से बचा सँभल गया। मुझे डर लग रहा है कि ईश्वर इसे हमारे हाथ से छीन न लें। सच कहती हूँ बूढ़ा, मुझे इसको गोद में लेते डर लगता है। इसे तुम आज से अपना बचा समझो। तुम्हारा होकर शायद बच जाय, हम तो अभागे हैं। हमारा होकर इस पर नित्य कोई-न-कोई संकट आता रहेगा। आज से तुम इसकी माता हो जाओ। तुम इसे अपने घर ले जाओ। जहाँ चाहे ले जाओ। तुम्हारी गोद में देकर मुझे फिर कोई चिंता न रहेगी। वास्तव में तुम्हीं इसकी माता हो। मैं तो राक्षसी हूँ।

माधवी—बहूजी, भगवान् सब कुशल करेंगे, क्यों जी इतना छोटा करती हो?

मिस्टर बागची—नहीं-नहीं बूढ़ी माता, इसमें कोई हरज नहीं है। मैं मस्तिष्क से तो इन बातों को ढकोसला ही समझता हूँ, लेकिन हृदय से इन्हें दूर नहीं कर सकता। मुझे स्वयं मेरी माताजी ने एक धोबिन के हाथ बेच दिया था। मेरे तीन भाई मर चुके थे। मैं जो बच गया तो मा-बाप ने समझा, बेचने ही से इसकी जान बच गई। तुम इस शिशु को पालो-पोसो। इसे अपना पुत्र समझो। ख़र्च हम बराबर देते रहेंगे। इसकी कोई चिन्ता मत करना। कभी-कभी जब हमारा जी चाहेगा, आकर देख लिया करेंगे। हमें विश्वास है कि तुम इसकी रक्षा हम लोगों से कहीं अच्छी तरह कर सकती हो। मैं कुकर्मी हूँ। जिस पेशे में हूँ, उसमें कुकर्म किये बग़ैर काम नहीं चल सकता। झूठी शहादतें

बनानी ही पड़ती हैं, निरपराधों को फँसाना ही पड़ता है। आत्मा इतनी दुर्बल हो गई है कि प्रलोभन मे पड़ ही जाती है। जानता हूँ कि बुराई का फल बुरा ही होता है, पर परिस्थिति मे मजबूर हूँ। अगर ऐसा न करूँ तो आज नालायक़ बनाकर निकाल दिया जाऊँ। अँगरेज़ हज़ारों भूलें करें, कोई नहीं पूछता। हिन्दुस्तानी एक भूल भी कर बैठे तो सारे अफ़सर उसके सिर हो जाते हैं। हिन्दुस्तानियों को तो कोई बड़ा पद न मिले वही अच्छा। पद पाकर तो उनकी आत्मा का पतन हो जाता है। उनको अपनी हिन्दुस्तानियत का दोष मिटाने के लिए कितनी ही ऐसी बातें करनी पड़ती हैं जिनका अँगरेज़ के दिल में कभी ख़याल ही नहीं पैदा हो सकता। तो बोलो स्वीकार करती हो ?

माधवी गद्‌गद होकर बोली—बाबूजी, आपकी यह इच्छा है तो मुझसे भी जो कुछ बन पड़ेगा आपकी सेवा कर दूँगी। भगवान् बालक को अमर करें, मेरी तो उनसे यही विनती है।

माधवी को ऐसा मालूम हो रहा था कि स्वर्ग के द्वार सामने खुले हैं और स्वर्ग की देवियाँ उसे अञ्चल फैला-फैलाकर आशीर्वाद दे रही हैं, मानो उसके अन्तस्तल में प्रकाश की लहरें-सी उठ रही हैं। इस स्नेहमय सेवा में कितनी शान्ति थी !

बालक अभी तक चादर ओढ़े सो रहा था। माधवी ने दूध गरम हो जाने पर उसे झूले पर से उठाया, तो चिल्ला पड़ी। बालक की देह ठंढी हो गई थी और मुख पर वह पीलापन आ गया था जिसे देखकर कलेजा हिल जाता है, कंठ से आह निकल आती है और आँखों से आँसू बहने लगते हैं। जिसने उसे एक बार देखा है फिर कभी नहीं भूल सकता। माधवी ने शिशु को गोद से चिमटा लिया, हालाँकि नीचे उतार देना चाहिये था।

कुहराम मच गया। मा बच्चे को गले से लगाये रोती थी, पर उसे ज़मीन पर न सुलाती थी। क्या बात हो रही थी और क्या हो गया। मौत को धोखा देने में आनन्द आता है। वह उस वक़्त कभी नहीं आती जब लोग उसकी राह देखते होते हैं। रोगी जब सँभल जाता

है, जब वह पथ्य लेने लगता है, उठने-बैठने लगता है, घर भर ख़ुशियाँ मनाने लगता है, सबको विश्वास हो जाता है कि संकट टल गया, उस वक़्त घात में बैठी हुई मौत सिर पर आ जाती है। यही उसकी निठुर लीला है!

आशाओं के बाग़ लगाने में हम कितने कुशल हैं। यहाँ हम रक्त के बीज बोकर सुधा के फल खाते हैं। अग्नि से पौदों को सींचकर शीतल छाँह में बैठते हैं। हा मन्द बुद्धि!

दिन भर मातम होता रहा, बाप रोता था, मा तड़पती थी और माधवी बारी बारी से दोनों को समझाती थी। यदि अपने प्राण देकर वह बालक को जिला सकती तो इस समय अपना धन्य भाग्य समझती। वह अहित का संकल्प करके यहाँ आई थी और आज जब उसकी मनोकामना पूरी हो गई और उसे ख़ुशी से फूला न समाना चाहिये था, उसे उससे कहीं घोर पीड़ा हो रही थी जो अपने पुत्र की जेल-यात्रा से हुई थी। रुलाने आई थी और ख़ुद रोती जा रही थी। माता का हृदय दया का आगार है। उसे जलाओ तो उसमें से दया की ही सुगन्ध निकलती है। पीसो तो दया का ही रस निकलता है। वह देवी है। विपत्ति की क्रूर लीलाएँ भी उस स्वच्छ और निर्मल स्रोत को मलिन नहीं कर सकतीं!

परीक्षा

नादिरशाह की सेना ने दिल्ली में क़त्ल-आम कर रखा है। गलियों में ख़ून की नदियाँ बह रही हैं। चारों तरफ़ हाहाकार मचा हुआ है। बाज़ार बन्द है। दिल्ली के लोग घरों के द्वार बन्द किये जान की ख़ैर मना रहे हैं। किसी की जान सलामत नहीं है। कहीं घरों में आग लगी हुई है, कहीं बाज़ार लुट रहा है; कोई किसी की फ़रियाद नहीं सुनता। रईसों की बेगमें महलों से निकाली जा रही हैं और उनकी बे-हुरमती

की जाती है। ईरानी सिपाहियों की रक्त-पिपासा किसी तरह नहीं बुझती। मानव-हृदय की क्रूरता, कठोरता और पैशाचिकता अपना विकरालतम रूप धारण किये हुए है। इसी समय नादिरशाह ने बादशाही महल में प्रवेश किया।

दिल्ली उन दिनों भोग-विलास का केन्द्र बनी हुई थी। सजावट और तकल्लुफ़ के सामानों से रईसों के भवन भरे रहते थे। स्त्रियों को बनाव सिंगार के सिवा कोई काम न था। पुरुषों को सुख-भोग के सिवा और कोई चिन्ता न थी। राजनीति का स्थान शेर-शायरी ने ले लिया था। समस्त प्रान्तों से धन खिंच-खिंचकर दिल्ली आता था, और पानी की भाँति बहाया जाता था। वेश्याओं की चाँदी थी। कहीं तीतरों के जोड़ होते थे, कहीं बटेरों और बुलबुलों की पालियाँ ठनती थीं। सारा नगर विलास-निद्रा में मग्न था। नादिरशाह शाहीमहल में पहुँचा तो वहाँ का सामान देखकर उसकी आँखें खुल गईं। उसका जन्म दरिद्र-घर में हुआ था। उसका समस्त जीवन रणभूमि में ही कटा था। भोग-विलास का उसे चसका न लगा था। कहाँ रणक्षेत्र के कष्ट और कहाँ यह सुख-साम्राज्य! जिधर आँख उठती थी, उधर से हटने का नाम न लेती थी।

संध्या हो गई थी। नादिरशाह अपने सरदारों के साथ महल की सैर करता और अपने पसन्द की चीज़ों को बटोरता हुआ दीवाने-ख़ास में आकर कारचोबी मसनद पर बैठ गया, सरदारों को वहाँ से चले जाने का हुक्म दे दिया, अपने सब हथियार खोलकर रख दिये और महल के दारोग़ा को बुलाकर हुक्म दिया—मैं शाही बेगमों का नाच देखना चाहता हूँ। तुम इसी वक्त उनको सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाकर मेरे सामने लाओ। ख़बरदार ज़रा भी देर न हो। मैं कोई उज्र या इनकार नहीं सुन सकता!

(२)

दारोग़ा ने यह नादिरशाही हुक्म सुना तो होश उड़ गये। वह महिलाएँ जिन पर कभी सूर्य की दृष्टि भी नहीं पड़ी कैसे इस मजलिस

में आयेंगी! नाचने का तो कहना ही क्या! शाही बेगमों का इतना अपमान कभी न हुआ था। हा नरपिशाच! दिल्ली को ख़ून से रँगकर भी तेरा चित्त शान्त नहीं हुआ। मगर नादिरशाह के सम्मुख एक शब्द भी ज़बान से निकालना अग्नि के मुख में कूदना था। सिर झुकाकर आदाब बजा लाया और आकर रनिवास में सब बेगमों को नादिरशाही हुक्म सुना दिया; उसके साथ ही यह इत्तला भी दे दी कि ज़रा भी तअम्मुल न हो, नादिरशाह कोई उज्र या हीला न सुनेगा। शाही ख़ानदान पर इतनी बड़ी विपत्ति कभी नहीं पड़ी, पर इस समय विजयी बादशाह की आज्ञा को शिरोधार्य करने के सिवा प्राण रक्षा का अन्य कोई उपाय नहीं था।

बेगमों ने यह आज्ञा सुनी तो हत-बुद्धि-सी हो गईं। सारे रनिवास में मातम-सा छा गया। वह चहल-पहल ग़ायब हो गई। सैकड़ों हृदयों से इस अत्याचारी के प्रति एक शाप निकल गया। किसी ने आकाश की ओर सहायता-याचक लोचनों से देखा, किसी ने ख़ुदा [redacted] का सुमिरन किया। पर ऐसी एक महिला भी न थी जिसकी निगाह कटार या तलवार की तरफ़ गई हो। यद्यपि इनमें कितनी ही बेगमों के नसों में राजपूतनियों का रक्त प्रवाहित हो रहा था, पर इन्द्रियलिप्सा ने 'जुहार' की पुरानी आग ठंडी कर दी थी। सुख-भोग की लालसा आत्मसम्मान का सर्वनाश कर देती है। आपस में सलाह करके मर्यादा की रक्षा का कोई उपाय सोचने की मुहलत न थी। एक-एक पल भाग्य का निर्णय कर रहा था। हताश होकर सभी ललनाओं ने पापी के सम्मुख जाने का निश्चय किया। आँखों से आँसू जारी थे, दिलों से आहें निकल रही थीं, पर रत्न-जटित आभूषण पहने जा रहे थे, अश्रु-सिंचित नेत्रों में सुरमा लगाया जा रहा था और शोक-व्यथित हृदयों पर सुगन्ध का लेप किया जा रहा था। कोई केश गुँथाती थीं, कोई माँगों में मोतियाँ पिरोती थीं। एक भी ऐसे पक्के इरादे की स्त्री न थी, जो ईश्वर पर, अथवा अपनी टेक पर, इस आज्ञा को उल्लंघन करने का साहस कर सके।

एक घंटा भी न गुज़रने पाया था कि बेगमात परे के परे, आभूषणों से जगमगाती, अपने मुख की कांति से बेले और गुलाब की कलियों को लजाती, सुगंध की लपटें उड़ाती, छमछम करते हुए दीवाने-ख़ास में आकर नादिरशाह के सामने खड़ी हो गईं।

(३)

नादिरशाह ने एक बार कनखियों से परियों के इस दल को देखा और तब मसनद की टेक लगाकर लेट गया। अपनी तलवार और कटार सामने रख दी। एक क्षण में उसकी आँखें झपकने लगीं। उसने एक अँगड़ाई ली और करवट बदल ली। ज़रा देर में उसके ख़र्राटों की आवाज़ें सुनाई देने लगीं। ऐसा जान पड़ा कि वह गहरी निद्रा में मग्न हो गया है। आध घंटे तक वह पड़ा सोता रहा, और बेगमें ज्यों की त्यों सिर नीचा किये दीवार के चित्रों की भाँति खड़ी रहीं। उनमें दो-एक महिलाएँ जो ढीठ थीं, घूँघट की ओट से नादिरशाह को देख भी रही थीं और आपस में दबी ज़बान से कानाफूसी कर रही थीं—कैसा भयंकर स्वरूप है! कितनी रणोन्मत्त आँखें हैं! कितना भारी शरीर है! आदमी काहे को है, देव है!

सहसा नादिरशाह की आँखें खुल गईं। परियों का दल पूर्ववत् खड़ा था। उसे जागते देखकर बेगमों ने सिर नीचे कर लिये और अंग समेटकर भेड़ों की भाँति एक दूसरे से मिल गईं। सबके दिल धड़क रहे थे कि अब यह ज़ालिम नाचने-गाने को कहेगा, तब कैसे क्या होगा! ख़ुदा इस ज़ालिम से समझे! मगर नाचा तो न जायगा। चाहे जान ही क्यों न जाये। इससे ज़्यादा ज़िल्लत अब न सही जायगी।

सहसा नादिरशाह कठोर शब्दों में बोला—ऐ ख़ुदा की बन्दियों, मैंने तुम्हारा इम्तहान लेने के लिए बुलाया था और अफ़सोस के साथ कहना पड़ता है कि तुम्हारी निसबत मेरा जो गुमान था वह हर्फ़-ब-हर्फ़ सच निकला। जब किसी क़ौम की औरतों में ग़ैरत नहीं रहती, तो वह क़ौम मुरदा हो जाती है। मैं देखना चाहता था कि तुम लोगों में अभी कुछ ग़ैरत बाक़ी है या नहीं। इसीलिए मैंने तुम्हें यहाँ बुलाया था।

मैं तुम्हारी बेहुरमती नहीं करना चाहता था। मैं इतना ऐश का बन्दा नहीं हूँ, वरना आज भेड़ों के ग़ल्ले चराता होता। न इतना हवसपरस्त हूँ, वरना आज फ़ारस में सरोद और सितार की तानें सुनता होता, जिसका मज़ा मैं हिन्दुस्तानी गाने से कहीं ज़्यादा उठा सकता हूँ। मुझे सिर्फ़ तुम्हारा इम्तहान लेना था। मुझे यह देखकर सच्चा मलाल हो रहा है कि तुममें ग़ैरत का जौहर बाक़ी नहीं रहा। क्या यह मुमकिन न था कि तुम मेरे हुक्म को पैरों-तले कुचल देतीं? जब तुम यहाँ आ गईं तो मैंने तुम्हें एक और मौक़ा दिया। मैंने नींद का बहाना किया। क्या यह मुमकिन न था कि तुम में से कोई ख़ुदा की बन्दी इस कटार को उठाकर मेरे जिगर में चुभा देती। मैं कलामे-पाक की क़सम खाकर कहता हूँ कि तुम में से किसी को कटार पर हाथ रखते देखकर मुझे बेहद ख़ुशी होती, मैं उन नाज़ुक हाथों के सामने गरदन झुका देता। पर अफ़सोस है कि आज तैमूरी खानदान की एक बेटी भी यहाँ ऐसी न निकली जो अपनी हुरमत बिगाड़नेवाले पर हाथ उठाती! अब यह सल्तनत ज़िन्दा नहीं रह सकती। इसकी हस्ती के दिन गिने हुए हैं। इसका निशान बहुत जल्द दुनिया से मिट जायगा। तुम लोग जाओ और हो सके तो अब भी सल्तनत को बचाओ, वरना इसी तरह हवस की ग़ुलामी करते हुए दुनिया से रुख़सत हो जाओगी!

तेंतर

(१)

आख़िर वही हुआ जिसकी आशंका थी, जिसकी चिन्ता में घर के सभी लोग और विशेषतः प्रसूता पड़ी हुई थी। तीन पुत्रों के पश्चात् कन्या का जन्म हुआ। माता सौर में सूख गई, पिता बाहर आँगन में सूख गये, और पिता की वृद्धा माता सौर के द्वार पर सूख गईं। अनर्थ, महाअनर्थ! भगवान् ही कुशल करें तो हो! यह पुत्री नहीं राक्षसी है।

इस अभागिनी को इसी घर में आना था ! आना ही था तो कुछ दिन पहले क्यों न आई। भगवान् मातवें शत्रु के घर भी तेंतर का जन्म न दें।

पिता का नाम था पण्डित दामोदरदत्त, शिक्षित आदमी थे। शिक्षा-विभाग ही में नौकर भी थे, मगर इस संस्कार को कैसे मिटा देते, जो परम्परा से हृदय में जमा हुआ था कि तीसरे बेटे की पीठ पर होनेवाली कन्या अभागिनी होती है, या पिता को लेती है या माता को, या अपने को। उनकी वृद्धा माता लगी नवजात कन्या को पानी पी-पीकर कोसने, कलमुँही है कलमुँही ! न-जाने क्या करने आई है यहाँ। किसी बाँझ के घर जाती तो उसके दिन फिर जाते !

दामोदरदत्त दिल में तो घबराये हुए थे, पर माता को समझाने लगे—अम्माँ, तेंतर-बेंतर कुछ नहीं, भगवान् की जो इच्छा होती है वही होता है। ईश्वर चाहेंगे तो सब कुशल ही होगा, गानेवालियों को बुला लो, नहीं लोग कहेंगे तीन बेटे हुए तो कैसी फूली फिरती थीं, एक बेटी हो गई तो घर में कुहराम मच गया।

माता—अरे बेटा, तुम क्या जानो इन बातों को, मेरे सिर तो बीत चुकी है, प्राण नहों में समाया हुआ है। तेंतर ही के जन्म तुम्हारे दादा का देहान्त हुआ। तभी से तेंतर का नाम सुनते ही मेरा कलेजा काँप उठता है।

दामोदर—इस कष्ट के निवारण का भी तो कोई उपाय होगा ?

माता—उपाय बताने को तो बहुत हैं, पण्डितजी से पूछो तो कोई-न-कोई उपाय बता देंगे, पर इससे कुछ होता नहीं। मैंने कौन से अनुष्ठान नहीं किये, पर पण्डितजी की तो मुट्ठियाँ गरम हुईं ; यहाँ जो सिर पर पड़ना था वह पड़ ही गया। अब टके के पंडित रह गये हैं, जजमान मरे या जिये उनकी बला से, उनकी दक्षिणा मिलनी चाहिये। (धीरे से) लड़की दुबली-पतली भी नहीं है। तीनों लड़कों से हृष्ट-पुष्ट है। बड़ी-बड़ी आँखें हैं, पतले-पतले लाल-लाल ओंठ हैं, जैसे गुलाब की पत्ती। गोरा चिट्टा रंग है, लम्बी-सी नाक। कलमुँही नहलाते समय

रोई भी नहीं, टुकुर-टुकुर ताकती रही, यह सब लच्छन कुछ अच्छे थोड़े ही हैं !

दामोदरदत्त के तीनों लड़के साँवले थे, कुछ विशेष रूपवान् भी न थे ; लड़की के रूप का बखान सुनकर उनका चित्त कुछ प्रसन्न हुआ। बोले—अम्माँजी, तुम भगवान् का नाम लेकर गानेवालियों को बुला भेजो, गाना-बजाना होने दो। भाग्य में जो कुछ है, वह तो होगा ही।

माता—जी तो हुलसता ही नहीं करूँ क्या !

दामोदर—गाना न होने से कष्ट का निवारण तो होगा नहीं, कि हो जायगा ? अगर इतने सस्ते जान छूटे तो न कराओ गाना।

माता—बुलाये लेती हूँ बेटा, जो कुछ होना था वह तो हो गया।

इतने में, दाई ने सौर में से पुकारकर कहा—बहूजी कहती हैं गाना-वाना कराने का काम नहीं है।

माता—भला भला, उनसे कहो चुपकी बैठी रहें, बाहर निकलकर मनमानी करेंगी, बारह ही दिन हैं बहुत दिन नहीं हैं ; बहुत इतराती फिरती थीं यह न करूँगी, वह न करूँगी, देवी क्या है, देवता क्या है, मरदों की बातें सुनकर वही रट लगाने लगती थीं, तो अब चुपके से बैठती क्यों नहीं। मेमें तो तेंतर का अशुभ नहीं मानतीं, और सब बातों में मेमों की बराबरी करती हैं तो इस बात में भी करें।

यह कहकर माताजी ने नाइन को भेजा कि जाकर गानेवालियों को बुला ला ; पड़ोस में भी कहती जाना।

सवेरा होते ही बड़ा लड़का सोकर उठा और आँखें मलता हुआ आकर दादी से पूछने लगा—बड़ी अम्माँ, कल अम्माँ को क्या हुआ ?

माता—लड़की तो हुई है !

बालक खुशी से उछलकर बोला—ओ हो हो, पैजनियाँ पहन-पहनकर छुनछुन चलेगी, ज़रा मुझे दिखा दो दादीजी !

माता—अरे क्या सौर में जायेगा, पागल हो गया है क्या ?

लड़के की उत्सुकता न मानी। सौर के द्वार पर जाकर खड़ा हो गया और बोला—अम्माँ, ज़रा बच्ची को मुझे दिखा दो।

दाई ने कहा—बच्ची अभी सोती है।

बालक—ज़रा दिखा दो, गोद में लेकर।

दाई ने कन्या उसे दिखा दी तो वहाँ से दौड़ता हुआ अपने छोटे भाइयों के पास पहुँचा और उन्हें जगा-जगाकर ख़ुशख़बरी सुनाई।

एक बोला—नन्हीं-सी होगी!

बड़ा—बिलकुल नन्हीं-सी! बस जैसी बड़ी गुड़िया। ऐसी गोरी है कि क्या किसी साहब की लड़की होगी। यह लड़की मैं लूँगा।

सबसे छोटा बोला—अमको बी दिका दो।

तीनों मिलकर लड़की को देखने आये और वहाँ से बग़लें बजाते, उछलते-कूदते बाहर आये।

बड़ा—देखा कैसी है?

मँझला—कैसी आँखें बन्द किये पड़ी थी!

छोटा—इसे हमें तो देना!

बड़ा—ख़ूब द्वार पर बरात आवेगी, हाथी, घोड़े, बाजे, आतशबाज़ी।

मँझला और छोटा ऐसे मग्न हो रहे थे मानो वह मनोहर दृश्य आँखों के सामने है, उनके सरल नेत्र मनोल्लास से चमक रहे थे।

मँझला बोला—फुलवारियाँ भी होंगी।

छोटा—अम बी पूल लेंगे!

(२)

छट्ठी भी हुई, बरही भी हुई, गाना-बजाना, खाना-खिलाना, देना-दिलाना सब कुछ हुआ पर रस्म पूरी करने के लिए, दिल से नहीं, ख़ुशी से नहीं। लड़की दिन-दिन दुर्बल और अस्वस्थ होती जाती थी। मा उसे दोनों वक़्त अफ़ीम खिला देती और बालिका दिन और रात नशे में बेहोश पड़ी रहती। ज़रा भी नशा उतरता तो भूख से विकल होकर रोने लगती। मा कुछ ऊपरी दूध पिलाकर फिर अफ़ीम खिला देती। आश्चर्य की बात तो यह थी कि अबकी उसकी छाती में दूध ही नहीं उतरा। यों भी उसे दूध देर में उतरता था, पर लड़कों की बेर उसे नाना प्रकार की दूधवर्द्धक औषधियाँ खिलाई जातीं, बार-बार

शिशु को छाती से लगाया जाता, यहाँ तक कि दूध उतर ही आता था, पर अब की यह आयोजनाएँ न की गईं। फूल-सी बच्ची कुम्हलाती जाती थी। मा तो कभी उसकी ओर ताकती भी न थी। हाँ, नाइन कभी चुटकियाँ बजाकर चुमकारती तो शिशु के मुख पर ऐसी दयनीय, ऐसी करुण वेदना अंकित दिखाई देती कि वह आँखें पोछती हुई चली जाती थी। बहू से कुछ कहने-सुनने का साहस न पड़ता था। बड़ा लड़का सिद्ध बार-बार कहता—अम्माँ, बच्ची को दो तो बाहर से खिला लाऊँ; पर मा उसे झिड़क देती थी।

तीन-चार महीने हो गये। दामोदरदत्त रात को पानी पीने उठे तो देखा कि बालिका जाग रही है। सामने ताख पर मीठे तेल का दीपक जल रहा था, लड़की टकटकी बाँधे उसी दीपक की ओर देखती थी, और अपना अँगूठा चूसने में मग्न थी। चुभ-चुभ की आवाज़ आ रही थी। उसका मुख मुरझाया हुआ था, पर वह न रोती थी न हाथ-पैर फेंकती थी, बस अँगूठा पीने में ऐसी मग्न थी मानो उसमें सुधा-रस भरा हुआ है। वह माता के स्तनों की ओर मुँह भी नहीं फेरती थी, मानो उसका उन पर कोई अधिकार नहीं, उसके लिए वहाँ कोई आशा नहीं। बाबू साहब को उस पर दया आई। इस बेचारी का मेरे घर जन्म लेने में क्या दोष है? मुझ पर या इसकी माता पर जो कुछ भी पड़े, उसमें इसका क्या अपराध? हम कितनी निर्दयता कर रहे हैं। माना कि कुछ अमङ्गल हो भी जाय तो भी क्या उसके भय से इसके प्राण ले लिये जायँगे? अगर अपराधी है तो मेरा प्रारब्ध है। इस नन्हे से बच्चे के प्रति हमारी कठोरता क्या ईश्वर को अच्छी लगती होगी? उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और उसका मुख चूमने लगे। लड़की को कदाचित् पहली बार सच्चे स्नेह का ज्ञान हुआ। वह हाथ पैर उछालकर 'गूँ-गूँ' करने लगी और दीपक की ओर हाथ फैलाने लगी। उसे जीवन ज्योति-सी मिल गई।

प्रातःकाल दामोदरदत्त ने लड़की को गोद में उठा लिया और बाहर लाये। स्त्री ने बार-बार कहा—उसे पड़ा रहने दो, ऐसी कौन-सी बड़ी

सुन्दर है, अभागिनी रात-दिन तो प्राण खाती रहती है, मर भी नहीं जाती कि जान छूट जाय, किन्तु दामोदरदत्त ने न माना, उसे बाहर लाये और अपने बच्चों के साथ बैठकर उसे खिलाने लगे। उनके मकान के सामने थोड़ी-सी ज़मीन पड़ी हुई थी। पड़ोस के किसी आदमी की एक बकरी उसमें आकर चरा करती थी। इस समय भी वह चर रही थी। बाबू साहब ने बड़े लड़के से कहा—सिद्धू ज़रा उस बकरी को पकड़ो, तो इसे दूध पिलायें, शायद भूखी है बेचारी। देखो तुम्हारी नन्हीं-सी बहन है न? इसे रोज़ हवा में खिलाया करो।

सिद्धू को दिल्लगी हाथ आई, उसका छोटा भाई भी दौड़ा, दोनों ने घेरकर बकरी को पकड़ा और उसका कान पकड़े हुए सामने लाये। पिता ने शिशु का मुँह बकरी के थन से लगा दिया। लड़की चुबलाने लगी, और एक क्षण में दूध की धार उसके मुँह में जाने लगी। मानो टिमटिमाते दीपक में तेल पड़ जाय। लड़की का मुख खिल उठा। आज शायद पहली बार उसकी क्षुधा तृप्त हुई थी। वह पिता की गोद में हुमक-हुमककर खेलने लगी। लड़कों ने भी उसे खूब नचाया-कुदाया।

उस दिन से सिद्धू को मनोरञ्जन का एक नया विषय मिल गया। बालकों को बच्चों से बहुत प्रेम होता है। अगर किसी घोंसले में चिड़िया का बच्चा देख पायें तो बार-बार वहाँ जायेंगे, देखेंगे कि माता बच्चे को कैसे दाना चुगाती है, बच्चा कैसे चोंच खोलता है, कैसे दाना लेते समय परों को फड़फड़ाकर चें-चें करता है, आपस में बड़े गम्भीर भाव से उसकी चरचा करेंगे, अपने अन्य साथियों को ले जाकर उसे दिखायेंगे। सिद्धू ताक में लगा रहता, ज्योंही माता भोजन बनाने या स्नान करने जाती, तुरन्त बच्ची को लेकर आता और बकरी को पकड़कर उसके थन से शिशु का मुँह लगा देता, कभी-कभी दिन में दो-दो तीन-तीन बार पिलाता। बकरी को भूसी-चोकर खिलाकर ऐसा परचा लिया कि वह स्वयं चोकर के लोभ से चली आती और दूध देकर चली जाती। इस भाँति कोई एक महीना गुज़र गया, लड़की हृष्ट-पुष्ट हो गई, मुख पुष्प के समान विकसित हो गया, आँखें जाग उठीं, शिशु-काल की

सरल आभा मन को हरने लगी।

माता उसे देख-देखकर चकित होती थी। किसी से कुछ कह तो न सकती पर दिल में उसे आशंका होती थी कि अब यह मरने की नहीं, हमीं लोगों के सिर जायेगी। कदाचित् ईश्वर इसकी रक्षा कर रहे हैं, जभी तो दिन-दिन निखरती आती है, नहीं अब तक तो ईश्वर के घर पहुँच गई होती।

(३)

मगर दादी माता से कहीं ज़्यादा चिन्तित थी। उसे भ्रम होने लगा कि वह बच्ची को ख़ूब दूध पिला रही है, साँप को पाल रही है। शिशु की ओर आँख उठाकर भी न देखती। यहाँ तक कि एक दिन कह ही बैठी—लड़की का बड़ा छोह करती हो? हाँ भाई, माँ हो कि नहीं, तुम न छोह करोगी तो करेगा कौन?

'अम्माँजी, ईश्वर जानते हैं जो मैं इसे दूध पिलाती होऊँ!'

'अरे तो मैं मना थोड़े ही करती हूँ, मुझे क्या गरज पड़ी है कि मुफ़्त में अपने ऊपर पाप लूँ, कुछ मेरे सिर तो जायेगी नहीं।'

'अब आपको विश्वास ही न आवे तो कोई क्या करे?'

'मुझे पागल समझती हो, वह हवा पी-पीकर ऐसी हो रही है?'

'भगवान् जाने अम्माँ, मुझे तो आप अचरज होता है।'

बहू ने बहुत निर्दोषता जताई किन्तु वृद्धा सास को विश्वास न आया। उसने समझा, यह मेरी शंका को निर्मूल समझती है, मानो मुझे इस बच्ची से कोई वैर है। उसके मन में यह भाव अंकुरित होने लगा कि इसे कुछ हो जाय तब यह समझे कि मैं झूठ नहीं कहती थी। वह जिन प्राणियों को अपने प्राणों से भी प्रिय समझती थी, उन्हीं लोगों की अमंगल कामना करने लगी, केवल इसलिए कि मेरी शंकाएँ सत्य हो जायँ। वह यह तो नहीं चाहती थी कि कोई मर जाय, पर इतना अवश्य चाहती थी कि किसी बहाने से मैं चिता दूँ कि देखो, तुमने मेरा कहा न माना, यह उसी का फल है। उधर सास की ओर से ज्यों-ज्यों यह द्वेष-भाव प्रकट होता था, बहू का कन्या के प्रति स्नेह बढ़ता था।

ईश्वर से मनाती रहती थी कि किसी भाँति एक साल कुशल से कट जाता तो इनसे पूछती। कुछ लड़की का भोला भाला चेहरा, कुछ अपने पति का प्रेम-वात्सल्य देखकर भी उसे प्रोत्साहन मिलता था। विचित्र दशा हो रही थी, न दिल खोलकर प्यार ही कर सकती थी, न सम्पूर्ण रीति से निर्दय होते ही बनता था। न हँसते बनता था न रोते।

इस भाँति दो महीने और गुज़र गये और कोई अनिष्ट न हुआ। तब तो वृद्धा सास के पेट में चूहे दौड़ने लगे। बहू को दो-चार दिन ज्वर भी नहीं आ जाता कि मेरी शंका की मर्यादा रह जाय, पुत्र भी किसी दिन पैरगाड़ी पर से नहीं गिर पड़ता, न बहू के मैके ही से किसी के स्वर्गवास की सुनावनी आती है। एक दिन दामोदरदत्त ने खुले तौर पर कह भी दिया कि अम्माँ, यह सब ढकोसला है, तेंतर लड़कियाँ क्या दुनिया में होती ही नहीं, तो सबके मा-बाप मर ही जाते हैं? अन्त में उसने अपनी शंकाओं को यथार्थ सिद्ध करने की एक तरकीब सोच निकाली। एक दिन दामोदरदत्त स्कूल से आये तो देखा कि अम्माँजी खाट पर अचेत पड़ी हुई हैं, स्त्री अँगीठी में आग रखे उनकी छाती सेंक रही है, और कोठरी के द्वार और खिड़कियाँ बन्द हैं। घबराकर कहा—अम्माँजी, क्या हुआ है?

स्त्री—दोपहर ही से कलेजे में शूल उठ रहा है, बेचारी बहुत तड़प रही हैं।

दामोदर—मैं जाकर डाक्टर साहब को बुला लाऊँ न? देर करने से शायद रोग बढ़ जाय। अम्माँजी, अम्माँजी, कैसी तबीयत है?

माता ने आँखें खोलीं और कराहते हुए बोली—बेटा, तुम आ गये? अब न बचूँगी, हाय भगवान्, अब न बचूँगी। जैसे कोई कलेजे में बरछी चुभा रहा हो। ऐसी पीड़ा कभी न हुई थी। इतनी उम्र बीत गई, ऐसी पीड़ा नहीं हुई।

स्त्री—यह कलमुँही छोकरी न-जाने किस मनहूस घड़ी पैदा हुई।

सास—बेटा, सब भगवान् करते हैं, यह बेचारी क्या जाने। देखो, मैं मर जाऊँ तो उसे कष्ट मत देना। अच्छा हुआ, मेरे सिर

आई। किसी के सिर तो जाती ही, मेरे ही सिर सही। हाय भगवान्, अब न बचूँगी।

दामोदर—जाकर डाक्टर को बुला लाऊँ? अभी लौटा आता हूँ।

माताजी को केवल अपनी बात की मर्यादा निभानी थी, रुपये न खर्च कराने थे, बोलीं—नहीं बेटा, डाक्टर के पास जाके क्या करोगे। अरे वह कोई ईश्वर है! डाक्टर क्या अमृत पिला देगा, दस-बीस वह भी ले जायगा। डाक्टर वैद्य से कुछ न होगा। बेटा, तुम कपड़े उतारो, मेरे पास बैठकर भागवत पढ़ो। अब न बचूँगी, हाय राम!

दामोदर—तँतर है बुरी चीज़, मैं समझता था ढकोसला ही ढकोसला है।

स्त्री—इसी से मैं उसे कभी मुँह नहीं लगाती थी।

माता—बेटा, बच्चों को आराम से रखना, भगवान् तुम लोगों को सुखी रखे। अच्छा हुआ मेरे ही सिर गई, तुम लोगों के सामने मेरा परलोक हो जायगा। कहीं किसी दूसरे के सिर जाती तो क्या होता राम! भगवान् ने मेरी विनती सुन ली। हाय! हाय!!

दामोदरदत्त को निश्चय हो गया कि अब अम्माँ न बचेंगी। बड़ा दुःख हुआ। उसके मन की बात होती तो वह मा के बदले तँतर को न स्वीकार करते। जिस जननी ने जन्म दिया, नाना प्रकार के कष्ट झेल-कर उनका पालन-पोषण किया, अकाल वैधव्य को प्राप्त होकर भी उनकी शिक्षा का प्रबन्ध किया, उसके सामने एक दुध-मुँही बच्ची का क्या मूल्य था, जिसके हाथ का एक गिलास पानी भी वह न जानते थे। शोकातुर हो कपड़े उतारे और मा के सिरहाने बैठकर भागवत की कथा सुनाने लगे।

रात को जब बहू भोजन बनाने चली तो सास से बोली—अम्माँजी, तुम्हारे लिए थोड़ा-सा साबूदाना छोड़ दूँ?

माता ने व्यंग्य करके कहा—बेटी, अन्न बिना न मारो, भला साबूदाना मुझसे खाया जायेगा, जाओ थोड़ी पूरियाँ छान लो। पड़े-पड़े जो कुछ इच्छा होगी खा लूँगी। कचौरियाँ भी बना लेना। मरती

हूँ, तो भोजन को तरस-तरस क्यों मरूँ। थोड़ी मलाई भी मँगवा लेना, चौक की हो। फिर थोड़े खाने आऊँगी बेटी! थोड़े-से केले मँगवा लेना, कलेजे के दर्द में केले खाने से आराम होता है।

भोजन के समय पीड़ा शांत हो गई, लेकिन आध घंटे के बाद फिर ज़ोर से होने लगी। आधी रात के समय कहीं जाकर उनकी आँख लगी। एक सप्ताह तक उनकी यही दशा रही, दिन-भर पड़ी कराहा करतीं, बस भोजन के समय ज़रा वेदना कम हो जाती। दामोदरदत्त सिरहाने बैठे पंखा झलते और मातृ-वियोग के आगत शोक से रोते। घर की महरी ने मुहल्ले-भर में यह ख़बर फैला दी, पड़ोसिनें देखने आईं और सारा इलज़ाम उसी बालिका के सिर गया।

एक ने कहा—यह तो कहो बड़ी कुशल हुई कि बुढ़िया के सिर गई, नहीं तो तेंतर माँ-बाप दो में से एक को लेकर तभी शान्त होती है। दैव न करे कि किसी घर में तेंतर का जन्म हो!

दूसरी बोली—मेरे तो तेंतर का नाम सुनते ही रोयें खड़े हो जाते हैं! भगवान् बाँझ रखे पर तेंतर न दे।

एक सप्ताह के बाद वृद्धा का कष्ट-निवारण हुआ, मरने में कोई कसर न थी, वह तो कहो पुरखाओं का पुण्य-प्रताप था। ब्राह्मणों को गोदान दिया गया। दुर्गा-पाठ हुआ तब कहीं जाके संकट कटा।

नैराश्य

(१)

बाजे आदमी अपनी स्त्री से इसलिए नाराज़ रहते हैं कि उसके लड़कियाँ ही क्यों होती हैं, लड़के क्यों नहीं होते। वह जानते हैं कि इसमें स्त्री का दोष नहीं है, या है तो उतना ही जितना मेरा। फिर भी जब देखिये स्त्री से रूठे रहते हैं, उसे अभागिनी कहते हैं और सदैव उसका दिल दुखाया करते हैं। निरुपमा उन्हीं अभागिनी स्त्रियों में थी और

घमंडीलाल त्रिपाठी उन्हीं अत्याचारी पुरुषों में। निरूपमा के तीन बेटियाँ लगातार हुई थीं और वह सारे घर की निगाहों से गिर गई थी। सास-ससुर की अप्रसन्नता की तो उसे विशेष चिन्ता न थी, वे पुराने ज़माने के लोग थे, जब लड़कियाँ गरदन का बोझ और पूर्वजन्मों का पाप समझी जाती थीं। हाँ, उसे दुःख अपने पतिदेव की अप्रसन्नता का था जो पढ़े-लिखे आदमी होकर भी उसे जली-कटी सुनाते रहते थे। प्यार करना तो दूर रहा, निरुपमा से सीधे मुँह बात न करते, कई-कई दिनों तक घर ही में न आते और आते भी तो कुछ इस तरह खिंचे-तने हुए रहते कि निरुपमा थर-थर काँपती रहती थी, कहीं गरज न उठें। घर में धन का अभाव न था, पर निरुपमा को कभी यह साहस न होता था कि किसी सामान्य वस्तु की इच्छा भी प्रकट कर सके। वह समझती थी, मैं यथार्थ में अभागिनी हूँ, नहीं तो क्या भगवान् मेरी कोख में लड़कियाँ ही रचते। पति के एक मृदु मुसकान के लिए, एक मीठी बात के लिए उसका हृदय तड़पकर रह जाता था। यहाँ तक कि वह अपनी लड़कियों को प्यार करते हुए सकुचाती थी कि लोग कहेंगे पीतल के नथ पर इतना गुमान करती है। जब त्रिपाठीजी के घर में आने का समय होता तो किसी न किसी बहाने से वह लड़कियों को उनकी आँखों से दूर कर देती थी। सबसे बड़ी विपत्ति यह थी कि त्रिपाठीजी ने धमकी दी थी कि अब की कन्या हुई तो मैं घर छोड़कर निकल जाऊँगा, इस नरक में क्षण-भर भी न ठहरूँगा। निरुपमा को यह चिन्ता और भी खाये जाती थी।

वह मंगल का व्रत रखती थी, रविवार, निर्जला एकादशी और न जाने कितने व्रत करती थी। स्नान-पूजा तो नित्य का नियम था। पर किसी अनुष्ठान से मनोकामना न पूरी होती थी। नित्य अवहेलना, तिरस्कार, उपेक्षा, अपमान, सहते-सहते उसका चित्त संसार से विरक्त होता जाता था। जहाँ कान एक मीठी बात के लिए, आँखें एक प्रेम दृष्टि के लिए, हृदय एक आलिंगन के लिए, तरस कर रह जायें, घर में अपनी कोई बात न पूछे, वहाँ जीवन से क्यों न अरुचि हो जाय?

एक दिन घोर निराशा की दशा में उसने अपनी बड़ी भावज को एक पत्र लिखा। उसके एक-एक अक्षर से असह्य वेदना टपक रही थी भावज ने उत्तर दिया। तुम्हारे भैया जल्द तुम्हें विदा कराने जायेंगे। यहाँ आजकल एक सच्चे महात्मा आये हुए हैं जिनका आशीर्वाद कभी निष्फल नहीं जाता। यहाँ कई सन्तानहीना स्त्रियाँ उनके आशीर्वाद से पुत्रवती हो गईं। पूर्ण आशा है कि तुम्हें भी उनका आशीर्वाद कल्याणकारी होगा।

निरुपमा ने यह पत्र पति को दिखाया। त्रिपाठीजी उदासीन भाव से बोले—सृष्टि रचना महात्माओं के हाथ का काम नहीं, ईश्वर का काम है।

निरुपमा—हाँ, लेकिन महात्माओं में भी तो कुछ सिद्धि होती है।

घमंडीलाल—हाँ होती है, पर ऐसे महात्माओं के दर्शन दुर्लभ हैं।

निरुपमा—मैं तो इन महात्मा के दर्शन करूँगी।

घमंडीलाल—चली जाना।

निरुपमा—जब बाँझिनों के लड़के हुए तो मैं क्या उनसे भी गई-गुज़री हूँ।

घमंडीलाल—कह तो दिया भाई चली जाना। यह करके भी देख लो। मुझे तो ऐसा मालूम होता है पुत्र का मुख देखना हमारे भाग्य में ही नहीं है।

(२)

कई दिन बाद निरुपमा अपने भाई के साथ मैके गई। तीनों पुत्रियाँ भी साथ थीं। भाभी ने उन्हें प्रेम से गले लगाकर कहा—तुम्हारे घर के आदमी बड़े निर्दयी हैं। ऐसी गुलाब के फूलों की-सी लड़कियाँ पाकर भी तक़दीर को रोते हैं। ये तुम्हें भारी हो तो मुझे दे दो। जब ननद और भावज भोजन करके लेटीं तो निरुपमा ने पूछा—वह महात्मा कहाँ रहते हैं?

भावज—ऐसी जल्दी क्या है, बता दूँगी।

निरुपमा—है नगीच ही न?

भावज—बहुत नगीच। जब कहोगी उन्हें बुला दूँगी।

निरुपमा—तो क्या तुम लोगों पर बहुत प्रसन्न हैं क्या ?

भावज—दोनों वक़्त यहीं भोजन करते हैं। यहीं रहते हैं।

निरुपमा—जब घर ही वैद्य तो मरिये क्यों ? आज मुझे उनके दर्शन करा देना।

भावज—भेंट क्या दोगी ?

निरुपमा—मैं किस लायक़ हूँ ?

भावज—अपनी सबसे छोटी लड़की दे देना।

निरुपमा—चलो, गाली देती हो।

भावज—अच्छा यह न सही, एक बार उन्हें प्रेमालिंगन करने देना।

निरुपमा—भाभी, मुझसे ऐसी हँसी करोगी तो मैं चली जाऊँगी।

भावज—वह महात्मा बड़े रसिया हैं।

निरुपमा—तो चूल्हे में जायें। कोई दुष्ट होगा।

भावज—उनका आशीर्वाद तो इसी शर्त पर मिलेगा। वह और कोई भेंट स्वीकार ही नहीं करते।

निरुपमा—तुम तो यों बातें कर रही हो मानो उनकी प्रतिनिधि हो।

भावज—हाँ, वह यह सब विषय मेरे ही द्वारा तय किया करते हैं। मैं ही भेंट लेती हूँ, मैं ही आशीर्वाद देती हूँ, मैं ही उनके हितार्थ भोजन कर लेती हूँ।

निरुपमा—तो यह कहो कि तुमने मुझे बुलाने के लिए यह हीला निकाला है।

भावज—नहीं, उसके साथ ही तुम्हें कुछ ऐसे गुर बता दूँगी जिससे तुम अपने घर आराम से रहो।

इसके बाद दोन सखियों में काना-फूसी होने लगी। जब भावज चुप हुई तो निरुपमा बोली—और जो कहीं फिर कन्या ही हुई तो ?

भावज—तो क्या ! कुछ दिन तो शांति और सुख से जीवन कटेगा। यह दिन तो कोई लौटा न लेगा। पुत्र हुआ तो कहना ही क्या, पुत्री हुई तो फिर कोई नई युक्ति निकाली जायगी। तुम्हारे

घर के जैसे अक्ल के दुश्मनों के साथ ऐसी ही चालें चलने में गुज़ारा है।

निरुपमा—मुझे तो संकोच मालूम होता है।

भावज—त्रिपाठीजी को दो-चार दिन में पत्र लिख देना कि महात्माजी के दर्शन हुए और उन्होंने मुझे वरदान दिया है। ईश्वर ने चाहा तो उसी दिन से तुम्हारी मान प्रतिष्ठा होने लगेगी। घमंडीलाल दौड़े हुए आयेंगे और तुम्हारे ऊपर प्राण निछावर करेंगे। कम-से-कम साल-भर तो चैन की वंशी बजाना। इसके बाद देखी जायगी।

निरुपमा—पति से कपट करूँ तो पाप न लगेगा?

भावज—ऐसे स्वार्थियों से कपट करना पुण्य है।

(३)

तीन-चार महीने के बाद निरुपमा अपने घर आई। घमंडीलाल उसे बिदा कराने गये थे। सलहज ने महात्माजी का रंग और भी चोखा कर दिया। बोली—ऐसा तो किसी को देखा ही नहीं कि इन महात्माजी ने वरदान दिया हो और वह पूरा न हो गया हो। हाँ, जिसका भाग्य ही फूट जाय उसे कोई क्या कर सकता है।

घमंडीलाल प्रत्यक्ष तो वरदान और आशीर्वाद की उपेक्षा ही करते रहे, इन बातों पर विश्वास करना आजकल संकोचजनक मालूम होता है, पर उनके दिल पर असर ज़रूर हुआ।

निरुपमा की ख़ातिरदारियाँ होनी शुरू हुईं। जब वह गर्भवती हुई तो सबके दिलों में नई-नई आशाएँ हिलोरें लेने लगीं। सास जो उठते गाली और बैठते व्यंग्य से बातें करती थी अब उसे पान की तरह फेरती—बेटी, तुम रहने दो, मैं ही रसोई बना लूँगी, तुम्हारा सिर दुखने लगेगा। कभी निरुपमा कलसे का पानी या कोई चारपाई उठाने लगती तो सास दौड़ती—बहू, रहने दो, मैं आती हूँ, तुम कोई भारी चीज़ मत उठाया करो। लड़कियों की बात और होती है, उनपर किसी बात का असर नहीं होता, लड़के तो गर्भ ही में मान करने लगते हैं। अब निरुपमा के लिए दूध का उटौना किया गया, जिसमें बालक पुष्ट और

गोरा हो, घमंडीलाल वस्त्राभूषणों पर उतारू हो गये। हर महीने एक न एक नई चीज़ लाते। निरुपमा का जीवन इतना सुखमय कभी न था, उस समय भी नहीं जब वह नवेली वधू थी।

महीने गुज़रने लगे। निरुपमा को अनुभूत लक्षणों से विदित होने लगा कि यह भी कन्या ही है, पर वह इस भेद को गुप्त रखती थी। सोचती, सावन की धूप है, इसका क्या भरोसा, जितनी चीज़ धूप में सुखानी हो सुखा लो, फिर तो घटा छायेगी ही। बात-बात पर बिगड़ती। वह कभी इतनी मानशीला न थी। पर घर में कोई चूँ तक न करता कि कहीं बहू का दिल न दुखे, नहीं बालक को कष्ट होगा। कभी-कभी निरुपमा केवल घरवालों को जलाने के लिए अनुष्ठान करती, उसे उन्हें जलाने में मज़ा आता था। वह सोचती, तुम स्वार्थियों को जितना जलाऊँ उतना ही अच्छा! तुम मेरा आदर इसीलिए करते हो न कि मैं बच्चा जनूँगी और बच्चा तुम्हारे कुल का नाम चलायेगा। मैं कुछ नहीं हूँ, बालक ही सब कुछ है। मेरा अपना कोई महत्त्व नहीं, जो कुछ है वह बालक के नाते। यह मेरे पति हैं! पहले इन्हें मुझसे कितना प्रेम था, तब इतने संसार-लोलुप न हुए थे। अब इनका प्रेम केवल स्वार्थ का स्वाँग है। मैं भी पशु हूँ जिसे दूध के लिए चारा-पानी दिया जाता है। ख़ैर यही सही, इस वक्त तो तुम मेरे क़ाबू में आये हो! जितने गहने बन सकें बनवा लूँ, इन्हें तो छीन न लोगे।

इस तरह दस महीने पूरे हो गये। निरुपमा की दोनों ननदें ससुराल से बुलाई गईं, बच्चे के लिए पहले ही से सोने के गहने बनवा लिये गये, दूध के लिए एक सुन्दर दुधार गाय मोल ले ली गई, घमंडीलाल उसे हवा खिलाने को एक छोटी-सी सेजगाड़ी लाये। जिस दिन निरुपमा को प्रसव-वेदना होने लगी, द्वार पर पण्डितजी मुहूर्त देखने के लिए बुलाये गये; एक मीर शिकार बन्दूक़ छोड़ने को बुलाया गया, गायनें मंगल-गान के लिए बटोर ली गईं। घर में से तिल-तिल पर ख़बर मँगाई जाती थी, क्या हुआ? लेडी डाक्टर भी बुलाई गई। बाजेवाले हुक्म के इन्तज़ार में बैठे थे। पामर भी अपनी सारंगी लिये

'ऊँचा मान करे नन्दलाल सों' की तान सुनाने को तैयार बैठा था। सारी तैयारियाँ, सारी आशाएँ, सारा उत्साह, सारा समारोह एक ही शब्द पर अवलम्बित था। ज्यों-ज्यों देर होती थी लोगों में उत्सुकता बढ़ती जाती थी। घमण्डीलाल अपने मनोभावों को छिपाने के लिए एक समाचारपत्र देख रहे थे मानो उन्हें लड़का या लड़की दोनों ही बराबर हैं। मगर उनके बूढ़े पिताजी इतने सावधान न थे। उनकी बाछें खिली जाती थीं, हँस-हँसकर सबसे बातें कर रहे थे और पैसों की एक थैली को बार-बार उछालते थे।

मीरशिकार ने कहा—मालिक से अबकी पगड़ी दुपट्टा लूँगा।

पिताजी ने खिलकर कहा—अबे कितनी पगड़ियाँ लेगा? इतनी बेभाव की दूँगा कि सिर के बाल गंजे हो जायेंगे।

पामर बोला—सरकार से अबकी कुछ जीविका लूँगा।

पिताजी खिलकर बोले—अबे कितना खायेगा, खिला-खिलाकर पेट फाड़ दूँगा।

सहसा महरी घर में से निकली। कुछ घबराई-सी थी। वह अभी कुछ बोलने भी न पाई थी कि मीरशिकार ने बन्दूक फैर कर ही तो दी। बन्दूक छूटनी थी कि रोशनचौकी की तान भी छिड़ गई, पामर भी कमर कसकर नाचने को खड़ा हो गया।

महरी—अरे तुम सब-के-सब भंग खा गये हो क्या?

मीरशिकार—क्या हुआ क्या?

महरी—हुआ क्या, लड़की ही तो फिर हुई है!

पिताजी—लड़की हुई है!

यह कहते-कहते वह कमर थामकर बैठ गये मानो वज्र गिर पड़ा। घमण्डीलाल कमरे से निकल आये और बोले—जाकर लेडी डाक्टर से तो पूछ। अच्छी तरह देख लें। देखा न सुना चल खड़ी हुई।

महरी—बाबूजी, मैंने तो आँखों देखा है!

घमण्डीलाल—कन्या ही है!

पिता—हमारी तक़दीर ही ऐसी है बेटा! जाओ रे सबके सब!

तुम सभों के भाग्य में कुछ पाना न लिखा था तो कहाँ से पाते। भाग जाओ। सैकड़ों रुपए पर पानी फिर गया, सारी तैयारी मिट्टी में मिल गई।

घमण्डीलाल—इस महात्मा से पूछना चाहिये। मैं आज डाक से जाकर बचा की ख़बर लेता हूँ।

पिताजी—धूर्त है, धूर्त !

घमंडीलाल—मैं उनकी सारी धूर्तता निकाल दूँगा। मारे डंडों के खोपड़ी न तोड़ दूँ तो कहियेगा। चांडाल कहीं का ! उसके कारण मेरे सैकड़ों रुपयों पर पानी फिर गया। यह सेजगाड़ी, यह गाय, यह पालना, यह सोने के गहने, किसके सिर पटकूँ। ऐसे ही उसने कितनों ही को ठगा होगा। एक दफ़ा बचा की मरम्मत हो जाती तो ठीक हो जाते।

पिताजी—बेटा, उसका दोष नहीं, अपने भाग्य का दोष है।

घमंडीलाल—उसने क्यों कहा कि ऐसा नहीं ऐसा होगा। औरतों से इस पाखंड के लिए कितने ही रुपए ऐंठे होंगे। वह सब उन्हें उगलना पड़ेगा, नहीं तो पुलीस में रपट कर दूँगा। क़ानून में पाखंड का भी तो दण्ड है। मैं पहले ही चौंका था कि हो न हो पाखंडी है, लेकिन मेरी सलहज ने धोखा दिया, नहीं तो मैं ऐसे पाजियों के पंजे में कब आनेवाला था। एक ही सुअर है।

पिताजी—बेटा, सब्र करो। ईश्वर को जो कुछ मंजूर था वह हुआ। लड़का-लड़की दोनों ही ईश्वर की देन हैं, जहाँ तीन हैं वहाँ एक और सही।

पिता और पुत्र में तो यह बातें होती रहीं। पामर, मीरशिकार आदि ने अपने-अपने डंडे सँभाले और अपनी राह चले, घर में मातम-सा छा गया, लेडी डाक्टर भी विदा कर दी गई, सौर में ज़च्चा और दाई के सिवा कोई न रहा। वृद्धा माता तो इतनी हताश हुई कि उसी वक्त अटवास-खटवास लेकर पड़ रहीं।

जब बच्चे की बरही हो गई तो घमंडीलाल स्त्री के पास गये और सरोष भाव से बोले—फिर लड़की हो गई !

निरुपमा—क्या करूँ, मेरा क्या वश ?

घमंडीलाल—उस पापी धूर्त ने बड़ा चकमा दिया।

निरुपमा—अब क्या कहूँ, मेरे भाग्य ही में न होगा, नहीं तो वहाँ कितनी ही औरतें बाबाजी को रात-दिन घेरे रहती थीं। वह किसी से कुछ लेते तो कहती कि धूर्त हैं, क़सम ले लो जो मैंने एक कौड़ी भी उन्हें दी हो।

घमंडीलाल—उसने लिया या न लिया, यहाँ तो दीवाला निकल गया। मालूम हो गया तक़दीर में पुत्र नहीं लिखा है। कुल का नाम डूबना ही है तो क्या आज डूबा क्या दस साल बाद डूबा। अब कहीं चला जाऊँगा, गृहस्थी में कौन-सा सुख रखा है।

वह बहुत देर तक खड़े-खड़े अपने भाग्य को रोते रहे पर निरुपमा ने सिर तक न उठाया।

निरुपमा के सिर फिर वही विपत्ति आ पड़ी, फिर वही ताने, वही अपमान, वही अनादर, वही छीछालेदर, किसी को चिन्ता न रहती कि खाती-पीती है या नहीं, अच्छी है या बीमार, दुखी है या सुखी। घमंडीलाल यद्यपि कहीं न गये, पर निरुपमा को यह धमकी प्रायः नित्य ही मिलती रहती थी। कई महीने यों ही गुज़र गये तो निरुपमा ने फिर भावज को लिखा कि तुमने और भी मुझे विपत्ति में डाल दिया। इससे तो पहले ही भली थी। अब तो कोई बात भी नहीं पूछता कि मरती है या जीती है। अगर यही दशा रही तो स्वामीजी चाहे संन्यास लें या न लें, लेकिन मैं संसार को अवश्य त्याग दूँगी।

भाभी यह पत्र पाकर परिस्थिति समझ गई। अबकी उसने निरुपमा को बुलाया नहीं, जानती थी कि लोग विदा ही न करेंगे, पति को लेकर स्वयं आ पहुँची। उसका नाम सुकेशी था। बड़ी मिलनसार, चतुर, विनोदशील स्त्री थी। आते ही आते निरुपमा की गोद में कन्या देखी तो बोली—अरे यह क्या ?

सास—भाग्य है और क्या !

सुकेशी—भाग्य कैसा ? इसने महात्माजी की बातें भुला दी होंगी।

ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि वह मुँह से जो कुछ कह दें, वह न हो। क्योंजी तुमने मंगल का व्रत रखा ?

निरुपमा—बराबर, एक व्रत भी न छोड़ा।

सुकेशी—५ ब्राह्मणों को मंगल के दिन भोजन कराती रहीं ?

निरुपमा—नहीं, यह तो उन्होंने नहीं कहा था।

सुकेशी—तुम्हारा सिर, मुझे खूब याद है, मेरे सामने उन्होंने बहुत ज़ोर देकर कहा था। तुमने सोचा होगा ब्राह्मणों को भोजन कराने से क्या होता है। यह न समझा कि कोई अनुष्ठान सफल नहीं होता जब तक विधिवत उसका पालन न किया जाय।

सास—इसने कभी इसकी चर्चा ही नहीं की, नहीं पाँच क्या दस ब्राह्मणों को जिमा देती। तुम्हारे धर्म से कुछ कमी नहीं है।

सुकेशी—कुछ नहीं, भूल गई और क्या। रानी, बेटे का मुँह यों देखना नसीब नहीं होता। बड़े-बड़े जप-तप करने पड़ते हैं, तुम मंगल के एक व्रत ही से घबरा गईं ?

सास—अभागिनी है और क्या !

घमंडीलाल—ऐसी कौन-सी बड़ी बातें थीं, जो याद न रहीं ? यह ख़ुद हम लोगों को जलाना चाहती है।

सास—वही तो मैं कहूँ कि महात्मा की बात कैसे निष्फल हुई। यहाँ सात बरसों तक 'तुलसी माई' को दिया चढ़ाया, तब जाके बचा का जन्म हुआ।

घमंडीलाल—इन्होंने समझा था दाल-भात का कौर है !

सुकेशी—ख़ैर, अब जो हुआ सो हुआ, कल मंगल है, फिर व्रत रखो और अबकी सात ब्राह्मणों को जिमाओ। देखें कैसे महात्माजी की बात नहीं पूरी होती।

घमंडीलाल—व्यर्थ है, इनके किये कुछ न होगा।

सुकेशी—बाबूजी, आप विद्वान्, समझदार होकर इतना दिल छोटा करते हैं। अभी आपकी उम्र ही क्या है। कितने पुत्र लीजियेगा ? नाकों दम न हो जाय तो कहियेगा।

सास—बेटी, दूध-पूत से भी किसी का मन भरा है।

सुकेशी—ईश्वर ने चाहा तो आप लोगों का मन भर जायगा। मेरा तो भर गया।

घमंडीलाल—सुनती हो महारानी, अबकी कोई गोलमाल मत करना। अपनी भाभी से सब ब्योरा अच्छी तरह पूछ लेना।

सुकेशी—आप निश्चिन्त रहें, मैं याद करा दूँगी; क्या भोजन करना होगा, कैसे रहना होगा, कैसे स्नान करना होगा, यह सब लिखा दूँगी और अम्माँजी, आज के १८ मास बाद आपसे कोई भारी इनाम लूँगी।

सुकेशी एक सप्ताह यहाँ रही और निरुपमा को खूब सिखा-पढ़ाकर चली गई।

(५)

निरुपमा का एकबाल फिर चमका, घमण्डीलाल अबकी इतने आश्वासित हुए कि भविष्य ने भूत को भुला दिया। निरुपमा फिर बाँदी से रानी हुई, सास फिर उसे पान की भाँति फेरने लगी, लोग उसका मुँह जोहने लगे।

दिन गुज़रने लगे, निरुपमा कभी कहती, अम्माँजी आज मैंने स्वप्न देखा कि एक वृद्धा स्त्री ने आकर मुझे पुकारा और एक नारियल देकर बोली—यह तुम्हें दिये जाती हूँ; कभी कहती, अम्माँजी अबकी न जाने क्यों मेरे दिल में बड़ी-बड़ी उमंगें पैदा हो रही हैं, जी चाहता है ख़ूब गाना सुनूँ, नदी में ख़ूब स्नान करूँ, हरदम नशा-सा छाया रहता है। सास सुनकर मुसकुराती और कहती—बहू, ये शुभ लक्षण हैं।

निरुपमा चुपके-चुपके माजून मँगाकर खाती और अपने अलस नेत्रों से ताकते हुए घमण्डीलाल से पूछती—मेरी आँखें लाल हैं क्या? घमण्डीलाल ख़ुश होकर कहते—मालूम होता है नशा चढ़ा हुआ है। ये शुभ लक्षण हैं।

निरुपमा को सुगन्धों से कभी इतना प्रेम न था, फूलों के गजरों पर अब वह जान देती थी।

घमण्डीलाल अब नित्य सोते समय उसे महाभारत की वीर कथायें पढ़कर सुनाते, कभी गुरु गोविन्दसिंह की कीर्ति का वर्णन करते। अभिमन्यु की कथा से निरुपमा को बड़ा प्रेम था। पिता अपने आनेवाले पुत्र को वीर-संस्कारों से परिपूरित कर देना चाहता था।

एक दिन निरुपमा ने पति से कहा—नाम क्या रखोगे ?

घमण्डीलाल—यह तो तुमने ख़ूब सोचा। मुझे तो इसका ध्यान ही न रहा था। ऐसा नाम होना चाहिये जिससे शौर्य और तेज टपके। सोचो कोई नाम।

दोनों प्राणी नामों की व्याख्या करने लगे। ज़ोरावरलाल से लेकर हरिश्चन्द्र तक सभी नाम गिनाये गये, पर उस असामान्य बालक के लिए कोई नाम न मिला। अन्त में पति ने कहा—तेग़बहादुर कैसा नाम है ?

निरूपमा—बस बस, यही नाम मुझे पसन्द है।

घमंडीलाल—नाम तो बढ़िया है। गुरु तेग़बहादुर की कीर्ति सुन ही चुकी हो। नाम का आदमी पर बड़ा असर होता है।

निरूपमा—नाम ही तो सब कुछ है। दमड़ी, छकौड़ी, घुरहू, कतवारू जिसके नाम देखे उसे भी 'यथा नाम तथा गुण' ही पाया। हमारे बच्चे का नाम होगा तेग़बहादुर।

(६)

प्रसव-काल आ पहुँचा। निरुपमा को मालूम था क्या होनेवाला है। लेकिन बाहर मंगलाचरण का पूरा सामान था। अबकी किसी को लेशमात्र भी सन्देह न था। नाच-गाने का प्रबन्ध भी किया गया था। एक शामियाना खड़ा किया गया था और मित्रगण उसमें बैठे खुशग़प्पियाँ कर रहे थे। हलवाई कड़ाह से पूरियाँ और मिठाइयाँ निकाल रहा था। कई बोरे अनाज के रखे हुए थे कि शुभ समाचार पाते ही भिक्षुकों को बाँटे जायें। एक क्षण का भी विलम्ब न हो, इसलिए बोरों के मुँह खोल दिये गये थे।

लेकिन निरुपमा का दिल प्रतिक्षण बैठा जाता था। अब क्या

होगा ? तीन साल किसी तरह कौशल से कट गये और मज़े में कट गये, लेकिन अब विपत्ति सिर पर मँडला रही है। हाय! कितनी परवशता है। निरपराध होने पर भी यह दण्ड! अगर भगवान् की यही इच्छा है कि मेरे गर्भ से कोई पुत्र न जन्म ले तो मेरा क्या दोष! लेकिन कौन सुनता है। मैं ही अभागिनी हूँ, मैं ही त्याज्य हूँ, मैं ही कलमुँही हूँ, इसीलिए न कि परवश हूँ! क्या होगा? अभी एक क्षण में यह सारा आनन्दोत्सव शोक में डूब जायगा, मुझपर बौछारें पड़ने लगेंगी, भीतर से बाहर तक सब मुझी को कोसेंगे, सास-ससुर का भय नहीं, लेकिन स्वामीजी शायद फिर मेरा मुँह न देखें, शायद निराश होकर घर-बार त्याग दें। चारों तरफ़ अमंगल ही अमंगल है। मैं अपने घर की, अपनी संतान की दुर्दशा देखने के लिए क्यों जीवित रहूँ? कौशल बहुत हो चुका, अब उससे कोई आशा नहीं। मेरे दिल में कैसे-कैसे अरमान थे। अपनी प्यारी बच्चियों का लालन-पालन करती, उन्हें ब्याहती, उनके बच्चों को देखकर सुखी होती। पर आह! यह सब अरमान ख़ाक में मिले जाते हैं। भगवान्! अब तुम्हीं इनके पिता हो तुम्हीं इनके रक्षक हो। मैं तो अब जाती हूँ।

लेडी डाक्टर ने कहा—वेल! फिर लड़की है।

भीतर-बाहर कुहराम मच गया, पिट्टस पड़ गई। घमण्डीलाल ने कहा—जहन्नुम में जाये ऐसी ज़िन्दगी, मौत भी नहीं आ जाती!

उनके पिता भी बोले—अभागिनी है, बड़ी अभागिनी!

भिक्षुकों ने कहा—रोओ अपनी तक़दीर को, हम कोई दूसरा द्वार देखते हैं।

अभी यह शोकोद्गार शान्त न होने पाया था कि लेडी डाक्टर ने कहा—मा का हाल अच्छा नहीं है। वह अब नहीं बच सकती। उसका दिल बन्द हो गया है।

संध्या का समय था। कचहरी उठ गई थी। अहलकार और चपरासी जेबें खनखनाते घर जा रहे थे। मेहतर कूड़े टटोल रहा था कि शायद कहीं पैसे-वैसे मिल जायँ। कचहरी के बरामदों में साँड़ों ने वकीलों की जगह ले ली थी। पेड़ों के नीचे मुहर्रिरों की जगह कुत्ते बैठे नज़र आते थे। इसी समय एक बूढ़ा आदमी, फटे-पुराने कपड़े पहने, लाठी टेकता हुआ, जंट साहब के बँगले पर पहुँचा और सायबान में खड़ा हो गया। जंट साहब का नाम था मिस्टर जी० सिनहा। अरदली ने दूर ही से ललकारा—कौन सायबान में खड़ा है? क्या चाहता है?

बूढ़ा—गरीब बाम्हन हूँ भैया, साहब से भेंट होगी?

अरदली—साहब तुम-जैसों से नहीं मिला करते!

बूढ़े ने लाठी पर अकड़कर कहा—क्यों भाई, हम खड़े हैं, या डाकू-चोर हैं, कि हमारे मुँह में कुछ लगा हुआ है?

अरदली—भीख माँगकर मुक़दमा लड़ने आये होगे?

बूढ़ा—तो कोई पाप किया है? अगर घर बेचकर मुक़दमा नहीं लड़ते तो कुछ बुरा करते हैं? यहाँ तो मुक़दमा लड़ते-लड़ते उम्र बीत गई, लेकिन घर का पैसा नहीं खरचा। मियाँ की जूती मियाँ का सिर करते हैं। दस भलेमानसों से माँगकर एक को दे दिया। चलो छुट्टी हुई। गाँव-भर नाम से काँपता है। किसी ने ज़रा भी टिर-पिर की और मैंने अदालत में दावा दायर किया।

अरदली—किसी बड़े आदमी से पाला नहीं पड़ा अभी!

बूढ़ा—अजी, कितने ही बड़ों को बड़े घर भिजवा दिया, तुम हो किस फेर में। हाई-कोर्ट तक जाता हूँ सीधा। कोई मेरे मुँह क्या आयेगा बेचारा! गाँठ से तो कौड़ी जाती नहीं, फिर डरें क्यों? जिसकी जिस चीज़ पर दाँत लगाये, अपना करके छोड़ा। सीधे न दिया तो अदालत

में घसीट लाये और रगेद-रगेदकर मारा, अपना क्या बिगड़ता है। तो साहब से इत्तला करते हो कि मैं ही पुकारूँ ?

अरदली ने देखा, यह आदमी यों टलनेवाला नहीं, तो जाकर साहब से उसकी इत्तला की। साहब ने हुलिया पूछा, और खुश होकर कहा—फ़ौरन् बुला लो।

अरदली—हुज़ूर, बिलकुल फटे-हाल है।

साहब—गुदड़ी ही में लाल होते हैं। जाकर भेज दो।

मिस्टर सिनहा अधेड़ आदमी थे, बहुत ही शांत, बहुत ही विचार-शील। बातें बहुत कम करते थे। कठोरता और असभ्यता, जो शासन का अंग समझी जाती है, उनको छू भी नहीं गई थी। न्याय और दया के देवता मालूम होते थे। निगाह ऐसी बारीक पाई थी कि सूरत देखते ही आदमी पहचान जाते थे। डील डौल देवों का सा था और रंग आबनूस का-सा। आराम-कुर्सी पर लेटे हुए पेचवान पी रहे थे। बूढ़े ने जाकर सलाम किया।

सिनहा—तुम हो जगत पाँड़े ? आओ बैठो। तुम्हारा मुक़दमा तो बहुत ही कमज़ोर है। भले आदमी, जाल भी न करते बना ?

जगत—ऐसा न कहें हुज़ूर, गरीब आदमी हूँ, मर जाऊँगा।

सिनहा—किसी वकील-मुख़्तार से सलाह भी न ले ली ?

जगत—अब तो सरकार की सरन आया हूँ।

सिनहा—सरकार क्या मिसिल बदल देंगे, या नया क़ानून गढ़ेंगे ? तुम ग़चा खा गये। मैं कभी क़ानून के बाहर नहीं जाता। जानते हो न, अपील से कभी मेरी तजवीज़ रद्द नहीं होती ?

जगत—बड़ा धरम होगा सरकार ! (सिनहा के पैरों पर गिन्नियों की एक पोटली रखकर) बड़ा दुखी हूँ सरकार !

सिनहा—(मुसकराकर) यहाँ भी अपनी चालबाज़ी से नहीं चूकते ? निकालो अभी और। ओस से प्यास नहीं बुझती। भला दहाई तो पूरी करो।

जगत—बहुत तंग हूँ दीनबन्धु !

सिनहा—डालो, डालो कमर में हाथ। भला कुछ मेरे नाम की लाज तो रखो।

जगत—लुट जाऊँगा सरकार!

सिनहा—लुटें तुम्हारे दुश्मन, जो इलाक़ा बेचकर लड़ते हैं। तुम्हारे जजमानों का भगवान् भला करें, तुम्हें किस बात की कमी है।

मिस्टर सिनहा इस मामले में ज़रा भी रिआयत न करते थे। जगत ने देखा कि यहाँ काइयाँपन से काम न चलेगा तो चुपके से ५ गिन्नियाँ और निकालीं। लेकिन उन्हें मिस्टर सिनहा के पैरों पर रखते समय उसकी आँखों से ख़ून निकल आया। यह उसकी बरसों की कमाई थी। बरसों पेट काटकर, तन जलाकर, मन बाँधकर, झूठी गवाहियाँ देकर, उसने यह थाती संचय कर पाई थी। उसका हाथों से निकलना प्राण निकलने से कम दुखदायी न था।

जगत पाँड़े के चले जाने के बाद, कोई ६ बजे रात को, जंट साहब के बँगले पर एक ताँगा आकर रुका और उस पर से पंडित सत्यदेव उतरे जो राजा साहब शिवपुर के मुख़्तार थे।

मिस्टर सिनहा ने मुसकराकर कहा—आप शायद अपने इलाक़े में ग़रीबों को न रहने देंगे। इतना जुल्म!

सत्यदेव—ग़रीबपरवर, यह कहिये कि ग़रीबों के मारे अब इलाक़े में हमारा रहना मुश्किल हो रहा है। आप जानते हैं, सीधी उँगली घी नहीं निकलता। ज़मींदार को कुछ न कुछ सख़्ती करनी ही पड़ती है, मगर अब यह हाल है कि हमने ज़रा चूँ भी की तो उन्हीं ग़रीबों की त्योरियाँ बदल जाती हैं। सब मुफ़्त में ज़मीन जोतना चाहते हैं। लगान माँगिये तो फ़ौजदारी का दावा करने को तैयार! अब इसी जगत पाँड़े को देखिये। गंगा-क़सम है हुज़ूर, सरासर झूठा दावा है। हुज़ूर से कोई बात छिपी तो रह नहीं सकती। अगर जगत पाँड़े यह मुक़दमा जीत गया तो हमें बोरिया-बधना छोड़कर भागना पड़ेगा। अब हुज़ूर ही बसायें तो बस सकते हैं। राजा साहब ने हुज़ूर को सलाम कहा है

और अर्ज़ की है कि इस मामले में जगत पाँड़े की ऐसी ख़बर लें कि वह भी याद करे।

मिस्टर सिनहा ने भवें सिकोड़कर कहा—क़ानून मेरे घर तो नहीं बनता ?

सत्यदेव—हुज़ूर के हाथ में सब कुछ है।

यह कहकर गिन्नियों की एक गड्डी निकालकर मेज़ पर रख दी। मिस्टर सिनहा ने गड्डी को आँखों से गिनकर कहा—इन्हें मेरी तरफ़ से राजा साहब की नज़र कर दीजियेगा। आख़िर आप कोई वकील तो करेंगे ही। उसे क्या दीजियेगा ?

सत्यदेव—वह तो हुज़ूर के हाथ में है। जितनी ही पेशियाँ होंगी उतना ही ख़र्च भी बढ़ेगा।

सिनहा—मैं चाहूँ तो महीनों लटका सकता हूँ।

सत्यदेव—हाँ, इससे कौन इनकार कर सकता है !

सिनहा—पाँच पेशियाँ भी हुईं तो आपके कम से कम एक हज़ार उड़ जायेंगे। आप यहाँ उसका आधा पूरा कर दीजिये, तो एक ही पेशी में वारा-न्यारा हो जाय ! आधी रकम बच जाय।

सत्यदेव ने १० गिन्नियाँ और निकालकर मेज़ पर रख दीं और घमंड के साथ बोले—हुक्म हो तो राजा साहब से कह दूँ, आप इत्मीनान रखें, साहब की कृपा दृष्टि हो गई है। मिस्टर सिनहा ने तीव्र स्वर में कहा—जी नहीं, यह कहने की ज़रूरत नहीं। मैं किसी शर्त पर यह रक़म नहीं ले रहा हूँ। मैं करूँगा वही जो क़ानून की मंशा होगी। क़ानून के ख़िलाफ़ जौ-भर भी नहीं जा सकता। यही मेरा उसूल है। आप लोग मेरी ख़ातिर करते हैं, यह आपकी शराफ़त है। मैं उसे अपना दुश्मन समझूँगा जो मेरा ईमान ख़रीदना चाहे। मैं जो कुछ लेता हूँ सचाई का इनाम समझकर लेता हूँ।

(२)

जगत पाँड़े को पूरा विश्वास था कि मेरी जीत होगी, लेकिन तजवीज़ सुनी तो होश उड़ गये। दावा ख़ारिज हो गया। उस पर ख़र्च

की चपत अलग। मेरे साथ यह चाल ! अगर लाला साहब को इसका मज़ा न चखा दिया तो बाम्हन नहीं। हैं किस फेर में ? सारा रोब भुला दूँगा। यहाँ गाढ़ी कमाई के रुपए हैं। कौन पचा सकता है ? हाड़ फोड़-फोड़कर निकलेंगे। इसी द्वार पर सिर पटक-पटककर मर जाऊँगा।

उसी दिन संध्या को जगत पाँड़े ने मिस्टर सिनहा के बँगले के सामने आसन जमा दिया। वहाँ बरगद का एक घना वृक्ष था। मुक़दमेवाले वहीं सत्तू-चबेना खाते और दोपहरी उसी की छाँह में काटते थे। जगत पाँड़े उनसे मिस्टर सिनहा की दिल खोलकर निन्दा करता। न कुछ खाता न पीता, बस लोगों को अपनी राम-कहानी सुनाया करता। जो सुनता वह जंट साहब को चार खोटी-खरी कहता—आदमी नहीं पिशाच है, इसे तो ऐसी जगह मारे जहाँ पानी न मिले। रुपये के रुपये लिये, ऊपर से ख़रचे समेत डिग्री कर दी। यही करना था तो रुपये काहे को निगले थे ? यह है हमारे भाई-बन्दों का हाल। यह अपने कहलाते हैं ! इनसे तो अँगरेज़ ही अच्छे। इस तरह की आलोचनाएँ दिनभर हुआ करतीं। जगत पाँड़े के पास आठों पहर जमघट लगा रहता।

इस तरह चार दिन बीत गये और मिस्टर सिनहा के कानों में भी बात पहुँची। अन्य रिशवती कर्मचारियों की तरह वह भी हेकड़ आदमी थे। ऐसे निर्द्वन्द्व रहते मानो उनमें यह बुराई छू तक नहीं गई है। जब वह क़ानून से जौ-भर भी न टलते थे तो उन पर रिशवत का सन्देह हो ही क्योंकर सकता था, और कोई करता भी तो उनकी मानता कौन ? ऐसे चतुर खिलाड़ी के विरुद्ध कोई ज़ाब्ते की कारवाई कैसे होती ? मिस्टर सिनहा अपने अफ़सरों से भी ख़ुशामद का व्यवहार न करते। इससे हुक्काम भी उनका बहुत आदर करते थे। मगर जगत पाँड़े ने वह मंत्र मारा था जिसका उनके पास कोई उत्तर न था। ऐसे बाँगड़ आदमी से आज तक उन्हें साबिक़ा न पड़ा था। अपने नौकरों से पूछते—बुड्ढा क्या कह रहा है ? नौकर लोग अपनापन जताने के लिए झूठ के पुल बाँध देते—हुज़ूर, कहता था भूत बनकर लगूँगा, मेरी वेदी बने तो सही, जिस दिन मरूँगा उस दिन एक के सौ जगत

पाँड़े होंगे। मिस्टर सिनहा पक्के नास्तिक थे लेकिन यह बातें सुन-सुनकर सशंक हो जाते; और उनकी पत्नी तो थर-थर काँपने लगतीं। वह नौकरों से बार-बार कहतीं, उससे जाकर पूछो, क्या चाहता है। जितने रुपए चाहे ले ले, हमसे जो माँगे वह देंगे, बस यहाँ से चला जाय। लेकिन मिस्टर सिनहा आदमियों को इशारे से मना कर देते थे। उन्हें अभी तक आशा थी कि भूख-प्यास से व्याकुल होकर बुड्ढा चला जायगा। इससे अधिक वह भय था कि मैं ज़रा भी नरम पड़ा और नौकरों ने मुझे उल्लू बनाया।

छठे दिन मालूम हुआ कि जगत पाँड़े अबोल हो गया है, उससे हिला तक नहीं जाता, चुपचाप पड़ा आकाश की ओर देख रहा है, शायद आज रात को दम निकल जाय। मिस्टर सिनहा ने लम्बी साँस ली और गहरी चिन्ता में डूब गये। पत्नी ने आँखों में आँसू भरकर आग्रह-पूर्वक कहा—तुम्हें मेरे सिर की क़सम, जाकर किसी तरह इस बला को टालो। बुड्ढा मर गया तो हम कहीं के न रहेंगे। अब रुपये का मुँह मत देखो। दो-चार हज़ार भी देने पड़ें तो देकर उसे मनाओ। तुमको जाते शर्म आती हो तो मैं चली जाऊँ।

सिनहा—जाने का इरादा तो मैं कई दिन से कर रहा हूँ; लेकिन जब देखता हूँ वहाँ भीड़ लगी रहती है, इससे हिम्मत नहीं पड़ती। सब आदमियों के सामने तो मुझसे न जाया जायगा चाहे कितनी ही बड़ी आफ़त क्यों न आ पड़े। तुम दो-चार हज़ार को कहती हो, मैं दस-पाँच हज़ार देने को तैयार हूँ। लेकिन वहाँ जा नहीं सकता। न जाने किस बुरी साइत में मैंने इसके रुपए लिये। जानता कि यह इतना फ़िसाद खड़ा करेगा तो फाटक में घुसने ही न देता। देखने में तो ऐसा सीधा मालूम होता था कि गऊ है। मैंने पहली बार आदमी पहचानने में धोखा खाया।

पत्नी—तो मैं ही चली जाऊँ? शहर की तरफ़ से आऊँगी, और सब आदमियों को हटाकर अकेले में बातें करूँगी। किसी को ख़बर न होगी कि कौन है। इसमें तो कोई हरज नहीं है?

मिस्टर सिनहा ने संदिग्ध भाव से कहा—ताड़नेवाले ताड़ ही जायँगे चाहे तुम कितना ही छिपाओ।

पत्नी—ताड़ जायँगे ताड़ जायँ, अब इसको कहाँ तक डरूँ। बदनामी अभी क्या कम हो रही है जो और हो जायगी। सारी दुनिया जानती है कि तुमने रुपये लिये। योंही कोई किसी पर प्राण नहीं देता। फिर अब व्यर्थ की ऐंठ क्यों करो।

मिस्टर सिनहा अब मर्मवेदना को न दबा सके। बोले—प्रिये, यह व्यर्थ की ऐंठ नहीं है। चोर को अदालत में बेत खाने से उतनी लज्जा नहीं आती, स्त्री को कलंक से उतनी लज्जा नहीं आती, जितनी किसी हाकिम को अपनी रिशवत का परदा खुलने से आती है। वह ज़हर खाकर मर जायगा, पर संसार के सामने अपना परदा न खोलेगा। वह अपना सर्वनाश देख सकता है, पर यह अपमान नहीं सह सकता। ज़िंदा खाल खिंचने, या कोल्हू में पेले जाने के सिवा और कोई ऐसी स्थिति नहीं है जो उससे अपना अपराध स्वीकार करा सके। इसका तो मुझे ज़रा भी भय नहीं है कि ब्राह्मण भूत बनकर हमको सतायेगा, या हम उसकी वेदी बनाकर पूजनी पड़ेगी; यह भी जानता हूँ कि पाप का दंड भी बहुधा नहीं मिलता; लेकिन हिंदू होने के कारण संस्कारों की शंका कुछ-कुछ बनी हुई है। ब्रह्म हत्या का कलंक सिर पर लेते हुए आत्मा काँपती है। बस इतनी बात है। मैं आज रात को मौक़ा देखकर जाऊँगा और इस संकट को टालने के लिए जो कुछ हो सकेगा, करूँगा। ख़ातिरजमा रखो।

(३)

आधी रात बीत चुकी थी। मिस्टर सिनहा घर से निकले और अकेले जगत पाँड़े को मनाने चले। बरगद के नीचे बिलकुल सन्नाटा था। अन्धकार ऐसा था मानो निशादेवी यहीं शयन कर रही हों। जगत पाँड़े की साँस ज़ोर ज़ोर से चल रही थी, मानो मौत ज़बरदस्ती घसीटे लिये जाती हो। मिस्टर सिनहा के रोयें खड़े हो गये? बुड्ढा कहीं मर तो नहीं रहा है? जेबी लालटेन निकाली और जगत के समीप जाकर

बोले—पांड़ेजी, कहो क्या हाल है ?

जगत पांड़े ने आँखें खोलकर देखा और उठने की असफल चेष्टा करके बोला—मेरा हाल पूछते हो ? देखते नहीं हो, मर रहा हूं ?

सिनहा—तो इस तरह क्यों प्राण देते हो ?

जगत—तुम्हारी यही इच्छा है तो मैं क्या करूं ?

सिनहा—मेरी तो यह इच्छा नहीं। हां, तुम अलबत्ता मेरा सर्वनाश करने पर तुले हुए हो। आखिर मैंने तुम्हारे डेढ़ सौ रुपए ही तो लिये हैं। इतने ही रुपयों के लिए तुम इतना बड़ा अनुष्ठान कर रहे हो !

जगत—डेढ़ सौ रुपए की बात नहीं है जी, तुमने मुझे मिट्टी में मिला दिया। मेरी डिग्री हो गई होती तो मुझे दस बीघे ज़मीन मिल जाती और सारे इलाक़े में नाम हो जाता। तुमने मेरे डेढ़ सौ नहीं लिये, मेरे पांच हज़ार बिगाड़ दिये। पूरे पांच हज़ार। लेकिन यह घमंड न रहेगा, याद रखना। कहे देता हूं, सत्यानाश हो जायेगा। इस अदालत में तुम्हारा राज्य है, लेकिन भगवान् के दरबार में विप्रों ही का राज्य है। विप्र का धन लेकर कोई सुखी नहीं रह सकता।

मिस्टर सिनहा ने बहुत खेद और लज्जा प्रकट की, बहुत अनुनय-विनय से काम लिया और अन्त में पूछा—सच बतलाओ पांड़े, कितने रुपए पा जाओ तो यह अनुष्ठान छोड़ दो ?

जगत पांड़े अबकी ज़ोर लगाकर उठ बैठे और बड़ी उत्सुकता से बोले—पांच हज़ार से कौड़ी कम न लूंगा।

सिनहा—पांच हज़ार तो बहुत होते हैं। इतना जुल्म न करो।

जगत—नहीं, इससे कम न लूँगा।

यह कहकर जगत पांड़े फिर लेट गया। उसने ये शब्द इतने निश्चयात्मक भाव से कहे थे कि मिस्टर सिनहा को और कुछ कहने का साहस न हुआ। रुपए लाने घर चले। लेकिन घर पहुँचते पहुँचते नीयत बदल गई। डेढ़ सौ के बदले पांच हज़ार देते कलक हुआ। मन में कहा—मरता है मर जाने दो, कहाँ की ब्रह्म-हत्या और कैसा पाप ! यह सब पाखंड है। बदनामी ही न होगी ? सरकारी मुलाज़िम तो यों

ही बदनाम होते हैं यह कोई नई बात थोड़े ही है। बचा कैसे उठ बैठे थे समझा होगा, अच्छा उल्लू फँसा। अगर ६ दिन के उपवास करने से पाँच हज़ार मिलें तो मैं महीने में कम-से-कम पाँच मरतबा यह अनुष्ठान करूँ। पाँच हज़ार नहीं, कोई मुझे एक ही हज़ार दे दे। यहाँ तो महीने भर नाक रगड़ता हूँ तब जाके ६००) के दर्शन होते हैं। नोच-खसोट से भी शायद ही किसी महीने में इससे ज़्यादा मिलता हो! बैटा मेरी राह देख रहा होगा। लेना रुपए, मुँह मीटा हो जायगा!

वह चारपाई पर लेटना चाहते थे कि उनकी पत्नीजी आकर खड़ी हो गईं। उनके सिर के बाल खुले हुए थे, आँखें सहमी हुईं, रह-रहकर काँप उठती थीं। मुँह से शब्द न निकलता था। बड़ी मुश्किल से बोलीं—आधी रात तो हो गई होगी? तुम जगत पाँड़े के पास चले जाओ। मैंने अभी ऐसा बुरा सपना देखा है कि अभी तक कलेजा धड़क रहा है, जान संकट में पड़ी हुई थी। जाके किसी तरह उसे टालो।

मिस्टर सिनहा—वहीं से तो चला आ रहा हूँ। मुझे तुमसे ज़्यादा फ़िक्र है। अभी आकर खड़ा ही हुआ था कि तुम आईं।

पत्नी—अच्छा! तो तुम गये थे! क्या बातें हुईं, राज़ी हुआ?

सिनहा—पाँच हज़ार रुपए माँगता है!

पत्नी—पाँच हज़ार!

सिनहा—कौड़ी कम नहीं करता और मेरे पास इस वक़्त एक हज़ार से ज़्यादा न होंगे।

पत्नीजी ने एक क्षण सोचकर कहा—जितना माँगता है उतना ही दे दो, किसी तरह गला तो छूटे? तुम्हारे पास रुपए न हों तो मैं दे दूँगी। अभी से सपने दिखाई देने लगे हैं। मरा तो प्राण कैसे बचेंगे। बोलता-चालता है न?

मिस्टर सिनहा अगर आबनूस थे तो उनकी पत्नी चन्दन। सिनहा उनके गुलाम थे। उनके इशारों पर चलते थे। पत्नीजी भी पति-शासन-कला में कुशल थीं। सौन्दर्य और अज्ञान में अपवाद है। सुन्दरी कभी

भोली नहीं होती। वह पुरुष के मर्मस्थल पर आसन जमाना खूब जानती है।

सिनहा—तो लाओ देता आऊँ, लेकिन आदमी बड़ा चग्घड़ है, कहीं रुपए लेकर सबको दिखाता फिरे तो ?

पत्नी—इनको इसी वक्त यहाँ से भगाना होगा।

सिनहा—तो निकालो दे ही दूँ। ज़िन्दगी में यह बात भी याद रहेगी।

पत्नीजी ने अविश्वास के भाव से कहा—चलो मैं भी चलती हूँ। इस वक्त कौन देखता है।

पत्नी से अधिक पुरुष के चरित्र का ज्ञान और किसी को नहीं होता। मिस्टर सिनहा की मनोवृत्तियों को उनकी पत्नीजी खूब जानती थीं। कौन जाने रास्ते में रुपए कहीं छिपा दें, और कह दें, दे आये। या कहने लगें, रुपए लेकर भी नहीं टलता तो मैं क्या करूँ। जाकर सन्दूक़ से नोटों के पुलिन्दे निकाले और उन्हें चादर में छिपाकर मिस्टर सिनहा के साथ चलीं। सिनहा के मुँह पर झाड़ू-सी फिरी हुई थी। लालटेन लिये पछताते चले जाते थे। ५०००) निकले जाते हैं! फिर इतने रुपए कब मिलेंगे, कौन जानता है! इससे तो कहीं अच्छा था कि दुष्ट मर ही जाता। बला से बदनामी होती, कोई मेरी जेब से रुपए तो न छीन लेता। ईश्वर करे मर गया हो!

अभी दोनों आदमी फाटक ही तक आये थे कि देखा, जगत पाँड़े लाठी टेकता चला आता है। उसका स्वरूप इतना डरावना था मानो स्मशान से कोई मुरदा भागा आता हो।

इनको देखते ही जगत पाँड़े बैठ गया और हाँफता हुआ बोला—बड़ी देर हुई, लाये?

पत्नीजी बोलीं—महाराज, हम तो आ ही रहे थे, तुमने क्यों कष्ट किया। रुपए लेकर सीधे घर चले जाओगे न ?

जगत—हाँ हाँ, सीधा घर जाऊँगा। कहाँ हैं रुपए, देखूँ!

पत्नीजी ने नोटों का पुलिंदा बाहर निकाला और लालटेन दिखाकर बोलीं—गिन लो। पूरे ५००० रुपए हैं!

पाँड़े ने पुलिंदा लिया और बैठकर उसे उलट-पुलटकर देखने लगा। उसकी आँखें एक नये प्रकाश से चमकने लगीं। हाथों में नोटों को तौलता हुआ बोला—पूरे पाँच हज़ार हैं!

पत्नी—पूरे। गिन लो!

जगत—पाँच हज़ार में तो टोकरी भर जायगी? (हाथों से बताकर) इतने सारे हुए पाँच हज़ार!

सिनहा—क्या अब भी तुम्हें विश्वास नहीं आता?

जगत—हैं-हैं, पूरे हैं पूरे पाँच हज़ार! तो अब जाऊँ। भाग जाऊँ!

यह कहकर वह पुलिंदा लिये कई क़दम लड़खड़ाता हुआ चला, जैसे कोई शराबी; और तब धम से ज़मीन पर गिर पड़ा। मिस्टर सिनहा लपककर उठाने दौड़े तो देखा उसकी आँखें पथरा गई हैं और मुख पीला पड़ गया है। बोले—पाँड़े-पाँड़े, क्या कहीं चोट आ गई?

पाँड़े ने एक बार मुँह खोला जैसे मरती हुई चिड़िया सिर लटकाकर चोंच खोल देती है। जीवन का अन्तिम धागा भी टूट गया। ओंठ खुले हुए थे और नोटों का पुलिंदा छाती पर रखा हुआ था। इतने में पत्नीजी भी आ पहुँचीं और शव देखकर चौंक पड़ीं।

पत्नी—इसे क्या हो गया?

सिनहा—मर गया, और क्या हो गया?

पत्नी—(सिर पीटकर) मर गया! हाय भगवान्! अब कहाँ जाऊँ!

यह कहकर वह बँगले की ओर बड़ी तेज़ी से चलीं। मिस्टर सिनहा ने भी नोटों का पुलिंदा शव की छाती पर से उठा लिया और चले।

पत्नी—ये रुपए अब क्या होंगे?

सिनहा—किसी धर्म-कार्य में दे दूँगा।

पत्नी—घर में मत रखना, ख़बरदार! हाय भगवान्!

(४)

दूसरे दिन सारे शहर में ख़बर मशहूर हो गई—जगत पाँड़े ने जंट साहब पर जान दे दी। उसका शव उठा तो हज़ारों आदमी साथ थे। मिस्टर सिनहा को खुल्लम-खुल्ला गालियाँ दी जा रही थीं।

संध्या समय मिस्टर सिनहा कचहरी से आकर मन मारे बैठे थे कि नौकरों ने आकर कहा—सरकार, हमको छुट्टी दी जाय ! हमारा हिसाब कर दीजिये। हमारी बिरादरी के लोग धमकाते हैं कि तुम जंट साहब की नौकरी करोगे तो हुक्का-पानी बन्द हो जायगा।

सिनहा ने झल्लाकर कहा—कौन धमकाता है ?

कहार—किसका नाम बतायें सरकार ? सभी तो कह रहे हैं।

रसोइया—हजूर, मुझे तो लोग धमकाते हैं कि मंदिर में न घुसने पाओगे।

सिनहा—एक महीने की नोटिस दिये बग़ैर तुम नहीं जा सकते।

साईस—हजूर, बिरादरी से बिगाड़ करके हम लोग कहाँ जायेंगे। हमारा आज से इस्तीफ़ा है। हिसाब जब चाहे कर दीजियेगा।

मिस्टर सिनहा ने बहुत धमकाया, फिर दिलासा देने लगे, लेकिन नौकरों ने एक न सुनी। आध घण्टे के अन्दर सबों ने अपना अपना रास्ता लिया। मिस्टर सिनहा दाँत पीसकर रह गये ; लेकिन हाकिमों का काम कब रुकता है। उन्होंने उसी वक्त कोतवाल को ख़बर दी और कई आदमी बेगार में पकड़ आये। काम चल निकला।

उसी दिन से मिस्टर सिनहा और हिन्दू समाज में खींच-तान शुरू हुई। धोबी ने कपड़े धोना बन्द कर दिया। ग्वाले ने दूध लाने में आनाकानी की। नाई ने हजामत बनानी छोड़ी। इन विपत्तियों पर पत्नीजी का रोना-धोना और भी ग़ज़ब था। उन्हें रोज़ भयंकर स्वप्न दिखाई देते। रात को एक कमरे से दूसरे में जाते प्राण निकलते थे। किसी का ज़रा सिर भी दुखता तो नहों में जान समा जाती। सबसे बड़ी मुसीबत यह थी कि अपने सम्बन्धियों ने भी आना-जाना छोड़ दिया। एक दिन साले आये मगर बिना पानी पिये चले गये। इसी तरह एक दिन बहनोई का आगमन हुआ। उन्होंने पान तक न खाया। मिस्टर सिनहा बड़े धैर्य से यह सारा तिरस्कार सहते जाते थे। अब तक उनकी आर्थिक हानि न हुई थी। ग़रज़ के बावले झक मारकर आते ही थे और नज़र-नज़राना मिलता ही था, फिर विशेष चिन्ता का कोई कारण न था।

लेकिन बिरादरी से बैर करना पानी में रहकर मगर से बैर करना है। कोई-न-कोई ऐसा अवसर अवश्य ही आ जाता है, जब हमको बिरादरी के सामने सिर झुकाना पड़ता है। मिस्टर सिनहा को भी साल के अन्दर ही ऐसा अवसर आ पड़ा। यह उनकी पुत्री का विवाह था। यही वह समस्या है जो बड़े-बड़े हेकड़ों का घमंड चूर-चूर कर देती है। आप किसी के आने-जाने की परवा न करें, हुक्का पानी, भोज-भात, मेल-जोल, किसी बात की परवा न करें, मगर लड़की का विवाह तो न टलनेवाली बला है। उससे बचकर आप कहाँ जायँगे। मिस्टर सिनहा को इस बात का दग़दग़ा तो पहले ही था कि त्रिवेणी के विवाह में बाधाएँ पड़ेंगी,, लेकिन उन्हें विश्वास था कि द्रव्य की अपार शक्ति इस मुश्किल को हल कर देगी। कुछ दिनों तक उन्होंने जान-बूझकर टाला कि शायद इस आँधी का ज़ोर कुछ कम हो जाय; लेकिन जब त्रिवेणी का सोलहवाँ साल समाप्त हो गया तो टालमटोल की गुञ्जायश न रही। सन्देशे भेजने लगे। लेकिन जहाँ सन्देसिया जाता वहीं जवाब मिलता—हमें मंजूर नहीं। जिन घरों में साल-भर पहले उनका संदेशा पाकर लोग अपने भाग्य को सराहते, वहाँ से अब सूखा जवाब मिलता था—हमें मंजूर नहीं। मिस्टर सिनहा धन का लोभ देते, ज़मीन नज़र करने को कहते, लड़के को विलायत भेजकर ऊँची शिक्षा दिलाने का प्रस्ताव करते; किन्तु उनकी सारी आयोजनाओं का एक ही जवाब मिलता था—हमें मंजूर नहीं। ऊँचे घरानों का यह हाल देखकर मिस्टर सिनहा उन घरानों में सन्देश भेजने लगे, जिनके साथ पहले बैठकर भोजन करने में भी उन्हें संकोच होता था। लेकिन वहाँ भी वही जवाब मिला—हमें मजूर नहीं। यहाँ तक कि कई जगह वह ख़ुद दौड़-दौड़कर गये, लोगों की मिन्नतें कीं, पर यही जवाब मिला—साहब, हमें मंजूर नहीं। शायद बहिष्कृत घरानों में उनका संदेश स्वीकार कर लिया जाता; पर मिस्टर सिनहा जान-बूझकर मक्खी न निगलना चाहते थे। ऐसे लोगों से सम्बंध न करना चाहते थे जिनका बिरादरी में कोई स्थान न था। इस तरह एक वर्ष बीत गया।

मिसेज़ सिनहा चारपाई पर पड़ी कराह रही थीं, त्रिवेणी भोजन बना रही थी और मिस्टर सिनहा पत्नी के पास चिंता में डूबे बैठे हुए थे। उनके हाथ में एक ख़त था, बार-बार उसे देखते और कुछ सोचने लगते थे। बड़ी देर के बाद रोहिणी ने आँखें खोलीं और बोलीं—अब न बचूँगी। पाँड़े मेरी जान लेकर छोड़ेगा। हाथ में कैसा कागज़ है?

सिनहा—यशोदानंदन के पास से ख़त आया है। पाजी को यह ख़त लिखते हुए शर्म नहीं आती। मैंने इसकी नौकरी लगाई, इसकी शादी करवाई और आज उसका मिज़ाज इतना बढ़ गया है कि अपने छोटे भाई की शादी मेरी लड़की से करना पसंद नहीं करता। अभागे के भाग्य खुल जाते!

पत्नी—भगवान् अब ले चलो। यह दुर्दशा नहीं देखी जाती। अंगूर खाने का जी चाहता है, मँगवाये हैं कि नहीं?

सिनहा—मैं ख़ुद जाकर लेता आया था।

यह कहकर उन्होंने तश्तरी में अँगूर भरकर पत्नी के पास रख दिये। वह उठा-उठाकर खाने लगीं। जब तश्तरी ख़ाली हो गई तो बोलीं—अब किसके यहाँ सन्देशा भेजोगे?

सिनहा—किसके यहाँ बताऊँ। मेरी समझ में तो अब कोई ऐसा आदमी नहीं रह गया। ऐसी बिरादरी में रहने से तो यह हज़ार दरजा अच्छा है कि बिरादरी के बाहर रहूँ। मैंने एक ब्राह्मण से रिशवत ली। इससे मुझे इनकार नहीं। लेकिन कौन रिशवत नहीं लेता। अपने गौं पर कोई नहीं चूकता। ब्राह्मण नहीं ख़ुद ईश्वर ही क्यों न हों, रिशवत खानेवाले उन्हें भी चूस ही लेंगे। रिशवत देनेवाला अगर निराश होकर अपने प्राण दे देता है तो मेरा क्या अपराध? अगर कोई मेरे फैसले से नाराज़ होकर ज़हर खा ले तो मैं क्या कर सकता हूँ इस पर भी मैं प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ, बिरादरी जो दण्ड दे, उसे स्वीकार करने को तैयार हूँ। सबसे कह चुका हूँ मुझसे जो प्रायश्चित्त चाहो करा लो। पर कोई नहीं सुनता। दंड अपराध के अनुकूल होना चाहिये, नहीं तो यह अन्याय है। अगर किसी मुसलमान का

छुआ हुआ भोजन खाने के लिए बिरादरी मुझे काले पानी भेजना चाहे तो मैं उसे कभी न मानूँगा। फिर अपराध अगर है तो मेरा है। मेरी लड़की ने क्या अपराध किया है। मेरे अपराध के लिए मेरी लड़की को दण्ड देना सरासर न्याय-विरुद्ध है।

पत्नी—मगर करोगे क्या? कोई पंचायत क्यों नहीं करते?

सिनहा—पञ्चायत में भी तो वही बिरादरी के मुखिया लोग ही होंगे, उनसे मुझे न्याय की आशा नहीं। वास्तव में इस तिरस्कार का कारण ईर्ष्या है। मुझे देखकर सब जलते हैं। और इसी बहाने से मुझे नीचा दिखाना चाहते हैं। मैं इन लोगों को ख़ूब समझता हूँ।

पत्नी—मन की लालसा मन ही में रह गई। यह अरमान लिये संसार से जाना पड़ेगा। भगवान् की जैसी इच्छा। तुम्हारी बातों से मुझे डर लगता है कि मेरी बच्ची की न-जाने क्या दशा होगी। मगर तुमसे मेरी अन्तिम विनय यही है कि बिरादरी से बाहर न जाना, नहीं तो परलोक में भी मेरी आत्मा को शान्ति न मिलेगी। यही शोक मेरी जान ले रहा है। हाय मेरी बची पर न-जाने क्या विपत्ति आनेवाली है।

यह कहते मिसेज़ सिनहा की आँखों से आँसू बहने लगे। मिस्टर सिनहा ने उनको दिलासा देते हुए कहा—इसकी चिन्ता मत करो प्रिये, मेरा आशय केवल यह था कि ऐसे भाव मेरे मन में आया करते हैं। तुमसे सच कहता हूँ बिरादरी के अन्याय से कलेजा चलनी हो गया है।

पत्नी—बिरादरी को बुरा मत कहो। बिरादरी का डर न हो तो आदमी न जाने क्या-क्या उत्पात करे। बिरादरी को बुरा न कहो। (कलेजे पर हाथ रखकर) यहाँ बड़ा दर्द हो रहा है। यशोदानन्दन ने भी कोरा जवाब दे दिया? किसी करवट चैन नहीं आता। क्या करूँ भगवान्!

सिनहा—डाक्टर को बुलाऊँ?

पत्नी—तुम्हारा जी चाहे बुला लो, लेकिन मैं बचूँगी नहीं। ज़रा तिब्बी को बुला लो, प्यार कर लूँ। जी डूबा जाता है। मेरी बच्ची! हाय मेरी बच्ची!

धिक्कार

(१)

ईरान और यूनान में घोर संग्राम हो रहा था। ईरानी दिन-दिन बढ़ते जाते थे और यूनान के लिए संकट का सामना था। देश के सारे व्यवसाय बन्द हो गये थे, हल की मुठिया पर हाथ रखनेवाले किसान तलवार की मुठिया पकड़ने के लिए मजबूर हो गये थे, डंडी तौलनेवाले भाले तौलते थे। सारा देश आत्म रक्षा के लिए तैयार हो गया था। फिर भी शत्रु के क़दम दिन-दिन आगे ही बढ़ते आते थे। जिस ईरान को यूनान कई बार कुचल चुका था, वही ईरान आज क्रोध के आवेग की भाँति सिर पर चढ़ा आता था। मर्द तो रणक्षेत्र में सिर कटा रहे थे और स्त्रियाँ दिन-दिन की निराशाजनक ख़बरें सुनकर सूखी जाती थीं। क्योंकर लाज की रक्षा होगी? प्राण का भय न था, सम्पत्ति का भय न था, भय था मर्याद का। विजेता गर्व से मतवाले होकर यूनानी ललनाओं की ओर घूरेंगे, उनके कोमल अंगों को स्पर्श करेंगे, उनको क़ैद कर ले जायँगे! उस विपत्ति की कल्पना ही से इन लोगों के रोएँ खड़े हो जाते थे।

आख़िर जब हालत बहुत नाजुक हो गई तो कितने ही स्त्री-पुरुष मिलकर डेल्फ़ी के मन्दिर में गये और प्रश्न किया—देवी, हमारे ऊपर देवताओं की यह वक्र दृष्टि क्यों है? हमसे ऐसा कौन सा अपराध हुआ है? क्या हमने नियमों का पालन नहीं किया, क़ुरबानियाँ नहीं कीं, व्रत नहीं रखे? फिर देवताओं ने क्यों हमारे सिरों से अपनी रक्षा का हाथ उठा लिया है?

पुजारिन ने कहा—देवताओं की असीम कृपा भी देश को द्रोही के हाथ से नहीं बचा सकती। इस देश में अवश्य कोई-न-कोई द्रोही है। जब तक उसका वध न किया जायगा, देश के सिर से यह संकट न टलेगा।

'देवी, वह द्रोही कौन है?'

'जिस घर से रात को गाने की ध्वनि आती हो, जिस घर से दिन को सुगन्ध की लपटें आती हों, जिस पुरुष की आँखों में मद की लाली झलकती हो, वही देश का द्रोही है।'

लोगों ने द्रोही का परिचय पाने के लिए और भी कितने ही प्रश्न किये, पर देवी ने कोई उत्तर न दिया।

(२)

यूनानियों ने द्रोही की तलाश करनी शुरू की। किसके घर में से रात को गाने की आवाज़ें आती हैं? सारे शहर में सन्ध्या होते स्यापा-सा छा जाता था। अगर कहीं आवाजें सुनाई देती थीं तो रोने की हँसी और गाने की आवाज़ कहीं न सुनाई देती थी।

दिन को सुगन्ध की लपटें किस घर से आती हैं? लोग जिधर जाते थे, उधर से दुर्गन्ध आती थी। गलियों में कूड़े के ढेर पड़े थे, किसे इतनी फुरसत थी कि घर की सफ़ाई करता, घर में सुगन्ध जलाता; धोबियों का अभाव था, अधिकांश लड़ने चले गये थे, कपड़े तक न धुलते थे; इत्र-फुलेल कौन मलता।

किसकी आँखों में मद की लाली झलकती है? लाल आँखें दिखाई देती थीं लेकिन यह मद की लाली न थी, यह आँसुओं की लाली थी। मदिरा की दूकानों पर ख़ाक उड़ रही थी। इस जीवन और मृत्यु के संग्राम में विलास की किसे सूझती। लोगों ने सारा शहर छान मारा, लेकिन एक भी आँख ऐसी नज़र न आई जो मद से लाल हो।

कई दिन गुज़र गये। शहर में पल-पल-भर पर रण-क्षेत्र से भयानक ख़बरें आती थीं और लोगों के प्राण सूखे जाते थे।

आधी रात का समय था। शहर में अन्धकार छाया हुआ था, मानो श्मशान हो। किसी की सूरत न दिखाई देती थी। जिन नाट्य-शालाओं में तिल रखने की जगह न मिलती थी वहाँ सियार बोल रहे थे, जिन बाज़ारों में मन चले जवान अस्त्र-शस्त्र सजाये ऐंठते फिरते थे वहाँ उल्लू बोल रहे थे; मन्दिरों में गाना होता था, न बजाना। प्रासादों में भी अन्धकार छाया हुआ था।

एक बूढ़ा यूनानी, जिसका एकलौता लड़का लड़ाई के मैदान में था, घर से निकला और न-जाने किन विचारों की तरंग में देवी के मन्दिर की ओर चला। रास्ते में कहीं प्रकाश न था, क़दम-क़दम पर ठोकरें खाता था, पर आगे बढ़ता चला जाता था। उसने निश्चय कर लिया था कि या तो आज देवी से विजय का वरदान लूँगा या उनके चरणों पर अपने को भेंट कर दूँगा।

(३)

सहसा वह चौंक पड़ा। देवी का मन्दिर आ गया था और उसके पीछे की ओर किसी घर से मधुर संगीत की ध्वनि आ रही थी। उसको आश्चर्य हुआ। इस निर्जन स्थान में कौन इस वक्त रंगरलियाँ मना रहा है। उसके पैरों में पर-से लग गये, उड़कर मन्दिर के पिछवाड़े जा पहुँचा।

उसी घर से जिसमें मन्दिर की पुजारिन रहती थी गाने की आवाज़ आती थी। वृद्ध विस्मित होकर खिड़की के सामने खड़ा हो गया। चिराग़-तले अँधेरा! देवी के मन्दिर के पिछवाड़े यह अंधेर?

बूढ़े ने द्वार से झाँका; एक सजे हुए कमरे में मोमी बत्तियाँ झाड़ों में जल रही थीं, साफ़-सुथरा फ़र्श बिछा हुआ था और एक आदमी मेज़ पर बैठा हुआ गा रहा था। मेज़ पर शराब की बोतल और प्यालियाँ रखी हुई थीं। दो ग़ुलाम मेज़ के सामने हाथ में भोजन के थाल लिये खड़े थे, जिनमें से मनोहर सुगन्ध की लपट आ रही थीं।

बूढ़े यूनानी ने चिल्लाकर कहा—यही देश द्रोही है, यही देश-द्रोही है!

मन्दिर की दीवारों ने दुहराया—द्रोही है?

बाग़ीचे की तरफ़ से आवाज़ आई—द्रोही!

मंदिर की पुजारिन ने घर में से सिर निकालकर कहा—हाँ, द्रोही है!

यह देश-द्रोही उसी पुजारिन का बेटा पासोनियस था। देश में रक्षा के जो उपाय सोचे जाते, शत्रुओं का दमन करने के लिए जो निश्चय किये जाते, उनकी सूचना वह ईरानियों को दे दिया करता था। सेनाओं की प्रत्येक गति की ख़बर ईरानियों को मिल जाती थी

और उन प्रयत्नों को विफल बनाने के लिए वे पहले से तैयार हो जाते थे। यही कारण था कि यूनानियों को जान लड़ा देने पर भी विजय न होती थी। इस देश-द्रोह के पुरस्कार में पासोनियस को मुहरों की थैलियाँ मिल जाती थीं। इसी कपट से कमाये हुए धन से वह भोग विलास करता था। उस समय जब कि देश पर घोर संकट पड़ा हुआ था, उसने अपने स्वदेश को अपनी वासनाओं के लिए बेच दिया था। अपने विलास के सिवा उसे और किसी बात की चिन्ता न थी, कोई मरे या जिये, देश रहे या जाय, उसकी बला से। केवल अपने कुटिल स्वार्थ के लिए देश की गरदन में ग़ुलामी की बेड़ियाँ डलवाने पर तैयार था। पुजारिन अपने बेटे के दुराचरण से अनभिज्ञ थी। वह अपनी अँधेरी कोठरी से बहुत कम निकलती, वहीं बैठी जप तप किया करती थी। परलोक-चिन्तन में उसे इहलोक की ख़बर न थी, मनेन्द्रियों ने बाहर की चेतना को शून्य-सा कर दिया था। वह इस समय भी कोठरी के द्वार बन्द किये, देवी से अपने देश के कल्याण के लिए वन्दना कर रही थी कि सहसा उसके कानों में आवाज़ आई—यही द्रोही है, यही द्रोही है!

उसने तुरन्त द्वार खोलकर बाहर की ओर झाँका, पासोनियस के कमरे से प्रकाश की रेखाएँ निकल रही थीं, और उन्हीं रेखाओं पर संगीत की लहरें नाच रही थीं। उसके पैर-तले से ज़मीन-सी निकल गई, कलेजा धक् से हो गया। ईश्वर! क्या मेरा बेटा ही देश द्रोही है?

आप ही आप, किसी अन्तःप्रेरणा से पराभूत होकर, वह चिल्ला उठी—हाँ, यही देश-द्रोही है!

(४)

यूनानी स्त्री पुरुष झुंड के झुंड उमड़ पड़े और पासोनियस के द्वार पर खड़े होकर चिल्लाने लगे—यही देश-द्रोही है!

पासोनियस के कमरे की रोशनी ठंडी हो गई थी, संगीत भी बन्द था; लेकिन द्वार पर प्रतिक्षण नगरवासियों का समूह बढ़ता जाता था और रह-रहकर सहस्रों कंठों से ध्वनि निकलती थी—यही देश-द्रोही है!

लोगों ने मशालें जलाई, और अपने लाठी डंडे सँभालकर मकान में घुस पड़े। कोई कहता था--सिर उतार लो। कोई कहता था--देवी के चरणों पर बलिदान कर दो। कुछ लोग उसे कोठे से नीचे गिरा देने पर आग्रह कर रहे थे।

पासोनियस समझ गया कि अब मुसीबत की घड़ी सिर पर आ गई। तुरन्त जीने से उतरकर नीचे की ओर भागा और कहीं शरण की आशा न देखकर देवी के मन्दिर में जा घुसा।

अब क्या किया जाय। देवी के शरण जानेवाले को अभय-दान मिल जाता था। परम्परा से यही प्रथा थी। मन्दिर में किसी की हत्या करना महापाप था।

लेकिन देश-द्रोही को इतने सस्ते कौन छोड़ता। भाँति-भाँति के प्रस्ताव होने लगे—

'सुअर के हाथ पकड़कर बाहर खींच लो।'

'ऐसे देश-द्रोही का वध करने के लिए देवी हमें क्षमा कर देंगी।'

'देवी आप उसे क्यों नहीं निगल जातीं?'

'पत्थरों से मारो, पत्थरों से; आप निकलकर भागेगा।'

'निकलता क्यों नहीं रे कायर! वहाँ क्या मुँह में कालिख लगाकर बैठा हुआ है?'

रात-भर यही शोर मचा रहा और पासोनियस न निकला! आखिर यह निश्चय हुआ कि मन्दिर की छत खोदकर फेंक दी जाय और पासोनियस दोपहर की तेज़ धूप और रात की कड़ाके की सरदी में आप-ही-आप अकड़ जाय। बस फिर क्या था। आन की आन में लोगों ने मन्दिर की छत और कलस ढा दिये।

अभागा पासोनियस दिन-भर तेज़ धूप में खड़ा रहा। उसे ज़ोर की प्यास लगी, लेकिन पानी कहाँ? भूख लगी, पर खाना कहाँ? सारी ज़मीन तवे की भाँति जलने लगी, लेकिन छाँह कहाँ? इतना कष्ट उसे जीवन भर में न हुआ था। मछली की भाँति तड़पता था और चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को पुकारता था, मगर वहाँ कोई उसकी पुकार सुनने-

वाला न था। बार-बार क़समें खाता था कि अब फिर मुझसे ऐसा अपराध न होगा लेकिन कोई उसके निकट न आता था। बार-बार चाहता था कि दीवार से सिर टकराकर प्राण दे दे, लेकिन यह आशा रोक देती थी कि शायद लोगों को मुझ पर दया आ जाय। वह पागलों की तरह ज़ोर-ज़ोर से कहने लगा—मुझे मार डालो, मार डालो, एक क्षण में प्राण ले लो, इस भाँति जला-जलाकर न मारो, ओ हत्यारो, तुमको ज़रा भी दया नहीं !

दिन बीता और रात—भयंकर रात—आई। ऊपर तारागण चमक रहे थे मानो उसकी विपत्ति पर हँस रहे हों। ज्यों-ज्यों रात भीगती थी, देवी विकराल रूप धारण करती जाती थी। कभी वह उसकी ओर मुँह खोलकर लपकती, कभी उसे जलती हुई आँखों से देखती। उधर क्षण-क्षण सरदी बढ़ती जाती थी, पासोनियस के हाथ-पाँव अकड़ने लगे। कलेजा काँपने लगा, घुटनों में सिर रखकर बैठ गया और अपनी क़िस्मत को रोने लगा ; कुरते को खींचकर कभी पैरों को छिपाता, कभी हाथों को, यहाँ तक कि इस खींचा-तानी में कुरता भी फट गया। आधी रात जाते-जाते बर्फ़ गिरने लगी। दोपहर को उसने सोचा था कि गरमी ही सबसे अधिक कष्टदायक है, इस ठंड के सामने उसे गरमी की तकलीफ़ भूल गई।

आख़िर शरीर में गरमी लाने के लिए उसे एक हिकमत सूझी। वह मंदिर में इधर उधर दौड़ने लगा ; लेकिन विलासी जीव था, ज़रा देर में हाँपकर गिर पड़ा।

(५)

प्रातःकाल लोगों ने किवाड़ खोले तो पासोनियस को भूमि पर पड़े देखा। मालूम होता था, उसका शरीर अकड़ गया है। बहुत चीख़ने-चिल्लाने पर उसने आँखें खोलीं, पर जगह से हिल न सका। कितनी दयनीय दशा थी, किन्तु किसी को उस पर दया न आई। यूनान में देश-द्रोह सबसे बड़ा अपराध था और द्रोही के लिए कहीं क्षमा न थी, कहीं दया न थी।

एक—अभी मरा नहीं है !

दूसरा—द्रोहियों को मौत नहीं आती !

तीसरा—पड़ा रहने दो, मर जायगा !

चौथा—मक्र किये हुए है !

पाँचवाँ—अपने किये की सज़ा पा चुका, अब छोड़ देना चाहिये !

सहसा पासोनियस उठ बैठा और उद्दण्ड भाव से बोला—कौन कहता है कि इसे छोड़ देना चाहिये ! नहीं, मुझे मत छोड़ना वरना पछताओगे। मैं स्वार्थी हूँ, विषय-भोगी हूँ, मुझ पर भूलकर भी विश्वास न करना। आह ! मेरे कारण तुम लोगों को क्या-क्या झेलना पड़ा, इसे सोचकर मेरा जी चाहता है कि अपनी इन्द्रियों को जलाकर भस्म कर दूँ। मैं अगर सौ बार जन्म लेकर इस पाप का प्रायश्चित्त करूँ, तो भी मेरा उद्धार न होगा। तुम भूलकर भी मेरा विश्वास न करो। मुझे स्वयं अपने ऊपर विश्वास नहीं। विलास के प्रेमी सत्य का पालन नहीं कर सकते। मैं अब भी आपकी कुछ सेवा कर सकता हूँ, मुझे ऐसे-ऐसे गुप्त रहस्य मालूम हैं, जिन्हें जानकर आप ईरानियों का संहार कर सकते हैं, लेकिन मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है और आपसे भी यही कहता हूँ कि मुझ पर विश्वास न कीजिये।

आज रात को देवी की मैंने सच्चे दिल से वन्दना की है और उन्होंने मुझे ऐसे यन्त्र बताये हैं, जिनसे हम शत्रुओं को परास्त कर सकते हैं, ईरानियों के बढ़ते हुए दल को आज भी आन की आन में उड़ा सकते हैं। लेकिन मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है, मैं यहाँ से बाहर निकलकर इन बातों को भूल जाऊँगा। बहुत संशय है कि फिर ईरानियों की गुप्त सहायता करने लगूँ, इसलिए मुझ पर विश्वास न कीजिये।

एक यूनानी—देखो देखो, क्या कहता है ?

दूसरा—सच्चा आदमी मालूम होता है।

तीसरा—अपने अपराधों को आप स्वीकार कर रहा है।

चौथा—इसे क्षमा कर देना चाहिये, और वह सब बातें पूछ लेनी चाहियें।

पाँचवाँ—देखो, यह नहीं कहता कि मुझे छोड़ दो, हमको बार-बार याद दिलाता जाता है कि मुझ पर विश्वास न करो!

छठा—रात-भर के कष्ट ने होश ठंडे कर दिये, अब आँखें खुली हैं!

पासोनियस—क्या तुम लोग मुझे छोड़ने की बातचीत कर रहे हो? मैं फिर कहता हूँ, मैं विश्वास के योग्य नहीं हूँ। मैं द्रोही हूँ। मुझे ईरानियों के बहुत-से भेद मालूम हैं, एक बार उनकी सेना में पहुँच जाऊँ तो उनका मित्र बनकर सर्वनाश कर दूँ, पर मुझे अपने ऊपर विश्वास नहीं है।

एक यूनानी—धोखेबाज़ इतनी सच्ची बात नहीं कह सकता!

दूसरा—पहले स्वार्थान्ध हो गया था पर अब आँखें खुली हैं!

तीसरा—देश-द्रोही से भी अपने मतलब की बातें मालूम कर लेने में कोई हानि नहीं है। अगर यह अपने वचन पूरे करे तो हमें इसे छोड़ देना चाहिये।

चौथा—देवी की प्रेरणा से इसकी यह कायापलट हुई है।

पाँचवाँ—पापियों में भी आत्मा का प्रकाश रहता है और कष्ट पाकर जाग्रत् हो जाता है। यह समझना कि जिसने एक बार पाप किया वह फिर कभी पुण्य कर ही नहीं सकता, मानव-चरित्र के एक प्रधान तत्त्व का अपवाद करना है।

छठा—हम इसको यहाँ से गाते-बजाते ले चलेंगे।

जन-समूह को चकमा देना कितना आसान है। जनसत्तावाद का सबसे निर्बल अङ्ग यही है। जनता तो नेक और बद की तमीज़ नहीं रखती, उस पर धूर्तों, रँगे सियारों का जादू आसानी से चल जाता है। अभी एक दिन पहले जिस पासोनियस की गरदन पर तलवार चलाई जा रही थी, उसी को जलूस के साथ मन्दिर से निकालने की तैयारियाँ होने लगीं; क्योंकि वह धूर्त था और जानता था कि जनता की कील क्योंकर घुमाई जा सकती है।

एक स्त्री—गाने बजानेवालों को बुलाओ, पासोनियस शरीफ़ है।

दूसरी—हाँ हाँ, पहले चलकर उससे क्षमा माँगो, हमने उसके साथ ज़रूरत से ज्यादा सख्ती की।

पासोनियस—आप लोगों ने पूछा होता तो मैं कल ही सारी बातें आपको बता देता, तब आपको मालूम होता कि मुझे मार डालना उचित है या जीता रखना।

कई स्त्री-पुरुष हाय हाय हाय ! हमसे बड़ी भूल हुई। हमारे सच्चे पासोनियस !

सहसा एक वृद्धा स्त्री किसी तरफ से दौड़ती हुई आई और मन्दिर के सबसे ऊँचे ज़ीने पर खड़ी होकर बोली—तुम लोगों को क्या हो गया है ? यूनान के बेटे आज इतने ज्ञानशून्य हो गये हैं कि झूठे और सच्चे में विवेक नहीं कर सकते ! तुम पासोनियस पर विश्वास करते हो ? जिस पासोनियस ने सैकड़ों स्त्रियों और बालकों को अनाथ कर दिया, सैकड़ों घरों में कोई दिया जलानेवाला न छोड़ा, हमारे देवताओं का, हमारे पुरुखों का घोर अपमान किया, उसकी दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातों पर तुम इतना फूल उठे। याद रखो, अबकी पासोनियस बाहर निकला तो फिर तुम्हारी कुशल नहीं, यूनान पर ईरान का राज्य होगा और यूनानी ललनाएँ ईरानियों की कुदृष्टि का शिकार बनेंगी। देवी की आज्ञा है कि पासोनियस फिर बाहर न निकलने पाये। अगर तुम्हें अपना देश प्यारा है, अपने पुरुखों का नाम प्यारा है, अपनी माताओं और बहनों की आबरू प्यारी है तो मंदिर के द्वार को चुन दो जिसमें इस देश-द्रोही को फिर बाहर निकलने और तुम लोगों को बहकाने का मौक़ा न मिले। यह देखो, पहला पत्थर मैं अपने हाथों से रखती हूँ।

लोगों ने विस्मित होकर देखा—यह मन्दिर की पुजारिन और पासोनियस की माता थी।

दम-के-दम में पत्थरों के ढेर लग गये और मन्दिर का द्वार चुन दिया गया। पासोनियस भीतर दाँत पीसता रह गया।

वीर माता, तुम्हें धन्य है। ऐसी ही माताओं से देश का मुख

उज्ज्वल होता है, जो देश-हित के सामने मातृ-स्नेह की धूल-बराबर भी परवा नहीं करती। उनके पुत्र देश के लिए होते हैं, देश पुत्र के लिए नहीं होता।

लैला

(१)

यह कोई न जानता था कि लैला कौन है, कहाँ से आई है और क्या करती है। एक दिन लोगों ने एक अनुपम सुन्दरी को तेहरान के चौक में अपने डफ पर हाफ़िज़ की यह ग़ज़ल झूम-झूमकर गाते सुना—

रसीद मुज़्दा कि ऐयामे ग़म न ख्वाहद माँद,
चुनाँ न माँद, चुनीं नीज़ हम न ख्वाहद माँद।

और सारा तेहरान उस पर फ़िदा हो गया। यही लैला थी।

लैला के रूप-लालित्य की कल्पना करनी हो तो उषा की प्रफुल्ल लालिमा की कल्पना कीजिये, जब नील-गगन स्वर्ण-प्रकाश से रञ्जित हो जाता है; बहार की कल्पना कीजिये, जब बाग़ में रङ्ग-रङ्ग के फूल खिलते हैं और बुलबुलें गाती हैं।

लैला के स्वर-लालित्य की कल्पना करनी हो, तो उस घण्टी की अनवरत ध्वनि की कल्पना कीजिये जो निशा की निस्तब्धता में ऊँटों की गरदनों में बजती हुई सुनाई देती है, या उस बाँसुरी की ध्वनि की जो मध्याह्न की आलस्यमयी शान्ति में किसी वृक्ष की छाया में लेटे हुए चरवाहे के मुख से निकलती है।

जिस वक्त लैला मस्त होकर गाती थी, उसके मुख पर एक स्वर्गीय आभा झलकने लगती थी। वह काव्य, सङ्गीत, सौरभ और सुषमा की एक मनोहर प्रतिमा थी, जिसके सामने, छोटे और बड़े अमीर और ग़रीब सभी के सिर झुक जाते थे, सभी मन्त्र-मुग्ध हो जाते थे, सभी सिर धुनते थे। वह उस आनेवाले समय का सन्देश सुनाती थी, जब

देश में सन्तोष और प्रेम का साम्राज्य होगा, जब द्वन्द्व और संग्राम का अन्त हो जायगा। वह राजा को जगाती और कहती, यह विलासिता कब तक, यह ऐश्वर्य-भोग कब तक? वह प्रजा की सोई हुई अभिलाषाओं को जगाती, उनकी हृत्तन्त्रियों को अपने स्वरों से कम्पित कर देती। वह उन अमर वीरों की कीर्ति सुनाती जो दीनों की पुकार सुनकर विकल हो जाते थे, उन विदुषियों की महिमा गाती जो कुल-मर्यादा पर मर मिटी थीं। उसकी अनुरक्त ध्वनि सुनकर लोग दिलों को थाम लेते थे, तड़प जाते थे।

सारा तेहरान लैला पर फ़िदा था। दलितों के लिए वह आशा का दीपक थी, रसिकों के लिए जन्नत की हूर, धनियों के लिए आत्मा की जाग्रति और सत्ताधारियों के लिए दया और धर्म का सन्देश। उसकी भौंहों के एक इशारे पर जनता आग में कूद सकती थी। जैसे चैतन्य जड़ को आकर्षित कर देता है, उसी भाँति लैला ने जनता को आकर्षित कर लिया था।

और यह अनुपम सौंदर्य सुधा की भाँति पवित्र, हिम के समान निष्कलंक और नव कुसुम की भाँति अनिन्द्य था! उसके एक प्रेम-कटाक्ष, एक भेदभरी मुसकान, एक रसीली अदा पर क्या न हो जाता—कंचन के पर्वत खड़े हो जाते, ऐश्वर्य उपासना करता, रियासतें पैर की धूल चाटतीं, कवि कट जाते, विद्वान घुटने टेकते। लेकिन लैला किसी की ओर आँख उठाकर भी न देखती थी। वह एक वृक्ष की छाँह में रहती, भिक्षा माँगकर खाती और अपनी हृदय-वीणा के राग अलापती थी। वह कवि की सूक्ति की भाँति केवल आनन्द और प्रकाश की वस्तु थी, भोग की नहीं। वह ऋषियों के आशीर्वाद की प्रतिमा थी, कल्याण में डूबी हुई, शान्ति में रँगी हुई। कोई उसे स्पर्श न कर सकता था, उसे मोल न ले सकता था।

(२)

एक दिन संध्या-समय तेहरान का शाहज़ादा नादिर घोड़े पर सवार उधर से निकला। लैला गा रही थी। नादिर ने घोड़े की बाग

रोक ली और देर तक आत्मविस्मृति की दशा में खड़ा सुनता रहा। ग़ज़ल का पहला शेर यह था—

मरा दर्देस्त अन्दर दिल, अगर गोयम ज़बाँ सोज़द;
वगर दम दरकशम, तरसम कि मग़ज़ो उस्तख़्वाँ सोज़द।

फिर वह घोड़े से उतरकर वहीं ज़मीन पर बैठ गया और सिर झुकाये रोता रहा, तब वह उठा और लैला के पास जाकर उसके क़दमों पर सिर रख दिया। लोग अदब से इधर-उधर हट गये।

लैला ने पूछा—तुम कौन हो?

नादिर—तुम्हारा गुलाम!

लैला—मुझसे क्या चाहते हो?

नादिर—आपकी ख़िदमत करने का हुक्म। मेरे झोपड़े को अपने क़दमों से रोशन कीजिये।

लैला—यह मेरी आदत नहीं।

शाहज़ादा फिर वहीं बैठ गया और लैला फिर गाने लगी। लेकिन गला थर्राने लगा, मानो वीणा का कोई तार टूट गया हो। उसने नादिर की ओर करुण नेत्रों से देखकर कहा—तुम यहाँ मत बैठो। कई आदमियों ने कहा—लैला, ये हमारे हुज़ूर शाहज़ादा नादिर हैं। लैला बेपरवाई से बोली—बड़ी ख़ुशी की बात है। लेकिन यहाँ शाहज़ादों का क्या काम? उनके लिए महल हैं, महफ़िलें हैं और शराब के दौर हैं। मैं उनके लिए गाती हूँ, जिनके दिल में दर्द है, उनके लिए नहीं जिनके दिल में शौक़ है।

शाहज़ादा ने उन्मत्त भाव से कहा—लैला, मैं तुम्हारी एक तान पर अपना सब कुछ निसार कर सकता हूँ। मैं शौक़ का गुलाम था, लेकिन तुमने दर्द का मज़ा चखा दिया।

लैला फिर गाने लगी, लेकिन आवाज़ क़ाबू में न थी, मानो वह उसका गला ही न था।

लैला ने डफ कंधे पर रख लिया और अपने डेरे की ओर चली। श्रोता अपने-अपने घर चले। कुछ लोग उसके पीछे-पीछे उस वृक्ष तक

आये, जहाँ वह विश्राम करती थी। जब वह अपनी झोपड़ी के द्वार पर पहुँची, तब सभी आदमी विदा हो चुके थे। केवल एक आदमी झोपड़ी से कई हाथ पर चुपचाप खड़ा था।

लैला ने पूछा—तुम कौन हो?

नादिर ने कहा—तुम्हारा गुलाम नादिर!

लैला—तुम्हें मालूम नहीं कि मैं अपने अमन के गोशे में किसी को नहीं आने देती?

नादिर—यह तो देख ही रहा हूँ।

लैला—फिर क्यों बैठे हो?

नादिर—उम्मीद दामन पकड़े हुए है।

लैला ने कुछ देर के बाद फिर पूछा—कुछ खाकर आये हो?

नादिर—अब तो न भूख है, न प्यास।

लैला—आओ, आज तुम्हें ग़रीबों का खाना खिलाऊँ। इसका मज़ा भी चख लो।

नादिर इनकार न कर सका। आज उसे बाजरे की रोटियों में अभूतपूर्व स्वाद मिला। वह सोच रहा था कि विश्व के इस विशाल भवन में कितना आनन्द है, उसे अपनी आत्मा में विकास का अनुभव हो रहा था।

जब वह खा चुका तब लैला ने कहा—अब जाओ। आधी रात से ज़्यादा गुज़र गई।

नादिर ने आँखों में आँसू भरकर कहा—नहीं लैला, अब मेरा आसन भी यहीं जमेगा।

नादिर दिन भर लैला के नग़मे सुनता; गलियों में, सड़कों पर, जहाँ वह जाती उसके पीछे-पीछे घूमता रहता। रात को उसी पेड़ के नीचे जाकर पड़ा रहता। बादशाह ने समझाया, मलका ने समझाया, उमरा ने मिन्नतें कीं लेकिन नादिर के सिर से लैला का सौदा न गया। जिन हालों लैला रहती थी उन हालों वह भी रहता था। मलका उसके लिए अच्छे से अच्छे खाने बनवाकर भेजती लेकिन नादिर उनकी ओर देखता भी न था।

लेकिन लैला के सङ्गीत में अब वह सुधा न थी। वह टूटे हुए तारों का राग था, जिसमें न वह लोच था, न वह जादू, न वह असर। वह अब भी गाती थी, सुननेवाले अब भी आते थे, लेकिन अब वह अपना दिल ख़ुश करने को नहीं, उनका दिल ख़ुश करने को गाती थी, और सुननेवाले विह्वल होकर नहीं, उसको ख़ुश करने के लिए आते थे।

इस तरह ६ महीने गुज़र गये।

एक दिन लैला गाने न गई। नादिर ने कहा—क्यों लैला, आज गाने न चलोगी?

लैला ने कहा—अब कभी न गाऊँगी। सच कहना, तुम्हें अब भी मेरे गाने में पहले ही का-सा मज़ा आता है?

नादिर बोला—पहले से कहीं ज़्यादा।

लैला—लेकिन और लोग तो अब नहीं पसन्द करते।

नादिर—हाँ, मुझे इसका ताज्जुब है।

लैला—ताज्जुब की बात नहीं। पहले मेरा दिल खुला हुआ था, उसमें सबके लिए जगह थी, वह सबको ख़ुश कर सकता था। उसमें से जो आवाज़ निकलती थी वह सबके दिलों में पहुँचती थी। अब तुमने उसका दरवाज़ा बन्द कर दिया। अब वहाँ सिर्फ़ तुम हो। इसलिए उसकी आवाज़ तुम्हीं को पसन्द आती है। यह दिल अब तुम्हारे सिवा और किसी के काम का नहीं रहा। चलो, आज तक तुम मेरे गुलाम थे; आज से मैं तुम्हारी लौंडी होती हूँ। चलो, मैं तुम्हारे पीछे-पीछे चलूँगी। आज तुम मेरे मालिक हो। थोड़ी-सी आग लेकर इस झोपड़े में लगा दो। इस डफ़ को उसी में जला दूँगी।

(३)

तेहरान में घर-घर आनन्दोत्सव हो रहा था। आज शाहज़ादा नादिर लैला को ब्याह कर घर लाया था। बहुत दिनों के बाद उसके दिल की मुराद पूरी हुई थी। सारा तेहरान शाहज़ादे पर जान देता था और उसकी ख़ुशी में शरीक था। बादशाह ने तो अपनी तरफ़ से मुनादी

करवा दी थी कि इस शुभ अवसर पर धन और समय का अपव्यय न किया जाय, केवल लोग मसजिदों में जमा होकर ख़ुदा से दुआ माँगें कि वर और वधू चिरञ्जीव हों और सुख से रहें। लेकिन अपने प्यारे शाहज़ादे की शादी में धन, और धन से अधिक मूल्यवान समय का मुँह देखना किसी को गवारा न था। रईसों ने महफ़िलें सजाईं, चिराग़ जलाये, बाजे बजवाये, ग़रीबों ने अपनी डफलियाँ सँभालीं और सड़कों पर घूम-घूमकर उछलते-कूदते फिरे।

सन्ध्या-समय शहर के सारे अमीर और रईस शाहज़ादे को बधाई देने के लिए दीवाने-ख़ास में जमा हुए। शाहज़ादा इत्रों से महकता, रत्नों से चमकता और मनोल्लास से खिलता हुआ आकर खड़ा हो गया।

क़ाज़ी ने अर्ज़ की—हुज़ूर पर ख़ुदा की बरकत हो। हज़ारों आदमियों ने कहा—आमीन!

शहर की ललनाएँ भी लैला को मुबारकबाद देने आईं। लैला बिलकुल सादे कपड़े पहने थी। आभूषणों का कहीं नाम न था।

एक महिला ने कहा—आपका सोहाग सदा सलामत रहे। हज़ारों कण्ठों से ध्वनि निकली—आमीन!

(४)

कई साल गुज़र गये। नादिर अब बादशाह था और लैला उसकी मलका। ईरान का शासन इतने सुचारु रूप से कभी न हुआ था। दोनों ही प्रजा के हितैषी थे, दोनों ही उसे सुखी और सम्पन्न देखना चाहते थे। प्रेम ने वे सभी कठिनाइयाँ दूर कर दीं, जो लैला को पहले शंकित करती रहती थीं। नादिर राजसत्ता का वकील था, लैला प्रजा-सत्ता की, लेकिन व्यावहारिक रूप से उनमें कोई भेद न पड़ता था; कभी यह दब जाता, कभी वह हट जाती। उनका दाम्पत्यजीवन आदर्श था। नादिर लैला का रुख़ देखता था, लैला नादिर का। काम से अवकाश मिलता तो दोनों बैठकर कभी गाते-बजाते, कभी नदियों की सैर करते, कभी किसी वृक्ष की छाँह में बैठे हुए हाफ़िज़ की ग़ज़लें पढ़ते

और झूमते। न लैला में अब उतनी सादगी थी, न नादिर में अब उतना तकल्लुफ़ था। नादिर का लैला पर एकाधिपत्य था, जो साधारण बात थी, लेकिन लैला का नादिर पर भी एकाधिपत्य था और यह असाधारण बात थी। जहाँ बादशाहों की महलसरा में बेगमों के मुहल्ले बसते थे, दरजनों और कोड़ियों से उनकी गणना होती थी, वहाँ लैला अकेली थी। उन महलों में अब शफ़ाख़ाने, मदरसे और पुस्तकालय थे। जहाँ महलसरा का वार्षिक व्यय करोड़ों तक पहुँचता था, वहाँ अब हज़ारों से आगे न बढ़ता था। शेष रुपए प्रजा-हित के कामों में ख़र्च कर दिये जाते थे। यह सारी कतर-ब्योंत लैला ने की थी। बादशाह नादिर था, पर अख़्तियार लैला के हाथों में था।

सब कुछ था, किन्तु प्रजा सन्तुष्ट न थी। उसका असन्तोष दिन-दिन बढ़ता जाता था। राजसत्तावादियों को भय था कि अगर यही हाल रहा तो बादशाहत के मिट जाने में सन्देह नहीं। जमशेद का लगाया हुआ वृक्ष, जिसने हज़ारों सदियों से आँधी और तूफ़ान का मुक़ाबला किया, अब एक हसीना के नाजुक, पर क़ातिल हाथों जड़ से उखड़ा जा रहा है। उधर प्रजा-सत्तावादियों को लैला से जितनी आशाएँ थीं, वे सभी दुराशाएँ सिद्ध हो रही थीं। वे कहते, अगर ईरान इस चाल से तरक़्क़ी के रास्ते पर चलेगा तो इससे पहले कि वह अपने मंज़िले मक़सूद पर पहुँचे, क़यामत आ जायगी। दुनिया हवाई जहाज़ पर बैठी उड़ी जा रही है और हम अभी ठेलों पर बैठते भी डरते हैं कि कहीं इसकी हरकत से दुनिया में भूचाल न आ जाय! दोनों दलों में आये-दिन लड़ाइयाँ होती रहती थीं। न नादिर के समझाने का असर अमीरों पर होता था, न लैला के समझाने का ग़रीबों पर। सामन्त नादिर के ख़ून के प्यासे हो गये, प्रजा लैला की जानी दुश्मन।

(५)

राज्य में तो यह अशान्ति फैली हुई थी, विद्रोह की आग दिलों में सुलग रही थी। और राज-भवन में प्रेम का शान्ति-मय राज्य था, बादशाह और मलका दोनों प्रजा के सन्तोष की कल्पना में मग्न थे।

रात का समय था। नादिर और लैला अपनी आरामगाह में बैठे हुए शतरंज की बाज़ी खेल रहे थे। कमरे में कोई सजावट न थी, केवल एक जाज़िम बिछी हुई थी।

नादिर ने लैला का हाथ पकड़कर कहा—बस, अब यह ज़्यादती नहीं, तुम्हारी चाल हो चुकी। यह देखो, तुम्हारा एक प्यादा पिट गया।

लैला—अच्छा यह शह! आपके सारे पैदल रखे रह गये और बादशाह पर शह पड़ गई। इसी पर दावा था!

नादिर—तुम्हारे साथ हारने में जो मज़ा है वह जीतने में नहीं।

लैला—अच्छा, तो गोया आप मेरा दिल ख़ुश कर रहे हैं। शह बचाइये, नहीं दूसरी चाल में मात होती है।

नादिर—(अर्दब देकर) अच्छा अब सँभल जाना, तुमने मेरे बादशाह की तौहीन की है। एक बार मेरा फ़र्ज़ी उठा तो तुम्हारे प्यादों का सफ़ाया कर देगा।

लैला—बसन्त की भी ख़बर है! यह शह, लाइये फ़र्ज़ी। अब कहिये। अबकी मैं न मानूँगी, कहे देती हूँ। आपको दो बार छोड़ दिया, अबकी हर्गिज़ न छोड़ूँगी।

नादिर—जब तक मेरे पास मेरा दिलाराम (घोड़ा) है, बादशाह को कोई ग़म नहीं।

लैला—अच्छा यह शह! लाइये अपने दिलाराम को! कहिये अब तो मात हुई?

नादिर—हाँ जानेमन, अब मात हो गई। जब मैं ही तुम्हारी अदाओं पर निसार हो गया, तब मेरा बादशाह कब बच सकता था।

लैला—बातें न बनाइये, चुपके से इस फ़रमान पर दस्तख़त कर दीजिये, जैसा आपने वादा किया था।

यह कहकर लैला ने एक फ़रमान निकाला, जिसे उसने ख़ुद अपने मोती के-से अक्षरों में लिखा था। इसमें अन्न का आयात कर घटाकर आधा कर दिया गया था। लैला प्रजा को भूली न थी। वह अब भी उनकी हित-कामना में संलग्न रहती थी। नादिर ने इस शर्त पर फ़र-

मान पर दस्तख़त करने का वचन दिया था कि लैला उसे शतरंज में तीन बार मात करे। वह सिद्धहस्त खिलाड़ी था, इसे लैला जानती थी। पर यह शतरंज की बाज़ी न थी, केवल प्रेम विनोद था। नादिर ने मुसकराते हुए फ़रमान पर हस्ताक्षर कर दिये। क़लम के एक चिह्न से प्रजा की पाँच करोड़ वार्षिक कर से मुक्ति हो गई। लैला का मुख गर्व से आरक्त हो गया। जो काम बरसों के आन्दोलन से न हो सकता था, वह प्रेम-कटाक्षों से दिनों में पूरा हो गया।

यह सोचकर वह फूली न समाती थी कि जिस वक्त यह फ़रमान सरकारी पत्रों में प्रकाशित हो जायगा और व्यवस्थापक-सभा में लोगों को इसके दर्शन होंगे उस वक्त प्रजा-वादियों को कितना आनन्द होगा। लोग मेरा यश गायेंगे और मुझे आशीर्वाद देंगे।

नादिर प्रेम-मुग्ध होकर उसके चन्द्र-मुख की ओर देख रहा था, मानो उसका वश होता तो सौन्दर्य की इस प्रतिमा को हृदय में बिठा लेता।

(६)

सहसा राज्य-भवन के द्वार पर शोर मचने लगा। एक क्षण में मालूम हुआ कि जनता का टीड़ी-दल, अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित, राज-द्वार पर खड़ा दीवारों को तोड़ने की चेष्टा कर रहा है। प्रति क्षण शोर बढ़ता जाता था और ऐसी आशंका होती थी कि क्रोधोन्मत्त जनता द्वारों को तोड़कर भीतर घुस आयगी। फिर ऐसा मालूम हुआ कि कुछ लोग सीढ़ियाँ लगाकर दीवार पर चढ़ रहे हैं। लैला लज्जा और ग्लानि से सिर झुकाये खड़ी थी। उसके मुख से एक शब्द भी न निकलता था। क्या यही वह जनता है, जिसके कष्टों की कथा कहते हुए उसकी वाणी उन्मत्त हो जाती थी? यही वह अशक्त, दलित, क्षुधा-पीड़ित, अत्याचार की वेदना से तड़पती हुई जनता है, जिस पर वह अपने को अर्पण कर चुकी थी?

नादिर भी मौन खड़ा था, लेकिन लज्जा से नहीं, क्रोध से। उसका मुख तमतमा उठा था, आँखों से चिनगारियाँ निकल रही थीं, बार-बार ओठ चबाता और तलवार के क़ब्ज़े पर हाथ रखकर रह जाता था।

वह बार-बार लैला की ओर संतप्त नेत्रों से देखता था। ज़रा से इशारे की देर थी। उसका हुक्म पाते ही उसकी सेना इस विद्रोही दल को यों भगा देती जैसे आँधी पत्तों को उड़ा देती है। पर लैला से आँखें न मिलती थीं।

आख़िर वह अधीर होकर बोला—लैला, मैं राज-सेना को बुलाना चाहता हूँ।

लैला ने दीनता-पूर्ण नेत्रों से देखकर कहा—ज़रा ठहर जाइये, पहले इन लोगों से पूछिये कि चाहते क्या हैं।

यह आदेश पाते ही नादिर छत पर चढ़ गया, लैला भी उसके पीछे-पीछे ऊपर आ पहुँची। दोनों अब जनता के सम्मुख आकर खड़े हो गये। मशालों के प्रकाश में लोगों ने इन दोनों को छत पर खड़े देखा, मानो आकाश से देवता उतर आये हों। सहस्रों कण्ठों से ध्वनि निकली—वह खड़ी है, वह खड़ी है, लैला वह खड़ी है! यह वह जनता थी जो लैला के मधुर सङ्गीत पर मस्त हो जाया करती थी।

नादिर ने उच्च स्वर से विद्रोहियों को सम्बोधित किया—ऐ ईरान की बदनसीब रिआया! तुमने शाही महल को क्यों घेर रखा है? क्यों बग़ावत का झण्डा खड़ा किया है? क्या तुमको मेरा और अपने ख़ुदा का बिलकुल ख़ौफ़ नहीं? क्या तुम नहीं जानते कि मैं अपनी आँखों के एक इशारे से तुम्हारी हस्ती को ख़ाक में मिला सकता हूँ? मैं तुम्हें हुक्म देता हूँ कि एक लमहे के अन्दर यहाँ से चले जाओ, वरना कलामे-पाक की क़सम मैं तुम्हारे ख़ून की नदी बहा दूँगा!

एक आदमी ने, जो विद्रोहियों का नेता मालूम होता था, सामने आकर कहा—हम उस वक्त तक न जायेंगे, जब तक शाही महल लैला से ख़ाली न हो जायगा।

नादिर ने बिगड़कर कहा—ओ नाशुक्रो, ख़ुदा से डरो, तुम्हें अपनी मलका की शान में ऐसी बेअदबी करते हुए शर्म नहीं आती! जब से लैला तुम्हारी मलका हुई है, उसने तुम्हारे साथ कितनी रियायतें की हैं! क्या उन्हें तुम बिल्कुल भूल गये? ज़ालिमो, वह मलका है, पर

वही खाना खाती है, जो तुम कुत्तों को खिला देते हो, वही कपड़े पहनती है जो तुम फ़क़ीरों को दे देते हो। आकर महलसरा में देखो, तुम इसे अपने झोपड़ों ही की तरह तकल्लुफ़ और सजावट से ख़ाली पाओगे। लैला तुम्हारी मलका होकर भी फ़क़ीरों की ज़िन्दगी बसर करती है, तुम्हारी ख़िदमत में हमेशा मस्त रहती है। तुम्हें उसके क़दमों की ख़ाक माथे पर लगानी चाहिये, आँखों का सुरमा बनाना चाहिये। ईरान के तख़्त पर कभी ऐसी ग़रीबों पर जान देनेवाली, उनके दर्द में शरीक होनेवाली, ग़रीबों पर अपने को निसार करनेवाली मलका ने क़दम नहीं रखे, और उसकी शान में तुम ऐसी बेहूदा बातें करते हो! अफ़सोस! मुझे मालूम हो गया कि तुम जाहिल, इंसानियत से ख़ाली और कमीने हो! तुम इसी क़ाबिल हो कि तुम्हारी गरदनें कुन्द छुरी से काटी जायँ, तुम्हें पैरों तले रौंदा जाय...

नादिर ने बात भी पूरी न कर पाई थी कि विद्रोहियों ने एक स्वर से चिल्लाकर कहा—लैला, लैला हमारी दुश्मन है हम उसे अपनी मलका की सूरत में नहीं देख सकते।

नादिर ने ज़ोर से चिल्लाकर कहा—ज़ालिमो, ज़रा ख़ामोश हो जाओ, यह देखो वह फ़रमान है, जिस पर लैला ने अभी-अभी मुझसे ज़बरदस्ती दस्तख़त कराये हैं। आज से ग़ल्ले का महसूल घटाकर आधा कर दिया गया है और तुम्हारे सिर से महसूल का बोझ पाँच करोड़ कम हो गया है।

हज़ारों आदमियों ने शोर मचाया—यह महसूल बहुत पहले बिलकुल माफ़ हो जाना चाहिये था। हम एक कौड़ी नहीं दे सकते। लैला, लैला, हम उसे अपनी मलका की सूरत में नहीं देख सकते!

अब बादशाह क्रोध से काँपने लगा। लैला ने सजल-नेत्र होकर कहा—अगर रिआया की यही मरज़ी है कि मैं फिर डफ़ बजा-बजाकर गाती फिरूँ तो मुझे कोई उज्र नहीं, मुझे यक़ीन है कि मैं अपने गाने से एक बार फिर इनके दिलों पर हुकूमत कर सकती हूँ।

नादिर ने उत्तेजित होकर कहा—लैला, मैं रिआया की तुनक-

मिज़ाजियों का गुलाम नहीं। इससे पहले कि मैं तुम्हें अपने पहलू से जुदा करूँ, तेहरान की गलियाँ खून से लाल हो जायँगी। मैं इन बदमाशों को इनकी शरारत का मज़ा चखाता हूँ।

नादिर ने मीनार पर चढ़कर खतरे का घण्टा बजाया। सारे तेहरान में उसकी आवाज़ गूँज उठी, पर शाही फ़ौज का एक भी सिपाही न नजर आया।

नादिर ने दोबारा घण्टा बजाया, आकाश-मण्डल उसकी झङ्कार से कम्पित हो गया, तारागण काँप उठे, पर एक भी सैनिक न निकला।

नादिर ने तब तीसरी बार घण्टा बजाया, पर उसका भी उत्तर केवल एक क्षीण प्रतिध्वनि ने दिया, मानो किसी मरनेवाले की अन्तिम प्रार्थना के शब्द हों।

नादिर ने माथा पीट लिया। समझ गया कि बुरे दिन आ गये। अब भी लैला को जनता के दुराग्रह पर बलिदान करके वह अपनी राजसत्ता की रक्षा कर सकता था, पर लैला उसे प्राणों से प्रिय थी। उसने छत पर आकर लैला का हाथ पकड़ लिया और उसे लिये हुए सदर फाटक से निकला। विद्रोहियों ने एक विजय-ध्वनि के साथ उनका स्वागत किया, पर सबके सब किसी गुप्त प्रेरणा के वश रास्ते से हट गये।

दोनों चुपचाप तेहरान की गलियों में होते हुए चले जाते थे। चारों ओर अन्धकार था। दूकानें बन्द थीं। बाज़ारों में सन्नाटा छाया हुआ था। कोई घर से बाहर न निकलता था। फ़क़ीरों ने भी मसजिदों में पनाह ली थी। पर इन दोनों प्राणियों के लिए कोई आश्रय न था। नादिर की कमर में तलवार थी, लैला के हाथ में डफ़ था। यही उनके विशाल ऐश्वर्य का विलुप्त चिह्न था।

(७)

पूरा साल गुज़र गया। लैला और नादिर देश-विदेश की ख़ाक छानते फिरते थे। समरक़न्द और बुख़ारा, बग़दाद और हलब, काहरा और अदन, ये सारे देश उन्होंने छान डाले। लैला की डफ़ फिर जादू

करने लगी, उसकी आवाज़ सुनते ही शहर में हलचल मच जाती, आदमियों का मेला लग जाता, आव-भगत होने लगती। लेकिन ये दोनों यात्री कहीं एक दिन से अधिक न ठहरते थे। न किसी से कुछ माँगते, न किसी के द्वार पर जाते। केवल रूखा-सूखा भोजन कर लेते और कभी किसी वृक्ष के नीचे, कभी किसी पर्वत की गुफा में और कभी सड़क के किनारे रात काट देते थे। संसार के कठोर व्यवहार ने उन्हें विरक्त कर दिया था, उसके प्रलोभन से कोसों भागते थे। उन्हें अनुभव हो गया था कि यहाँ जिसके लिए प्राण अर्पण कर दो, वही अपना शत्रु हो जाता है; जिसके साथ भलाई करो, वही बुराई पर कमर बाँधता है; यहाँ किसी से दिल न लगाना चाहिये। उनके पास बड़े-बड़े रईसों के निमन्त्रण आते, उन्हें एक दिन अपना मेहमान बनाने के लिए लोग हज़ार मिन्नतें करते, पर लैला किसी की न सुनती थी। नादिर को अब तक कभी-कभी बादशाहत की सनक सवार हो जाती, वह चाहता कि गुप्त रूप से शक्ति-संग्रह करके तेहरान पर चढ़ जाऊँ और बाग़ियों को परास्त करके अखण्ड राज्य करूँ; पर लैला को उदासीनता देखकर उसे किसी से मिलने-जुलने का साहस न होता था। लैला उसकी प्राणेश्वरी थी, वह उसी के इशारों पर चलता था।

इधर ईरान में भी अराजकता फैली हुई थी। जनसत्ता से तङ्ग आकर रईसों ने भी फौजें जमा कर ली थीं और दोनों दलों में आये-दिन संग्राम होता रहता था। पूरा साल गुज़र गया और खेत न जुते, देश में भीषण अकाल पड़ा हुआ था; व्यापार शिथिल था, ख़ज़ाना ख़ाली। दिन-दिन जनता की शक्ति घटती जाती थी और रईसों का ज़ोर बढ़ता जाता था। आख़िर यहाँ तक नौबत पहुँची कि जनता ने हथियार डाल दिये और रईसों ने राज्य-भवन पर अपना अधिकार जमा लिया। प्रजा के नेताओं को फाँसी दे दी गई, कितने ही क़ैद कर लिये गये, और जनसत्ता का अन्त हो गया। शक्तिवादियों को अब नादिर की याद आई। यह बात अनुभव से सिद्ध हो गई थी कि देश में प्रजातन्त्र स्थापित करने की क्षमता का अभाव है। प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की

ज़रूरत न थी। इस अवसर पर राजसभा ही देश का उद्धार कर सकती थी। यह भी मानी हुई बात थी कि लैला और नादिर को जनसत्ता से विशेष प्रेम न होगा। वे सिंहासन पर बैठकर भी रईसों ही के हाथ में कठ-पुतली बने रहेंगे, और रईसों को प्रजा पर मनमाने अत्याचार करने का अवसर मिलेगा। अतएव आपस में लोगों ने सलाह की और प्रतिनिधि नादिर को मना लाने के लिए रवाना हुए।

(८)

सन्ध्या का समय था। लैला और नादिर दमिश्क में एक वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। आकाश पर लालिमा छाई हुई थी, और उससे मिली हुई पर्वतमालाओं की श्याम रेखा ऐसी मालूम हो रही थी मानो कमल दल मुरझा गया हो। लैला उल्लसित नेत्रों से प्रकृति की यह शोभा देख रही थी। नादिर मलिन और चिन्तित भाव से लेटा हुआ सामने के सुदूर प्रान्त की ओर तृषित नेत्रों से देख रहा था, मानो इस जीवन से तङ्ग आ गया हो।

सहसा बहुत दूर गर्द उड़ती हुई दिखाई दी, और एक क्षण में ऐसा मालूम हुआ कि कुछ आदमी घोड़ों पर सवार चले आ रहे हैं। नादिर उठ बैठा और ग़ौर से देखने लगा कि ये कौन आदमी हैं। अकस्मात् वह उठकर खड़ा हो गया। उसका मुख-मण्डल दीपक की भाँति चमक उठा, जर्जर शरीर में एक विचित्र स्फूर्ति दौड़ गई। वह उत्सुकता से बोला—लैला, ये तो ईरान के आदमी हैं, कलाम-पाक की क़सम, ये ईरान के आदमी हैं। इनके लिबास से साफ़ ज़ाहिर हो रहा है।

लैला ने भी उन यात्रियों की ओर देखा और सचिन्त होकर बोली—अपनी तलवार सँभाल लो, शायद उसकी ज़रूरत पड़े।

नादिर—नहीं लैला, ईरान के लोग इतने कमीने नहीं हैं कि अपने बादशाह पर तलवार उठावें।

लैला—पहले मैं भी यही समझती थी।

सवारों ने समीप आकर घोड़े रोक लिये और उतरकर बड़े अदब से नादिर को सलाम किया। नादिर बहुत ज़ब्त करने पर भी अपने

मनोवेग को न रोक सका, दौड़कर उनके गले से लिपट गया। वह अब बादशाह न था, ईरान का एक मुसाफ़िर था। बादशाहत मिट गई थी, पर ईरानियत रोम-रोम में भरी हुई थी। वे तीनो आदमी इस समय ईरान के विधाता थे। इन्हें वह ख़ूब पहचानता था। उनकी स्वामि-भक्ति की कई बार परीक्षा ले चुका था। उन्हें लाकर अपने बोरिये पर बैठाना चाहा, लेकिन वे ज़मीन ही पर बैठे। उनकी दृष्टि में वह बोरिया इस समय सिंहासन था जिस पर अपने स्वामी के सम्मुख वे क़दम न रख सकते थे। बातें होने लगीं। ईरान की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। लूटमार का बाज़ार गर्म था, न कोई व्यवस्था थी न व्यवस्थापक थे। अगर यही दशा रही तो शायद बहुत जल्द उसकी गरदन में पराधीनता का जुआ पड़ जाय। देश अब नादिर को ढूँढ़ रहा था। उसके सिवा कोई दूसरा उस डूबते हुए बेड़े को पार न लगा सकता था। इसी आशा से ये लोग उसके पास आये थे।

नादिर ने विरक्त भाव से कहा—एक बार इज्ज़त ली, क्या अबकी जान लेने की सोची है? मैं बड़े आराम से हूँ। आप मुझे दिक़ न करें।

सरदारों ने आग्रह करना शुरू किया—हम हुज़ूर का दामन न छोड़ेंगे, यहीं अपनी गरदनों पर छुरी फेरकर हुज़ूर के क़दमों पर जान दे देंगे। जिन बदमाशों ने आपको परेशान किया था, अब उनका कहीं निशान भी नहीं रहा, हम लोग उन्हें फिर कभी सिर न उठाने देंगे, सिर्फ़ हुज़ूर की आड़ चाहिये।

नादिर ये बात काटकर कहा—साहबो, अगर आप मुझे इस इरादे से ईरान का बादशाह बनाना चाहते हैं, तो माफ़ रखिये। मैंने इस सफ़र में रिआया की हालत का ग़ौर से मुलाहज़ा किया है, और इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि सभी मुल्कों में उनकी हालत ख़राब है। वे रहम के क़ाबिल हैं। ईरान में मुझे कभी ऐसे मौक़े न मिले थे। मैं रिआया को अपने दरबारियों की आँखों से देखता था। मुझसे आप लोग यह उम्मीद न रखें कि रिआया को लूटकर आपकी जेबें भरूँगा। यह अज़ाब अपनी गरदन पर नहीं ले सकता। मैं इन्साफ़ का मीज़ान

बराबर रक्खूँगा और इसी शर्त पर ईरान चल सकता हूँ।

लैला ने मुसकराकर कहा—तुम रिआया का क़ुसूर माफ़ कर सकते हो, क्योंकि उसकी तुमसे कोई दुश्मनी न थी। उसके दाँत तो मुझ पर थे। मैं उसे कैसे माफ़ कर सकती हूँ।

नादिर ने गम्भीर भाव से कहा—लैला, मुझे यक़ीन नहीं आता कि तुम्हारे मुँह से ऐसी बातें सुन रहा हूँ।

लोगों ने समझा, अभी इन्हें भड़काने की ज़रूरत ही क्या है। ईरान में चलकर देखा जायगा। दो चार मुख़बिरों से रिआया के नाम पर ऐसे उपद्रव खड़े करा देंगे कि इनके ये सारे ख़याल पलट जायँगे। एक सरदार ने अर्ज़ की—मआज़अल्लाह! हुज़ूर यह क्या फ़रमाते हैं? क्या हम इतने नादान हैं कि हुज़ूर को इन्साफ़ के रास्ते से हटाना चाहेंगे? इन्साफ़ ही बादशाह का जौहर है और हमारी दिली आरज़ू है कि आपका इंसाफ़ नौशेरवाँ को भी शर्मिन्दा कर दे। हमारी मंशा सिर्फ़ यह थी कि आइन्दा से हम रिआया को कभी ऐसा मौक़ा न देंगे कि वह हुज़ूर की शान में बेअदबी कर सके। हम अपनी जानें हुज़ूर पर निसार करने के लिए हाज़िर रहेंगे।

सहसा ऐसा मालूम हुआ कि सारी प्रकृति सङ्गीतमय हो गई है। पर्वत और वृक्ष, तारे और चाँद, वायु और, जल, सभी एक स्वर से गाने लगे, चाँदनी की निर्मल छटा में, वायु के नीरव प्रवाह में सङ्गीत की तरंग उठने लगीं। लैला अपना डफ़ बजा-बजाकर गा रही थी। आज मालूम हुआ, ध्वनि ही सृष्टि का मूल है। पर्वतों पर देवियाँ निकल-निकलकर नाचने लगीं, आकाश पर देवता नृत्य करने लगे। सङ्गीत ने एक नया संसार रच डाला।

उस दिन से जब कि प्रजा ने राजभवन के द्वार पर उपद्रव मचाया था और लैला के निर्वासन पर आग्रह किया था, लैला के विचारों में क्रान्ति हो गई थी। जन्म ही से उसने जनता के साथ सहानुभूति करना सीखा था। वह राजकर्मचारियों को प्रजा पर अत्याचार करते देखती थी और उसका कोमल हृदय तड़प उठता था। तब

धन, ऐश्वर्य और विलास से उसे घृणा होने लगती थी, जिसके कारण प्रजा को इतने कष्ट भोगने पड़ते हैं। वह अपने में किसी ऐसी शक्ति का आह्वान करना चाहती थी जो आततायियों के हृदय में दया और प्रजा के हृदय में अभय का सञ्चार करे। उसकी बाल-कल्पना उसे एक सिंहासन पर बिठा देती, जहाँ वह अपनी न्याय नीति से संसार में युगान्तर उपस्थित कर देती। कितनी ही रातें उसने यही स्वप्न देखने में काटी थीं। कितनी ही बार वह अन्याय-पीड़ितों के सिरहाने बैठकर रोई थी। लेकिन जब एक दिन ऐसा आया कि उसके स्वर्ण स्वप्न आंशिक रीति से पूरे होने लगे, तब उसे एक नया और कठोर अनुभव हुआ। उसने देखा कि प्रजा इतनी सहनशील, इतनी दीन और दुर्बल नहीं है, जितना वह समझती थी। इसकी अपेक्षा उसमें ओछेपन, अवि-चार और अशिष्टता की मात्रा कहीं अधिक है। वह सद्व्यवहार की क़द्र करना नहीं जानती, शक्ति पाकर उसका सदुपयोग नहीं कर सकती। उसी दिन से उसका दिल जनता से फिर गया था।

जिस दिन नादिर और लैला ने फिर तेहरान में पदार्पण किया सारा नगर उनका अभिवादन करने के लिए निकल पड़ा। शहर पर आतङ्क छाया हुआ था, चारों ओर से करुण रोदन की ध्वनि सुनाई देती थी। अमीरों के मुहल्लों में श्री लोटती फिरती थी, ग़रीबों के मुहल्ले उजड़े हुए थे, उन्हें देखकर कलेजा फट जाता था। नादिर रो पड़ा, लेकिन लैला के ओठों पर निष्ठुर, निर्दय हास्य अपनी छटा दिखा रहा था।

नादिर के सामने अब एक विकट समस्या थी। वह नित्य देखता कि मैं जो करना चाहता हूँ, वह नहीं होता और जो नहीं करना चाहता, वही होता है, और इसका कारण लैला है, पर कुछ कह न सकता था। लैला उसके हर एक काम में हस्तक्षेप करती रहती थी। वह जनता के उपकार और उद्धार के लिए जो विधान करता, लैला उसमें कोई न कोई विघ्न अवश्य डाल देती, और उसे चुप रह जाने के सिवा और कुछ न सूझता। लैला के लिए उसने एक बार राज्य का त्याग कर दिया था। तब आपत्ति-काल ने लैला की परीक्षा न की थी। इतने

दिनों की विपत्ति में उसे लैला के चरित्र का जो अनुभव प्राप्त हुआ था, वह इतना सुखद, इतना मनोहर, इतना सरस था कि वह लैला-मय हो गया था। लैला ही उसका स्वर्ग थी, उसके प्रेम में रत रहना ही उसकी परम अभिलाषा थी। इस लैला के लिए वह अब क्या कुछ न कर सकता था? प्रजा की और साम्राज्य की उसके सामने क्या हस्ती थी!

इस भाँति तीन साल बीत गये, प्रजा की दशा दिन-दिन बिगड़ती ही गई।

(६)

एक दिन नादिर शिकार खेलने गया और साथियों से अलग होकर जङ्गल में भटकता फिरा, यहाँ तक कि रात हो गई और साथियों का पता न चला। घर लौटने का भी रास्ता न जानता था। आख़िर, ख़ुदा का नाम लेकर एक तरफ़ चला कि कहीं तो कोई गाँव या बस्ती का निशान मिलेगा। वहाँ रात-भर पड़ा रहूँगा। सवेरे लौट जाऊँगा। चलते-चलते जंगल के दूसरे सिरे पर उसे एक गाँव नज़र आया, जिसमें मुश्किल से तीन-चार घर होंगे। हाँ, एक मसजिद अलबत्ता बनी हुई थी। मसजिद में एक दीपक टिमटिमा रहा था, पर किसी आदमी या आदमज़ाद का निशान न था। आधी रात से ज़्यादा बीत चुकी थी, इसलिए किसी को कष्ट देना भी उचित न था। नादिर ने घोड़े को एक पेड़ से बाँध दिया और उसी मसजिद में रात काटने की ठानी। वहाँ एक फटी सी चटाई पड़ी हुई थी। उसी पर लेट गया। दिन भर का थका था, लेटते ही नींद आ गई। मालूम नहीं वह कितनी देर तक सोता रहा, पर किसी की आहट पाकर चौंका तो क्या देखता है कि एक बूढ़ा आदमी बैठा नमाज़ पढ़ रहा है। नादिर को आश्चर्य हुआ कि इतनी रात गये कौन नमाज़ पढ़ रहा है। उसे यह ख़बर ही न थी कि रात गुज़र गई और यह फ़जर की नमाज़ है। वह पड़ा-पड़ा देखता रहा। वृद्ध पुरुष ने नमाज़ अदा की, फिर वह छाती के सामने अंजलि फैलाकर ख़ुदा से दुआ माँगने लगा। दुआ

के शब्द सुनकर नादिर का ख़ून सर्द हो गया। वह दुआ उसके राज्य-काल की ऐसी तीव्र, ऐसी वास्तविक, ऐसी शिक्षाप्रद आलोचना थी, जो आज तक किसी ने न की थी। उसे अपने जीवन में अपना अपयश सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। वह यह तो जानता था कि मेरा शासन आदर्श नहीं है, लेकिन उसने कभी यह कल्पना न की थी कि प्रजा की विपत्ति इतनी असह्य हो गई है। दुआ यह थी—

'ऐ ख़ुदा, तू ही ग़रीबों का मददगार और बेकसों का सहारा है। तू इस ज़ालिम बादशाह के ज़ुल्म देखता है और तेरा क़हर उस पर नहीं गिरता। यह बेदीन काफ़िर एक हसीन औरत की मुहब्बत में अपने को इतना भूल गया है कि न आँखों से देखता है, न कानों से सुनता है। अगर देखता है तो उसी औरत की आँखों से, सुनता है तो उसी औरत के कानों से। अब यह मुसीबत नहीं सही जाती। या तो तू उस ज़ालिम को जहन्नुम को पहुँचा दे या, हम बेकसों को दुनिया से उठा ले। ईरान उसके ज़ुल्म से तंग आ गया है और तू ही उसके सिर से इस बला को टाल सकता है।'

बूढ़े ने तो अपनी छड़ी सँभाली और चलता हुआ, लेकिन नादिर मृतक की भाँति वहीं पड़ा रहा, मानो उस पर बिजली गिर पड़ी हो।

(१०)

एक सप्ताह तक नादिर दरबार में न आया, न किसी कर्मचारी को अपने पास आने की आज्ञा दी। दिन के दिन अन्दर पड़ा सोचा करता कि क्या करूँ। नाम-मात्र को कुछ खा लेता। लैला बार-बार उसके पास जाती और कभी उसका सिर अपनी जाँघ पर रखकर, कभी उसके गले में बाहें डालकर पूछती—तुम क्यों इतने उदास और मलिन हो? नादिर उसे देखकर रोने लगता, पर मुँह से कुछ न कहता। यश या लैला, यही उसके सामने कठिन समस्या थी। उसके हृदय में भीषण द्वन्द्व मचा रहता और वह कुछ निश्चय न कर सकता था। यश प्यारा था, पर लैला उससे भी प्यारी थी। वह बदनाम होकर ज़िन्दा रह सकता था, पर लैला के बिना वह जीवन की कल्पना ही न कर

सकता था। लैला उसके रोम-रोम में व्याप्त थी।

अन्त को उसने निश्चय कर लिया—लैला मेरी है, मैं लैला का हूँ। न मैं उससे अलग, न वह मुझसे जुदा। जो कुछ वह करती है मेरा है, जो कुछ मैं करता हूँ उसका है। यहाँ मेरा और तेरा का भेद ही कहाँ? बादशाहत नश्वर है, प्रेम अमर। हम अनन्त-काल तक एक दूसरे के पहलू में बैठे हुए स्वर्ग के सुख भोगेंगे, हमारा प्रेम अनन्त काल तक आकाश में तारे की भाँति चमकेगा।

नादिर प्रसन्न होकर उठा। उसका मुख-मण्डल विजय की लालिमा से रञ्जित हो रहा था। आँखों से शौर्य टपका पड़ता था। वह लैला के प्रेम का प्याला पीने जा रहा था, जिसे एक सप्ताह से उसने मुँह नहीं लगाया था। उसका हृदय उसी उमंग से उछला पड़ता था, जो आज से पाँच साल पहले उठा करती थी। प्रेम का फूल कभी नहीं मुरझाता, प्रेम की नदी कभी नहीं उतरती।

लेकिन लैला की आरामगाह के द्वार बन्द थे और उसका डफ़, जो द्वार पर नित्य एक खूँटी से लटका रहता था, ग़ायब था। नादिर का कलेजा सन्न से हो गया। द्वार बन्द रहने का आशय तो यह हो सकता था कि लैला बाग़ में होगी, लेकिन डफ़ कहाँ गया। सम्भव है, वह डफ़ लेकर बाग़ में गई हो, लेकिन यह उदासी क्यों छाई है? यह हसरत क्यों बरस रही है?

नादिर ने काँपते हुए हाथों से द्वार खोल दिया। लैला अन्दर न थी। पलंग बिछा हुआ था, शमा जल रही थी, वजू का पानी रखा हुआ था! नादिर के पाँव थर्राने लगे। क्या लैला रात को भी नहीं सोई? कमरे की एक-एक वस्तु में लैला की याद थी, उसकी तसवीर थी, उसकी महक थी, लेकिन लैला न थी। मकान सूना मालूम होता था, जैसे ज्योति-हीन नेत्र।

नादिर का दिल भर आया। उसकी हिम्मत न पड़ी कि किसी से कुछ पूछे। हृदय इतना कातर हो गया कि हतबुद्धि की भाँति वहीं फ़र्श पर बैठकर बिलख-बिलख रोने लगा। जब ज़रा आँसू थमे,

तब उसने बिस्तर को सूँघा कि शायद लैला के स्पर्श की कुछ गंध आये, लेकिन खस और गुलाब की महक के सिवा और कोई सुगन्ध न थी।

सहसा उसे तकिए के नीचे से बाहर निकला हुआ एक काग़ज़ का पुर्ज़ा दिखाई दिया। उसने एक हाथ से कलेजे को सँभालकर पुर्ज़ा निकाल लिया, और सहमी हुई आँखों से उसे देखा। एक निगाह में सब कुछ मालूम हो गया। यह नादिर की क़िस्मत का फ़ैसला था। नादिर के मुँह से निकला, हाय लैला! और वह मूर्छित होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। लैला ने पुर्ज़े में लिखा था—'मेरे प्यारे नादिर, तुम्हारी लैला तुमसे जुदा होती है—हमेशा के लिए। मेरी तलाश मत करना, तुम मेरा सुराग़ न पाओगे। मैं तुम्हारी मुहब्बत की लौंडी थी, तुम्हारी बादशाहत की भूखी नहीं। आज एक हफ़्ते से देख रही हूँ, तुम्हारी निगाह फिरी हुई है। तुम मुझसे नहीं बोलते, मेरी तरफ़ आँख उठाकर नहीं देखते। मुझसे बेज़ार रहते हो। मैं किन-किन अरमानों से तुम्हारे पास जाती हूँ और कितनी मायूस होकर लौटती हूँ, इसका तुम अन्दाज़ नहीं कर सकते। मैंने इस सज़ा के लायक़ कोई काम नहीं किया। मैंने जो कुछ किया है, तुम्हारी ही भलाई के ख़याल से। एक हफ़्ता मुझे रोते गुज़र गया। मुझे मालूम हो रहा है कि अब मैं तुम्हारी नज़रों से गिर गई, तुम्हारे दिल से निकाल दी गई। आह! ये पाँच साल हमेशा याद रहेंगे, हमेशा तड़पाते रहेंगे! यही डफ़ लेकर आई थी, वही लेकर जाती हूँ; पाँच साल मुहब्बत के मज़े उठाकर ज़िन्दगी भर के लिए हसरत का दाग़ लिये जाती हूँ। लैला मुहब्बत की लौंडी थी, जब मुहब्बत न रही, तब लैला क्योंकर रहती? रुख़सत!'

मुक्तिधन

(१)

भारतवर्ष में जितने व्यवसाय हैं, उन सबमें लेन-देन का व्यवसाय सबसे लाभदायक है। आम तौर पर सूद की दर २५) सैकड़ा सालाना

है। प्रचुर स्थावर या जंगम संपत्ति पर १२) सैकड़ा सालाना सूद लिया जाता है : इससे कम व्याज पर रुपया मिलना प्रायः असंभव है। बहुत कम ऐसे व्यवसाय हैं, जिनमें १५ सैकड़े से अधिक लाभ हो और वह भी बिना किसी झंझट के। उस पर नज़राने की रक़म अलग, लिखाई अलग, दलाली अलग, अदालत का ख़र्चा अलग। ये सब रक़में भी किसी-न-किसी तरह महाजन ही की जेब में जाता हैं। यही कारण है कि यहाँ लेन-देन का धन्धा इतनी तरक़्क़ी पर है। वकील, डॉक्टर, सरकारी कर्मचारी, ज़मींदार, कोई भी जिसके पास कुछ फ़ालतू धन हो, यह व्यवसाय कर सकता है। अपनी पूँजी के सदुपयोग का यह सर्वोत्तम साधन है। लाला दाऊदयाल भी इसी श्रेणी के महाजन थे। वह कचहरी में मुख़्तारगिरी करते थे, और जो कुछ बचत होती थी, उसे २५-३० रुपए सैकड़ा वार्षिक व्याज पर उठा देते थे। उनका व्यवहार अधिकतर निम्न श्रेणी के मनुष्यों से ही रहता था। उच्च वर्ण-वालों से वह चौंकते रहते थे, उन्हें अपने यहाँ फटकने ही न देते थे। उनका कहना था (और प्रत्येक व्यवसायी पुरुष उसका समर्थन करता है) कि ब्राह्मण, क्षत्रिय या कायस्थ को रुपए देने से यह कहीं अच्छा है कि रुपया कुएँ में डाल दिया जाय। इनके पास रुपए लेते समय तो अतुल संपत्ति होती है, लेकिन रुपए हाथ में आते ही वह सारी संपत्ति ग़ायब हो जाती है। उस पर पत्नी, पुत्र या भाई का अधिकार हो जाता है। अथवा यह प्रकट होता है कि उस संपत्ति का अस्तित्व ही न था। इनकी क़ानूनी व्यवस्थाओं के सामने बड़े-बड़े नीति-शास्त्र के विद्वान् भी मुँह की खा जाते हैं।

लाला दाऊदयाल एक दिन कचहरी से घर आ रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक विचित्र घटना देखी। एक मुसलमान खड़ा अपनी गऊ बेच रहा था, और कई आदमी उसे घेरे खड़े थे। कोई उसके हाथ में रुपए रखे देता था, कोई उसके हाथ से गऊ की पगहिया छीनने की चेष्टा करता था; किंतु वह ग़रीब मुसलमान एक बार उन ग्राहकों के मुँह की ओर देखता था, और कुछ सोचकर पगहिया को और भी मज़-

बूत पकड़ लेता था। गऊ मोहिनी-रूप थी। छोटी-सी गरदन, भारी पुट्ठे और दूध से भरे हुए थन थे। पास ही एक सुन्दर, बलिष्ट बछड़ा गऊ की गर्दन से लगा हुआ खड़ा था। मुसलमान बहुत क्षुब्ध और दुखी मालूम होता था। वह करुण नेत्रों से गऊ की ओर देखता और दिल में मसोसकर रह जाता था। दाऊदयाल गऊ को देखकर रीझ गये। पूछा—क्यों जी, यह गऊ बेचते हो? क्या नाम है तुम्हारा?

मुसलमान ने दाऊदयाल को देखा, तो प्रसन्न मुख उनके समीप जाकर बोला—हाँ हजूर बेचता हूँ।

दाऊ०—कहाँ से लाये हो? तुम्हारा नाम क्या है?

मुस०—नाम तो है रहमान। पचौली में रहता हूँ।

दाऊ०—दूध देती है?

मुस०—हाँ हजूर, एक वेला में तीन सेर दुह लीजिये। अभी दूसरा ही तो बेत है। सीधी इतनी है कि बच्चा भी दुह ले। बच्चे पैर के पास खेलते रहते हैं, पर क्या मजाल कि सिर भी हिलावे।

दाऊ०—कोई तुम्हें यहाँ पहचानता है?

मुख्तार साहब को शुबहा हुआ कि कहीं चोरी का माल न हो।

मुस०—नहीं हजूर, गरीब आदमी हूँ, मेरी किसी से जान-पहचान नहीं है।

दाऊ०—क्या दाम माँगते हो?

रहमान ने ५०) बतलाये। मुख्तार साहब को ३०) का माल जँचा। कुछ देर तक दोनों ओर से मोल-भाव होता रहा। एक को रुपयों की ग़रज़ थी, और दूसरे को गऊ की चाह। सौदा पटने में कोई कठिनाई न हुई। ३५) पर सौदा तय हो गया।

रहमान ने सौदा तो चुका लिया, पर अब भी वह मोह के बन्धन में पड़ा हुआ था। कुछ देर तक सोच में डूबा खड़ा रहा, फिर गऊ को लिये मन्द गति से दाऊदयाल के पीछे-पीछे चला। तब एक आदमी ने कहा—अबे हम ३६) देते हैं। हमारे साथ चल।

रहमान—नहीं देते तुम्हें; क्या कुछ जबरजस्ती है?

दूसरे आदमी ने कहा—हमसे ४०) ले ले, अब तो खुश हुआ ?

यह कहकर उसने रहमान के हाथ से गाय को ले लेना चाहा ; मगर रहमान ने हामी न भरी, आखिर उन सबने निराश होकर अपनी राह ली।

रहमान जब ज़रा दूर निकल आया, तो दाऊदयाल से बोला—हजूर, आप हिन्दू हैं, इसे लेकर आप पालेंगे, इसकी सेवा करेंगे। ये सब कसाई हैं ; इनके हाथ में ५०) को भी कभी न बेचता। आप बड़े मौक़े से आ गये, नहीं तो ये सब जबरजस्ती गऊ को छीन ले जाते। बड़ी बिपत में पड़ गया हूँ सरकार, तब यह गाय बेचने निकला हूँ। नहीं तो इस घर की लछमी को कभी न बेचता। इसे अपने हाथों से पाला-पोसा है। कसाइयों के हाथ कैसे बेच देता ? सरकार इसे जितनी ही खली देंगे, उतना ही यह दूध देगी। भैंस का दूध भी इतना मीठा और गाढ़ा नहीं होता। हजूर से एक अरज और है, अपने चरवाहे को डाँट दीजियेगा कि इसे मारे-पीटे नहीं।

दाऊदयाल ने चकित होकर रहमान की ओर देखा। भगवन् ! इस श्रेणी के मनुष्य में भी इतना सौजन्य, इतनी सहृदयता है ! यहाँ तो बड़े-बड़े तिलक-त्रिपुंडधारी महात्मा क़साइयों के हाथ गउएँ बेच जाते हैं ; एक पैसे का घाटा भी नहीं उठाना चाहते। और यह ग़रीब ५) का घाटा सहकर इसलिए मेरे हाथ गऊ बेच रहा है कि यह किसी क़साई के हाथ न पड़ जाय। ग़रीबों में भी इतनी समझ हो सकती है !

उन्होंने घर आकर रहमान को रुपए दिये। रहमान ने रुपए गाँठ में बाँधे, एक बार फिर गऊ को प्रेम-भरी आँखों से देखा, और दाऊदयाल को सलाम करके चला गया।

रहमान एक ग़रीब किसान था, और ग़रीब के सभी दुश्मन होते हैं। ज़मींदार ने इज़ाफ़ा-लगान का दावा दायर किया था। उसी की जवाबदेही करने के लिए रुपयों की ज़रूरत थी। घर में बैलों के सिवा और कोई संपत्ति न थी। वह इस गऊ को प्राणों से भी प्रिय समझता था। पर रुपयों की कोई तदबीर न हो सकी, तो विवश होकर गाय बेचनी पड़ी।

(२)

पचौली में मुसलमानों के कई घर थे। अबकी कई साल के बाद हज का रास्ता खुला था। पाश्चात्य महासमर के दिनों में राह बन्द थी। गाँव के कितने ही स्त्री-पुरुष हज करने चले। रहमान की बूढ़ी माता भी हज के लिए तैयार हुई। रहमान से बोली—बेटा, इतना सवाब करो। बस, मेरे दिल में यही एक अरमान बाक़ी है। इस अर-मान को लिये हुए क्यों दुनिया से जाऊँ। ख़ुदा तुमको इस नेकी की जज़ा (फल) देगा। मातृभक्ति ग्रामीणों का विशिष्ट गुण है। रहमान के पास इतने रुपए कहाँ थे कि हज के लिए काफ़ी होते। पर माता की आज्ञा कैसे टालता? सोचने लगा, किसी से उधार ले लूँ। कुछ अबकी ऊख पेरकर दे दूँगा, कुछ अगले साल चुका दूँगा। अल्लाह के फ़ज़ल से ऊख ऐसी हुई है कि कभी न हुई थी। यह मा की दुआ ही का तो फल है। मगर किससे लूँ? कम से कम २००) हों, तो काम चले। किसी महाजन से जान-पहचान भी तो नहीं है। यहाँ जो दो-एक बनिये लेन देन करते हैं, वे तो असामियों की गरदन ही रेतते हैं। चलूँ, लाला दाऊदयाल के पास। इन सबसे तो वही अच्छे हैं। सुना है, वादे पर रुपए लेते हैं, किसी तरह नहीं छोड़ते, लोनी चाहे दीवार को छोड़ दे, दीमक चाहे लकड़ी को छोड़ दे, पर वादे पर रुपए न मिले, तो वह असामियों को नहीं छोड़ते। बात पीछे करते हैं, नालिश पहले। हाँ, इतना है कि असामियों की आँख में धूल नहीं झोंकते, हिसाब-किताब साफ़ रखते हैं। कई दिन वह इसी सोच-विचार में पड़ा रहा कि उनके पास जाऊँ या न जाऊँ। अगर कहीं वादे पर रुपए न पहुँचे, तो? बिना नालिश किये न मानेंगे, घर-बार, बैल-बधिया, सब नीलाम करा लेंगे। लेकिन जब कोई वश न चला, तो हारकर दाऊदयाल के ही पास गया, और रुपए क़र्ज़ माँगे।

दाऊ०—तुम्हीं ने तो मेरे हाथ गऊ बेची थी न?

रहमान—हाँ हजूर।

दाऊ०—रुपए तो तुम्हें दे दूँगा, लेकिन मैं वादे पर रुपए लेता

हूँ। अगर वादा पूरा न किया, तो तुम जानो। फिर मैं ज़रा भी रिआयत न करूँगा। बताओ, कब दोगे?

रहमान ने मन में हिसाब लगाकर कहा—सरकार, दो साल की मियाद रख लें।

दाऊ०—अगर दो साल में न दोगे, तो ब्याज की दर ३२) सैकड़े हो जायगी। तुम्हारे साथ इतनी मुरौवत करूँगा कि नालिश न करूँगा।

रहमान—जो चाहे कीजियेगा। हजूर के हाथ में ही तो हूँ।

रहमान को २००) के १८०) मिले। कुछ लिखाई कट गई, कुछ नज़राना निकल गया, कुछ दलाली में गया। घर आया, थोड़ा-सा गुड़ रखा हुआ था, उसे बेचा, और स्त्री को समझा-बुझाकर माता के साथ हज को चला।

(३)

मियाद गुज़र जाने पर लाला दाऊदयाल ने तक़ाज़ा किया। एक आदमी रहमान के घर भेजकर उसे बुलाया, और कठोर स्वर से बोले—क्या अभी दो साल नहीं पूरे हुए? लाओ रुपए कहाँ हैं?

रहमान ने बड़े दीन भाव से कहा—हजूर, बड़ी गर्दिस में हूँ। अम्मा जब से हज करके आई हैं, तभी से बीमार पड़ी हुई हैं। रात-दिन उन्हीं की दवा-दारू में दौड़ते गुज़रता है। जब तक जीती हैं हजूर, कुछ सेवा कर लूँ, पेट का धन्धा तो ज़िन्दगी-भर लगा रहेगा। अबकी कुछ फसिल नहीं हुई हजूर। ऊख पानी बिना सूख गई। सन खेत में पड़े-पड़े सूख गया। ढोने की मुहलत न मिली। रबी के लिए खेत न जोत सका, परती पड़े हुए हैं। अल्लाह ही जानता है, किस मुसीबत से दिन कट रहे हैं। हजूर के रुपए कौड़ी-कौड़ी अदा करूँगा, साल-भर की और मुहलत दीजिये। अम्मा अच्छी हुई, और मेरे सिर से बला टली।

दाऊदयाल ने कहा—३२) सैकड़े ब्याज हो जायगा।

रहमान ने जवाब दिया—जैसी हजूर की मरज़ी।

रहमान यह वादा करके घर आया, तो देखा मा का अन्तिम समय

आ पहुँचा है, प्राण-पीड़ा हो रही है। दर्शन बदे थे, सो हो गये। मा ने बेटे को एक बार वात्सल्य-दृष्टि से देखा, आशीर्वाद दिया, और परलोक सिधारी। रहमान अब तक गरदन तक पानी में था, अब पानी सिर पर आ गया।

उस वक्त तो पड़ोसियों से कुछ उधार लेकर दफ़न-कफ़न का प्रबन्ध किया, किन्तु मृत आत्मा की शान्ति और परितोष के लिए ज़कात और फ़ातिहे की ज़रूरत थी, क़ब्र बनवानी ज़रूरी थी, बिरादरी का खाना, ग़रीबों को ख़ैरात, क़ुरान की तलावत, और ऐसे कितने ही संस्कार करने परमावश्यक थे।

मातृसेवा का इसके सिवा अब और कौन-सा अवसर हाथ आ सकता था। माता के प्रति समस्त सांसारिक और धार्मिक कर्तव्यों का अन्त हो रहा था। फिर तो माता की स्मृति मात्र रह जायगी, संकट के समय फ़रियाद सुनाने के लिए! मुझे ख़ुदा ने सामर्थ्य दी होती, तो इस वक्त क्या कुछ न करता। लेकिन अब क्या अपने पड़ोसियों से भी गया-गुज़रा हूँ!

उसने सोचना शुरू किया, रुपए लाऊँ कहाँ से? अब तो लाला दाऊदयाल भी न देंगे। एक बार उनके पास जाकर देखूँ तो सही, कौन जाने, मेरी विपत्ति का हाल सुनकर उन्हें दया आ जाय। बड़े आदमी हैं, कृपा दृष्टि हो गई, तो सौ दो सौ उनके लिए कौन बड़ी बात है।

इस भाँति मन में सोच विचार करता हुआ वह लाला दाऊदयाल के पास चला। रास्ते में एक-एक क़दम मुश्किल से उठता था। कौन मुँह लेकर जाऊँ? अभी तीन ही दिन हुए हैं, साल-भर में पिछले रुपए अदा करने का वादा करके आया हूँ। अब जो २००) और माँगूँगा, तो वह क्या कहेंगे? मैं ही उनकी जगह पर होता, तो कभी न देता। उन्हें ज़रूर सन्देह होगा कि यह आदमी नीयत का बुरा है। कहीं दुत्कार दिया, घुड़कियाँ दीं, तो? पूछें, तेरे पास ऐसी कौन-सी बड़ी जायदाद है, जिस पर रुपए की थैली दे दूँ, तो क्या जवाब दूँगा? जो कुछ जायदाद है, वह यही दोनों हाथ हैं। इसके सिवा यहाँ क्या

है ? घर को कोई सेंत भी न पूछेगा। खेत हैं, सो ज़मींदार के, उन पर अपना कोई क़ाबू ही नहीं। बेकार जा रहा हूँ। वहाँ धक्के खाकर निकलना पड़ेगा, रही-सही आबरू भी मिट्टी में मिल जायगी।

परन्तु इन निराशाजनक शंकाओं के होने पर भी वह धीरे-धीरे आगे बढ़ा चला जाता था, जैसे कोई अनाथ विधवा थाने में फ़रियाद करने जा रही हो।

लाला दाऊदयाल कचहरी से आकर अपने स्वभाव के अनुसार नौकरों पर बिगड़ रहे थे—द्वार पर पानी क्यों नहीं छिड़का, बरामदे में कुर्सियाँ क्यों नहीं निकाल रखीं ? इतने में रहमान सामने जाकर खड़ा हो गया।

लाला साहब झल्लाये तो बैठे ही थे, रुष्ट होकर बोले—तुम क्या करने आये हो जी ? क्यों मेरे पीछे पड़े हो ? मुझे इस वक्त बातचीत करने की फ़ुरसत नहीं है।

रहमान कुछ न बोल सका। यह डाँट सुनकर इतना हताश हुआ कि उलटे पैरों लौट पड़ा। हुई न वही बात ! यही सुनने तो मैं आया था ! मेरी अक़्ल पर पत्थर पड़ गये थे !

दाऊदयाल को कुछ दया आ गई। जब रहमान बरामदे से नीचे उतर गया, तो बुलाया, ज़रा नर्म होकर बोले—कैसे आये थे जी, क्या कुछ काम था ?

रहमान—नहीं सरकार, योंही सलाम करने चला आया था।

दाऊ०—एक कहावत है—'सलामे रोस्ताई बेग़रज़ नेस्त'—किसान बिना मतलब के सलाम नहीं करता। क्या मतलब है, कहो ?

रहमान फूट-फूटकर रोने लगा। दाऊदयाल ने अटकल से समझ लिया, इसकी मा मर गई। पूछा—क्यों रहमान, तुम्हारी मा सिधार तो नहीं गई ?

रहमान—हाँ हजूर, आज तीसरा दिन है।

दाऊ०—रो न, रोने से क्या फ़ायदा ? सब्र करो, ईश्वर को जो मंजूर था, वह हुआ। ऐसी मौत पर ग़म न करना चाहिये। तुम्हारे

हाथों उनकी मिट्टी ठिकाने लग गई। अब और क्या चाहिये ?

रहमान—हुजूर, कुछ अरज करने आया हूँ, मगर हिम्मत नहीं पड़ती। अभी पिछला ही पड़ा हुआ है, अब और किस मुँह से माँगूँ ? लेकिन अल्लाह जानता है, कहीं से एक पैसा मिलने की उम्मेद नहीं, और काम ऐसा आ पड़ा है कि अगर न करूँ, तो जिन्दगी-भर पछतावा रहेगा। आपसे कुछ कह नहीं सकता। आगे आप मालिक हैं। यह समझकर दीजिये कि कुएँ में डाल रहा हूँ। जिन्दा रहूँगा, तो एक-एक कौड़ी मय सूद के अदा कर दूँगा। मगर इस घड़ी नाहीं न कीजियेगा।

दाऊ०—तीन सौ तो हो गये। दो सौ फिर माँगते हो। दो साल में कोई सात सौ रुपए हो जायँगे। इसकी ख़बर है या नहीं ?

रहमान—गरीबपरवर ! अल्लाह दे, तो दो बीघे ऊख में पाँच सौ आ सकते हैं। अल्लाह ने चाहा, तो मियाद के अन्दर आपकी कौड़ी-कौड़ी अदा कर दूँगा।

दाऊदयाल ने दो सौ रुपए फिर दे दिये। जो लोग उनके व्यवहार से परिचित थे, उन्हें उनकी इस रिआयत पर आश्चर्य होता था।

(४)

खेती की हालत अनाथ बालक की-सी है। जल और वायु अनुकूल हुए तो नाज के ढेर लग गये। इनकी कृपा न हुई, तो लहलहाते हुए खेत कपटी मित्र की भाँति दग़ा दे गये। ओला और पाला, सूखा और बाढ़, टिड्डी और लाही, दीमक और आँधी से प्राण बचे, तो फ़सल खलियान में आई। और, खलियान से आग और बिजली दोनों ही को वैर है। इतने दुश्मनों से बची, तो फ़सल, नहीं तो फ़ैसला ! रहमान ने कलेजा तोड़कर मिहनत की। दिन को दिन और रात को रात न समझा। बीबी और बच्चे दिलोजान से लिपट गये। ऐसी ऊख लगी कि हाथी घुसे, तो समा जाय। सारा गाँव दाँतों उँगली दबाता था। लोग रहमान से कहते—यार, अबकी तुम्हारे पौ-बारह हैं। हारे दर्जे सात सौ कहीं नहीं गये। अबकी बेड़ा पार है। रहमान सोचा करता, अबकी ज्योंही गुड़ के रुपए हाथ में आये, सब-के-सब ले जाकर लाला दाऊ-

दयाल के क़दमों पर रख दूँगा। अगर वह इसमें से .खुद दो-चार रुपए निकालकर देंगे, तो ले लूँगा, नहीं तो अबकी साल और चूनी-चोकर खाकर काट दूँगा।

मगर भाग्य के लिखे को कौन मिटा सकता है? अगहन का महीना था; रहमान खेत की मेड़ पर बैठा रखवाली कर रहा था। ओढ़ने को केवल एक पुरानी गाढ़े की चादर थी, इसलिए ऊख के पत्ते जला दिये थे। सहसा हवा का एक ऐसा झोंका आया कि जलते हुए पत्ते उड़कर खेत में जा पहुँचे। आग लग गई। गाँव के लोग आग बुझाने दौड़े; मगर आग की लपटें टूटते हुए तारों की भाँति खेत के एक हिस्से से उड़कर दूसरे सिरे पर जा पहुँचती थीं, सारे उपाय व्यर्थ हुए। पूरा खेत जलकर राख का ढेर हो गया। और, खेत के साथ ही रहमान की सारी अभिलाषाएँ भी नष्ट-भ्रष्ट हो गई। ग़रीब की कमर टूट गई। दिल बैठ गया। हाथ-पाँव ढीले हो गये। परोसी हुई थाली सामने से छिन गई। घर आया, तो दाऊदयाल के रुपयों की फ़िक्र सिर पर सवार हुई। अपनी कुछ फ़िक्र न थी। बाल-बच्चों की भी फ़िक्र न थी। भूखों मरना और नंगे रहना तो किसान का काम ही है। फ़िक्र थी क़र्ज़ की। दूसरा साल बीत रहा है। दो-चार दिन में लाला दाऊदयाल का आदमी आता होगा। उसे कौन मुँह दिखाऊँगा? चलकर उन्हीं से चिरौरी करूँ कि साल भर की मुहलत और दीजिये। लेकिन साल भर में तो सात सौ के नौ सौ हो जायँगे। कहीं नालिश कर दी, तो हज़ार ही समझो। साल भर में ऐसी क्या हुन बरस जायगी। बेचारे कितने भले आदमी हैं, दो सौ उठाकर दे दिये। खेत भी तो ऐसे नहीं कि बै-रिहन करके आबरू बचाऊँ। बैल भी ऐसे कौन-से तैयार हैं कि दो-चार सौ मिल जायँ। आधे भी तो नहीं रहे। अब इज़्ज़त .खुदा के हाथ है। मैं तो अपनी-सी करके देख चुका।

सुबह का वक्त था। वह अपने खेत की मेड़ पर खड़ा अपनी तबाही का दृश्य देख रहा था। देखा, दाऊदयाल का चपरासी कंधे पर लट्ठ रखे चला आ रहा है। प्राण सूख गये। .खुदा, अब तू ही इस मुश्किल

को आसान कर। कहीं आते-ही-आते गालियाँ न देने लगे। या मेरे अल्लाह! कहाँ छिप जाऊँ?

चपरासी ने समीप आकर कहा--रुपए लेकर देना नहीं जानते? मियाद कल गुज़र गई। जानते हो न सरकार को? एक दिन की भी देर हुई, और उन्होंने नालिश ठोकी। बेभाव की पड़ेगी।

रहमान काँप उठा। बोला—यहाँ का हाल तो देख रहे हो न?

चपरासी—यहाँ हाल-हवाल सुनाने का काम नहीं। ये चकमे किसी और को देना। सात सौ रुपए ले चलो, और चुपके से गिनकर चले आओ।

रहमान—जमादार, सारी ऊख जल गई। अल्लाह जानता है, अबकी कौड़ी-कौड़ी बेबाक कर देता।

चपरासी—मैं यह कुछ नहीं जानता। तुम्हारी ऊख का किसी ने ठेका नहीं लिया। अभी चलो। सरकार बुला रहे हैं।

यह कहकर चपरासी उसका हाथ पकड़कर घसीटता हुआ चला। ग़रीब को घर में जाकर पगड़ी बाँधने का भी मौक़ा न दिया।

(५)

पाँच कोस का रास्ता कट गया, और रहमान ने एक बार भी सिर न उठाया। बस, रह-रहकर 'या अली मुश्किलकुशा!' उसके मुँह से निकल जाता था! उसे अब इसी नाम का भरोसा था। यही जप उसकी हिम्मत को सँभाले हुए था, नहीं तो शायद वह वहीं गिर पड़ता। वह नैराश्य की उस दशा को पहुँच गया था, जब मनुष्य की चेतना नहीं उपचेतना उसका शासन करती है।

दाऊदयाल द्वार पर टहल रहे थे। रहमान जाकर उनके क़दमों पर गिर पड़ा, और बोला--ख़ुदावंद बड़ी बिपत पड़ी हुई है। अल्लाह जानता है, कहीं का नहीं रहा!

दाऊ०—क्या सब ऊख जल गई?

रहमान—हजूर सुन चुके हैं क्या? सरकार, जैसे किसी ने खेत में झाड़ू लगा दी हो। गाँव के ऊपर ऊख लगी हुई थी ग़रीबपरवर, यह

गैबी आफत न पड़ी होती, तो और तो नहीं कह सकता, हजूर से उरिन हो जाता।

दाऊ०—तो अब क्या सलाह देते हो कि नालिश ही कर दूँ?

रहमान—हजूर मालिक हैं, जो चाहें करें। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि हजूर के रुपये सिर पर हैं, और मुझे कौड़ी-कौड़ी देनी है। अपनी सोची नहीं होती। दो बार वादे किये, दोनों बार झूठा पड़ा। अब वादा न करूँगा। जब जो कुछ मिलेगा, लाकर हजूर के कदमों पर रख दूँगा। मिहनत-मजूरी से, पेट और तन काटकर, जिस तरह हो सकेगा, आपके रुपए भरूँगा।

दाऊदयाल ने मुसकराकर कहा—तुम्हारे मन में इस वक्त सबसे बड़ी कौन-सी आरज़ू है?

रहमान—यही हजूर कि आपके रुपए अदा हो जायँ। सच कहता हूँ हजूर, अल्लाह जानता है।

दाऊ०—अच्छा तो समझ लो कि मेरे रुपये अदा हो गये।

रहमान—अरे हजूर, यह कैसे समझ लूँ। यहाँ न दूँगा, तो वहाँ तो देने पड़ेंगे।

दाऊ०—नहीं रहमान, अब इसकी फ़िक्र मत करो। मैं तुम्हें आज़माता था।

रहमान—सरकार ऐसा न कहें। इतना बोझ सिर पर लेकर न मरूँगा।

दाऊ०—कैसा बोझ जी, मेरा तुम्हारे उपर कुछ आता ही नहीं। अगर कुछ आता भी हो, तो मैंने माफ़ कर दिया, यहाँ भी, वहाँ भी। अब तुम मेरे एक पैसे के भी देनदार नहीं हो। असल में मैंने तुमसे जो क़र्ज़ लिया था, वही अदा कर रहा हूँ। मैं तुम्हारा क़र्ज़दार हूँ, तुम मेरे क़र्ज़दार नहीं हो। तुम्हारी गऊ अब तक मेरे पास है। उसने मुझे कम-से-कम आठ सौ रुपए का दूध दिया है। दो बछड़े नफ़े में अलग। अगर तुमने यह गऊ क़साइयों को दे दी होती, तो मुझे इतना फ़ायदा

क्योंकर होता ? तुमने उस वक्त पाँच रुपये का नुक़सान उठाकर गऊ मेरे हाथ बेची थी। तुम्हारी वह शराफ़त मुझे याद है। उस एहसान का बदला चुकाना मेरी ताक़त से बाहर है। जब तुम इतने ग़रीब और नादार होकर एक गऊ की जान के लिए पाँच रुपए का नुक़सान उठा सकते हो, तो मैं तुम्हारी सौगुनी हैसियत रखकर अगर चार-पाँच सौ रुपए माफ़ कर देता हूँ, तो कोई बड़ा काम नहीं कर रहा हूँ। तुमने भले ही जान कर मेरे ऊपर कोई एहसान न किया हो, पर असल में वह मेरे धर्म पर एहसान था। मैंने भी तो तुम्हें धर्म के काम ही के लिए रुपए दिये थे। बस, हम-तुम दोनों बराबर हो गये। तुम्हारे दोनों बछड़े मेरे यहाँ हैं, जी चाहे लेते जाओ, तुम्हारी खेती के काम आवेंगे। तुम सच्चे और शरीफ़ आदमी हो, मैं तुम्हारी मदद करने को हमेशा तैयार रहूँगा। इस वक्त भी तुम्हें रुपयों की ज़रूरत हो, तो जितने चाहो, ले सकते हो।

रहमान को ऐसा मालूम हुआ कि उसके सामने कोई फ़रिश्ता बैठा हुआ है। मनुष्य उदार हो, तो फ़रिश्ता है, और नीच हो, तो शैतान। ये दोनों मानवी वृत्तियों ही के नाम हैं। रहमान के मुँह से धन्यवाद के शब्द भी न निकल सके। बड़ी मुश्किल से आँसुओं को रोककर बोला—हुज़ूर को इस नेकी का बदला ख़ुदा देगा। मैं तो आज से अपने को आपका ग़ुलाम ही समझूँगा।

दाऊ०—नहीं जी, तुम मेरे दोस्त हो।

रहमान—नहीं हुज़ूर, ग़ुलाम।

दाऊ०—ग़ुलाम छुटकारा पाने के लिए जो रुपए देता है, उसे मुक्तिधन कहते हैं। तुम बहुत पहले 'मुक्तिधन' अदा कर चुके। अब भूलकर भी यह शब्द मुँह से न निकालना।

दीक्षा

(१)

जब मैं स्कूल में पढ़ता था, गेंद खेलता था, और अध्यापक महोदयों की घुड़कियाँ खाता था, अर्थात् जब मेरी किशोरावस्था थी, न ज्ञान का उदय हुआ था और न बुद्धि का विकास, उस समय मैं टेंपरेंस एसोसिएशन (नशा-निवारिणी सभा) का उत्साही सदस्य था। नित्य उसके जलसों में शरीक होता, उसके लिए चंदा वसूल करता। इतना ही नहीं, व्रतधारी भी था, और इस व्रत के पालन का अटल संकल्प कर चुका था। प्रधान महोदय ने मेरे दीक्षा लेते समय जब पूछा—'तुम्हें विश्वास है कि जीवन-पर्यन्त इस व्रत पर अटल रहोगे ?', तो मैंने निश्शंक भाव से उत्तर दिया—'हाँ, मुझे पूर्ण विश्वास है।' प्रधान ने मुसकराकर प्रतिज्ञा-पत्र मेरे सामने रख दिया। उस दिन मुझे कितना आनन्द हुआ था ! गौरव से सिर उठाये घूमता फिरता था। कई बार पिताजी से भी बे-अदबी कर बैठा क्योंकि वह संध्या समय थकन मिटाने के लिए एक गिलास पी लिया करते थे। मुझे यह असह्य था। कहूँगा ईमान की। पिताजी ऐब करते थे, पर हुनर के साथ। ज्योंही ज़रा-सा सरूर आ जाता, आँखों में सुर्ख़ी की आभा झलकने लगती कि ब्यालू करने बैठ जाते—बहुत ही सूक्ष्माहारी थे—और फिर रात भर के लिए माया-मोह के बन्धनों से मुक्त हो जाते। मैं उन्हें उपदेश देता था ! उनसे वाद-विवाद करने पर उतारू हो जाता था ! एक बार तो मैंने ग़ज़ब कर डाला था। उनकी बोतल और गिलास को पत्थर पर इतनी ज़ोर से पटका कि भगवान् कृष्ण ने कंस को भी इतनी ज़ोर से न पटका होगा। घर में काँच के टुकड़े फैल गये, और कई दिनों तक नग्न चरणों से फिरनेवाली स्त्रियों के पैरों से ख़ून बहा। पर मेरा उत्साह तो देखिये ! पिता की तीव्र दृष्टि की भी परवा न की। पिताजी ने आकर अपनी सञ्जीवन-प्रदायिनी बोतल का यह शोक-समाचार सुना, तो सीधे बाज़ार गये, और एक क्षण में ताक़ के शून्य स्थान

की फिर पूर्ति हो गई। मैं देवासुर-संग्राम के लिए कमर कसे बैठा था; मगर पिताजी के मुख पर लेश-मात्र भी मैल न आया। उन्होंने मेरी ओर उत्साह-पूर्ण दृष्टि से देखा—अब मुझे मालूम होता है कि वह आत्मोल्लास, विशुद्ध सत्कामना, और अलौकिक स्नेह से परिपूर्ण थी—और मुसकरा दिये। उसी तरह मुसकराये, जैसे कई मास पहले प्रधान महोदय मुसकराये थे। अब उनके मुसकराने का आशय समझ रहा हूँ, उस समय न समझ सका था। बस, इतनी ही ज्ञान की वृद्धि हुई है। उस मुसकान में कितना व्यंग्य था, मेरे बाल-व्रत का कितना उपहास और मेरी सरलता पर कितनी दया थी, अब उसका मर्म समझा हूँ!

मैं कॉलेज में अपने व्रत पर दृढ़ रहा। मेरे कितने ही मित्र इतने संयमशील न थे। मैं आदर्श चरित्र समझा जाता था। कॉलेज में उस संकीर्णता का निर्वाह कहाँ? बुद्धू बना दिया जाता, कोई मुल्ला की पदवी देता कोई नासेह कहकर मज़ाक उड़ाता। मित्रगण व्यंग्य भाव से कहते—'हाय अफ़सोस, तू ने पी ही नहीं!' सारांश यह कि यहाँ मुझे उदार बनना पड़ा। मित्रों को कमरे में चुसकियाँ लगाते देखता, और बैठा रहता। भंग घुटती, और मैं देखा करता। लोग आग्रह-पूर्वक कहते—'अजी, ज़रा लो भी!', तो विनीत भाव से कहता—'क्षमा कीजिये, यह मेरे सिस्टम को सूट नहीं करती।' सिद्धान्त के बदले अब मुझे शारीरिक असमर्थता का बहाना करना पड़ा। वह सत्याग्रह का जोश, जिसने पिता की बोतल पर हाथ साफ़ किया था, ग़ायब हो गया था। यहाँ तक कि एक बार जब कॉलेज के चौथे वर्ष में मेरे लड़का पैदा होने की ख़बर मिली, तो मेरी उदारता की हद हो गई। मैंने मित्रों के आग्रह से मजबूर होकर उनकी दावत की, और अपने हाथों से ढाल-ढालकर उन्हें पिलाई। उस दिन साक़ी बनने में हार्दिक आनन्द मिल रहा था। उदारता वास्तव में सिद्धान्त से गिर जाने, आदर्श से च्युत हो जाने, का ही दूसरा नाम है। अपने मन को समझाने के लिए युक्तियों का अभाव कभी नहीं होता। संसार में सबसे आसान काम

अपने को धोका देना है। मैंने ख़ुद तो नहीं पी, पिला दी, इसमें मेरा क्या नुक़सान? दोस्तों की दिलशिकनी तो नहीं की? मज़ा तो जभी है कि दूसरों को पिलावे, और ख़ुद न पिये!

ख़ैर, कॉलेज से मैं बेदाग़ निकल आया। अपने शहर में वकालत शुरू की। सुबह से आधी रात तक चक्की में जुतना पड़ता। वे कॉलेज के सैर-सपाटे, आमोद-विनोद, सब स्वप्न हो गये। मित्रों की आमद-रफ़्त बन्द हुई। यहाँ तक कि छुट्टियों में भी दम मारने की फ़ुरसत न मिलती। जीवन-संग्राम कितना विकट है, इसका अनुभव हुआ। इसे संग्राम कहना ही भ्रम है। संग्राम की उमंग, उत्तेजना, वीरता और जय-ध्वनि यहाँ कहाँ? यह संग्राम नहीं, ठेलमठेल, धक्का-पेल है। यहाँ 'चाहे धक्के खायँ, मगर तमाशा घुसकर देखें' की दशा है। माशूक़ का वस्ल कहाँ, उसकी चौखट को चूमना, दर्बान की गालियाँ खाना, और अपना-सा मुँह लेकर चले आना। दिन-भर बैठे-बैठे अरुचि हो जाती। मुश्किल से दो चपातियाँ खाता, और मन में कहता—'क्या इन्हीं दो चपातियों के लिए यह सिर-मग्ज़न और यह दीदारेज़ी है! मरो, खपो, और व्यर्थ के लिए! इसके साथ यह अरमान भी था कि अपनी मोटर हो, विशाल भवन हो, थोड़ी सी ज़मींदारी हो, कुछ रुपए बैंक में हों। पर यह सब हुआ भी, तो मुझे क्या? सन्तान उनका सुख भोगेगी, मैं तो व्यर्थ ही मरा। मैं तो ख़ज़ाने का साँप ही रहा। नहीं, यह नहीं हो सकता। मैं दूसरों के लिए ही प्राण न दूँगा, अपनी मिहनत का मज़ा ख़ुद भी चखूँगा। क्या करूँ? कहीं सैर करने चलूँ? नहीं, मुवक्किल सब तितर-बितर हो जायँगे। ऐसा नामी वकील तो हूँ नहीं कि मेरे बग़ैर काम ही न चले, और कतिपय नेताओं की भाँति असहयोग-व्रत धारण करने पर भी कोई बड़ा शिकार देखूँ, तो झपट पड़ूँ। यहाँ तो पिद्दी, बटेर, हारिल इन्हीं सब पर निशाना मारना है। फिर क्या रोज़ थियेटर जाया करूँ? फ़िज़ूल है। कहीं दो बजे रात को सोना नसीब होगा, बिना मौत मर जाऊँगा। आख़िर मेरे हमपेशा और भी तो हैं? वे क्या करते हैं, जो उन्हें बराबर ख़ुश और मस्त देखता हूँ? मालूम होता

है, उन्हें कोई चिन्ता ही नहीं है। स्वार्थ-सेवा अंग्रेज़ी शिक्षा का प्राण है। पूर्व संतान के लिए, यश के लिए, धर्म के लिए मरता है; पश्चिम अपने लिए। पूर्व में घर का स्वामी सब का सेवक होता है। वह सबसे ज़्यादा काम करता, दूसरों को खिलाकर खाता, दूसरों को पहनाकर पहनता है; किन्तु पश्चिम में वह सबसे अच्छा खाना, अच्छा पहनना अपना अधिकार समझता है। यहाँ परिवार सर्वोपरि है, वहाँ व्यक्ति सर्वोपरि है! हम बाहर से पूर्व और भीतर से पश्चिम हैं। हमारे सत् आदर्श दिन-दिन लुप्त होते जा रहे हैं। मैंने सोचना शुरू किया, इतने दिनों की तपस्या से मुझे क्या मिल गया? दिन-भर छाती फाड़कर काम करता हूँ, आधी रात को मुँह ढाँपकर सो रहता हूँ। यह भी कोई ज़िन्दगी है? कोई सुख नहीं, मनोरंजन का कोई सामान नहीं; दिन-भर काम करने के बाद टेनिस क्या ख़ाक खेलूँगा? हवाख़ोरी के लिए भी तो पैरों में बूता चाहिये! ऐसे जीवन को रसमय बनाने के लिए केवल एक ही उपाय है—आत्मविस्मृति, जो एक क्षण के लिए मुझे संसार की चिंताओं से मुक्त कर दे, मैं अपनी परिस्थिति को भूल जाऊँ, अपने को भूल जाऊँ, ज़रा हँसूँ, ज़रा क़हक़हा मारूँ, ज़रा मन में स्फूर्ति आवे। केवल एक ही बूटी है, जिसमें ये गुण हैं, और वह मैं जानता हूँ। कहाँ की प्रतिज्ञा, कहाँ का व्रत, वे बचपन की बातें थीं। उस समय क्या जानता था कि मेरी यह हालत होगी? तब स्फूर्ति का बाहुल्य था, पैरों में शक्ति थी, घोड़े पर सवार होने की क्या ज़रूरत थी? तब जवानी का नशा था। अब वह कहाँ? यह भावना मेरे पूर्व-संचित संयम की जड़ों को हिलाने लगी। वह नित्य नई-नई युक्तियों से सशस्त्र होकर आती थी। क्यों, क्या तुम्हीं सबसे अधिक बुद्धिमान् हो? सब तो पीते हैं। जजों को देखो, इजलास छोड़कर जाते और पी आते हैं। प्राचीन काल में ऐसे व्रत निभ जाते थे, जब जीविका इतनी प्राणघातक न थी। लोग हँसेंगे ही न कि बड़े व्रतधारी की दुम बने थे, आख़िर आ गये न चक्कर में! हँसने दो, मैंने नाहक़ व्रत लिया। उसी व्रत के कारण इतने दिनों तपस्या करनी पड़ी। नहीं पी, तो कौन-सा बड़ा आदमी हो गया,

कौन सम्मान पा लिया ? पहले किताबों में पढ़ा करता था, यह हानि होती है, वह हानि होती है। मगर कहीं तो नुक़सान होते नहीं देखता। हाँ, पियक्कड़, बद-मस्त हो जाने की बात और है। उस तरह तो अच्छी से अच्छी वस्तु का दुरुपयोग भी हानिप्रद होता है। ज्ञान भी जब सीमा से बाहर हो जाता है, तो नास्तिकता के क्षेत्र में जा पहुँचता है। पीना चाहिये एकांत में, चेतना को जाग्रत् करने के लिए, सुलाने के लिए नहीं ; बस, पहले दिन ज़रा-ज़रा झिझक होगी। फिर किसका डर है। ऐसी आयोजना करनी चाहिये कि लोग मुझे ज़बरदस्ती पिला दें, जिसमें अपनी शान बनी रहे। जब एक दिन प्रतिज्ञा टूट जायगी, तो फिर मुझे अपनी सफ़ाई पेश करने की ज़रूरत न रहेगी, घरवालों के सामने भी आँखें नीची न करनी पड़ेंगी।

(२)

मैंने निश्चय किया, यह अभिनय होली के दिन हो। इस दीक्षा के लिए इससे उत्तम मुहूर्त कौन होगा ! होली पीने-पिलाने का दिन है। उस दिन पीकर मस्त हो जाना क्षम्य है। पवित्र होली अगर हो सकती है, तो पवित्र चोरी, पवित्र रिश्वत-सितानी भी हो सकती है।

होली आई। अब की बहुत इंतज़ार के बाद आई। मैंने दीक्षा लेने की तैयारी शुरू की। कई पीनेवालों को निमन्त्रित किया। केलनर की दूकान से ह्विस्की और शामपेन मँगवाई ; लेमनेड, सोडा, बर्फ़, गज़क, ख़मीरा तंबाकू वग़ैरह सब सामान मँगवाकर लैस कर दिया। कमरा बहुत बड़ा न था। क़ानूनी किताबों की अलमारियाँ हटवा दीं, फ़र्श बिछवा दिया और शाम को मित्रों का इंतज़ार करने लगा, जैसे चिड़िया पंख फैलाये बहेलियों को बुला रही हो।

मित्रगण एक-एक करके आने लगे। नौ बजते बजते सब-के-सब आ विराजे। उनमें कई तो ऐसे थे, जो चुल्लू में उल्लू हो जाते थे। पर कितने ही कुंभज ऋषि के अनुयायी थे—पूरे समुद्र-सोख, बोतल की बोतल गटगटा जायँ, और आँखों में सुर्ख़ी न आवे ! मैंने बोतल, गिलास और गज़क की तशतरियाँ सामने लाकर रखीं।

एक महाशय बोले—यार, बर्फ़ और सोडे के बग़ैर लुत्फ़ न आवेगा।

मैंने उत्तर दिया—मँगवा रखा है, भूल गया था।

एक—तो फिर बिस्मिल्लाह हो।

दूसरा—साक़ी कौन होगा?

मैं—यह ख़िदमत मेरे सिपुर्द कीजिये।

मैंने प्यालियाँ भर-भरकर देनी शुरू कीं, और यार लोग पीने लगे। हू-हक़ का बाज़ार गर्म हुआ; अश्लील हास-परिहास की आँधी-सी चलने लगी; पर मुझे कोई न पूछता था। ख़ूब, अच्छा उल्लू बना! शायद मुझसे कहते हुए सकुचाते हैं। कोई मज़ाक से भी नहीं कहता, मानो मैं वैष्णव हूँ। इन्हें कैसे इशारा करूँ? आख़िर सोचकर बोला—मैंने तो कभी पी ही नहीं।

एक मित्र—क्यों नहीं पी? ईश्वर के यहाँ आपको इसका जवाब देना पड़ेगा।

दूसरा—फ़रमाइये जनाब, फ़रमाइये, फ़रमाइये, क्या जवाब दीजियेगा। मैं ही उसकी तरफ़ से पूछता हूँ—क्यों नहीं पीते?

मैं—अपनी तबीयत, नहीं जी चाहता।

दूसरा—यह तो कोई जवाब नहीं। कोदों देकर वकालत पास की थी क्या?

तीसरा—जवाब दीजिये, जवाब। दीजिये, दीजिये। आपने समझा क्या है, ईश्वर को आपने ऐसा-वैसा समझ लिया है क्या?

दूसरा—क्या आपको कोई धार्मिक आपत्ति है?

मैंने कहा—हो सकता है।

तीसरा—वाह रे धर्मात्मा! क्यों न हो, आप बड़े धर्मात्मा हैं। ज़रा आपकी दुम देखूँ?

मैं—क्या धर्मात्मा आदमियों के दुम होती है!

चौथा—और क्या, किसी के एक हाथ की, किसी के दो हाथ की। आप हैं किस फेर में? दुमदारों के सिवा आज धर्मात्मा है ही कौन! हम सब पापात्मा हैं।

तीसरा—धर्मात्मा वकील, ओ हो, धर्मात्मा वेश्या, ओ हो !

दूसरा—धार्मिक आपत्ति तो आपको हो ही नहीं सकती। वकील होना धार्मिक विचारों से शून्य होने का चिह्न है।

मैं—भाई, मुझे सूट नहीं करती ?

तीसरा—अब मार लिया, मूज़ी को मार लिया, आपको सूट नहीं करती ? मैं सूट करा दूँ ?

दूसरा—क्या किसी डॉक्टर ने मना किया है ?

मैं—नहीं।

तीसरा—वाह वाह ! आप ख़ुद ही डॉक्टर बन गये ! अमृत आपको सूट नहीं करता ! अरे धर्मात्माजी, एक बार पीके देखिये।

दूसरा—मुझे आपके मुँह से यह सुनकर आश्चर्य हुआ। भाईजी, यह दवा है, महौषधि है, यही सोम-रस है। कहीं आपने टेंपरेंस की प्रतिज्ञा तो नहीं ले ली है ?

मैं—मान लीजिये, ली हो, तो ?

तीसरा—तो आप बुद्धू हैं, सीधे-सादे कोरे बुद्धू ?

चौथा—

> जाम चलने को है सब, अहले-नज़र बैठे हैं ;
> आँख साक़ी न चुराना, हम इधर बैठे हैं।

दूसरा—हम सभी टेंपरेंस के प्रतिज्ञाधारी हैं, पर जब वह हम ही नहीं रहे, तो वह प्रतिज्ञा कहाँ रही ? हमारे नाम वही हैं, पर हम वह नहीं हैं। जहाँ लड़कपन की और बातें गईं, वहीं वह प्रतिज्ञा भी गई।

मैं—आख़िर इससे फ़ायदा क्या है ?

दूसरा—यह तो पीने ही से मालूम हो सकता है। एक प्याला पीजिये, फ़ायदा न मालूम हो, तो फिर न पीजियेगा।

तीसरा—मारा, मारा अब मूज़ी को, अब पिलाकर छोड़ेंगे !

चौथा—

> ऐसे मैख़्वार हैं दिन-रात पिया करते हैं ;
> हम तो सोते में तेरा नाम लिया करते हैं।

पहला—तुम लोगों से न बनेगा, मैं पिलाना जानता हूँ।

यह महाशय मोटे-ताज़े आदमी थे। मेरा टेटुआ दबाया, और प्याली मुँह से लगा दी। मेरी प्रतिज्ञा टूट गई; दीक्षा मिल गई; मुराद पूरी हुई। किन्तु बनावटी क्रोध से बोला—आप लोग अपने साथ मुझे भी ले डूबे।

दूसरा—मुबारक हो, मुबारक!

तीसरा—मुबारक, मुबारक, सौ बार मुबारक!

(३)

नवदीक्षित मनुष्य बड़ा धर्मपरायण होता है। मैं सन्ध्या-समय दिन-भर की वाग्वितंडा से छुटकारा पाकर जब एकान्त में, अथवा दो-चार मित्रों के साथ, बैठकर प्याले-पर-प्याले चढ़ाता, तो चित्त उल्लसित हो उठता था। रात को निद्रा खूब आती थी। पर प्रातःकाल अंग-अंग में पीड़ा होती, अँगड़ाइयाँ आतीं, मस्तिष्क शिथिल हो जाता, यही जी चाहता कि आराम से पलँग पर लेटा रहूँ। मित्रों ने सलाह दी कि खुमारी उतारने के लिए सबेरे भी एक पेग पी लिया जाय, तो अति उत्तम है। मेरे मन में भी बात बैठ गई। मुँह-हाथ धोकर पहले सन्ध्या किया करता था। अब मुँह-हाथ धोकर चट अपने कमरे के एकान्त में बोतल लेकर बैठ जाता। मैं इतना जानता था कि नशीली चीज़ों का चसका बुरा होता है, आदमी धीरे धीरे उनका दास हो जाता है। यहाँ तक कि वह उनके बग़ैर कुछ काम ही नहीं कर सकता; परन्तु ये बातें जानते हुए भी मैं उनके वशीभूत होता जाता था। यहाँ तक नौबत पहुँची कि नशे के बग़ैर मैं कुछ काम ही न कर सकता। जिसे आमोद के लिए मुँह लगाया था, वह साल ही भर में मेरे लिए जल और वायु की भाँति अत्यन्त आवश्यक हो गई। अगर कभी किसी मुक़दमे में बहस करते-करते देर हो जाती, तो ऐसी थकावट चढ़ती थी, मानो मंज़िलों चला हूँ। उस दशा में घर आता, तो अनायास ही बात-बात पर झुँझ-लाता। कहीं नौकर को डाँटता, कहीं बच्चों को पीटता, कहीं स्त्री पर गरम होता। यह सब कुछ था, पर मैं कतिपय अन्य शराबियों की भाँति

नशा आते ही दून की न लेता था : अनर्गल बातें न करता था : हल्ला न मचाता था। न मेरे स्वास्थ्य पर ही मदिरा-सेवन का कुछ बुरा असर नज़र आता था।

बरसात के दिन थे। नदी-नाले बढ़े हुए थे। हुक्काम बरसात में भी दौरे करते हैं। उन्हें अपने भत्ते से मतलब। प्रजा को कितना कष्ट होता है, इससे उन्हें कुछ सरोकार नहीं। मैं एक मुक़दमे में दौरे पर गया। अनुमान किया था कि सन्ध्या तक लौट आऊँगा : मगर नदियों का चढ़ाव-उतार पड़ा, दस बजे पहुँचने के बदले शाम को पहुँचा। जंट साहब मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। मुक़दमा पेश हुआ। लेकिन बहस ख़तम होते-होते रात के नौ बज गये। मैं अपनी हालत क्या कहूँ। जी चाहता था, जंट साहब को नोच खाऊँ। कभी अपने प्रतिपक्षी वकील की दाढ़ी नोचने को जी चाहता था, जिसने बरबस बहस को इतना बढ़ाया। कभी जी चाहता था, अपना सिर पीट लूँ। मुझे सोच लेना चाहिये था कि आज रात को देर हो गई, तो? जंट मेरा ग़ुलाम तो है नहीं कि जो मेरी इच्छा हो, वही करे। न खड़े रहा जाता, न बैठे। छोटे-मोटे पियक्कड़ मेरी दुर्दशा की कल्पना नहीं कर सकते।

ख़ैर, नौ बजते-बजते मुक़दमा समाप्त हुआ। पर अब जाऊँ कहाँ? बरसात की रात; कोसों तक आबादी का पता नहीं। घर लौटना कठिन ही नहीं, असंभव। आस-पास भी कोई ऐसा गाँव नहीं, जहाँ वह संजीवनी मिल सके। गाँव हो भी, तो वहाँ जाय कौन? वकील कोई थानेदार नहीं कि किसी को बेगार में भेज दे। बड़े संकट में पड़ा हुआ था। मुवक्किल चले गये, दर्शक चले गये, बेगार चले गये। मेरा प्रतिद्वन्द्वी मुसलमान चपरासी के दस्तरख़ान में शरीक होकर डाक-बँगले के बरामदे में पड़ रहा। पर मैं क्या करूँ? यहाँ तो प्राणान्त-सा हो रहा था। वहीं बरामदे में टाट पर बैठा हुआ अपनी क़िस्मत को रो रहा था; न नींद ही आती थी कि इस कष्ट को भूल जाऊँ, अपने को उसी की गोद में सौंप दूँ। ग़ुस्सा अलबत्ते था कि वह दूसरा वकील कितनी मीठी नींद

सो रहा है, मानो ससुराल में सुख-सेज पर सोया हुआ है।

इधर तो मेरा यह बुरा हाल था, उधर डाक-बँगले में साहब बहादुर गिलास पर गिलास चढ़ा रहे थे। शराब के ढालने की मधुर ध्वनि मेरे कानों में आकर चित्त को और भी व्याकुल कर देती थी। मुझसे बैठे न रहा गया। धीरे-धीरे चिक के पास गया, और अन्दर झाँकने लगा। आह! कैसा जीवन-प्रद दृश्य था। सफ़ेद बिल्लौर के गिलास में बर्फ़ और सोडावाटर से अलंकृत अरुण-मुखी कामिनी शोभायमान थी; मुँह में पानी भर आया। उस समय कोई मेरा चित्र उतारता, तो लोलुपता के चित्रण में बाज़ी मार ले जाता। साहब की आँखों में सुर्ख़ी थी, मुँह पर सुर्ख़ी थी। एकांत में बैठा पीता और मानसिक उल्लास की लहर में एक अंगरेज़ी गीत गाता था। कहाँ वह स्वर्ग का सुख, और कहाँ यह मेरा नरक-भोग! कई बार प्रबल इच्छा हुई कि साहब के पास चलकर एक गिलास माँगूँ; पर डर लगता था कि कहीं शराब के बदले ठोकर मिलने लगे, तो यहाँ कोई फ़रियाद सुननेवाला भी नहीं है।

मैं वहाँ तब तक खड़ा रहा, जब तक साहब का भोजन समाप्त न हो गया। मन-चाहे भोजन और सुरासेवन के उपरांत उसने ख़ानसामा को मेज़ साफ़ करने के लिए बुलाया। ख़ानसामा वहीं मेज़ के नीचे बैठा ऊँघ रहा था। उठा, और प्लेट लेकर बाहर निकला, तो मुझे देखकर चौंक पड़ा। मैंने शीघ्र ही उसको आश्वासन दिया—डरो मत, डरो मत, मैं हूँ।

ख़ानसामा ने चकित होकर कहा—आप हैं वकील साहब! क्या हुज़ूर यहाँ खड़े थे?

मैं—हाँ, ज़रा देखता था कि ये सब कैसे खाते-पीते हैं। बहुत शराब पीता है।

ख़ान०—अजी, कुछ पूछिये मत। दो बोतल दिन-रात में साफ़ कर डालता है। २०) रोज़ की शराब पी जाता है। दौरे पर चलता है, तो चार दर्जन बोतलों से कम साथ नहीं रखता।

मैं—मुझे भी कुछ आदत है; पर आज न मिली।

ख़ान०—तब तो आपको बड़ी तकलीफ़ हो रही होगी ?

मैं—क्या करूँ, यहाँ तो कोई दूकान भी नहीं। समझता था, जल्दी से मुक़द्दमा हो जायगा, घर लौट जाऊँगा। इसीलिए कोई सामान साथ न लाया।

ख़ान०—मुझे तो अफ़ीम की आदत है। एक दिन न मिले तो बावला हो जाता हूँ। अमलवाले को चाहे कुछ न मिले, अमल मिल जाय, तो उसे कोई फ़िक्र नहीं, खाना चाहे तीन दिन में मिले।

मैं—वही हाल है भाई, भुगत रहा हूँ। ऐसा मालूम होता है, बदन में जान ही नहीं है।

ख़ान०—हुज़ूर को कम-से-कम एक बोतल साथ रख लेनी चाहिये थी। जेब में डाल लेते।

मैं—इतनी ही तो भूल हुई भाई, नहीं रोना काहे का था !

ख़ान०—नींद भी न आती होगी ?

मैं—कैसी नींद, दम लबों पर है, न-जाने रात कैसे गुज़रेगी।

मैं चाहता था, ख़ानसामा अपनी तरफ़ से मेरी अग्नि को शांत करने का प्रस्ताव करे, जिसमें मुझे लज्जित न होना पड़े। पर ख़ानसामा भी चंट था। बोला—अल्लाह का नाम लेकर सो जाइये, नींद कब तक न आवेगी।

मैं—नींद तो न आवेगी। हाँ, मर भले ही जाऊँगा। क्या साहब बोतलें गिनकर रखते हैं ? गिनते तो क्या होंगे ?

ख़ान०—अरे हुज़ूर, एक ही मूज़ी है। बोतल पूरी नहीं होती, तो उसपर निशान बना देता है। मजाल है कि एक बूँद भी कम हो जाय।

मैं—बड़ी मुसीबत है, मुझे तो एक गिलास चाहिये। बस, इतनी ही चाहता हूँ कि नींद आ जाय। जो इनाम कहो, वह दूँ।

ख़ान०—इनाम तो हुज़ूर देंगे ही, लेकिन ख़ौफ़ यही है कि कहीं भाँप गया, तो फिर मुझे ज़िंदा न छोड़ेगा।

मैं—यार, लाओ, अब ज़्यादा सब्र की ताब नहीं है।

ख़ान०—आपके लिए जान हाज़िर है ; पर एक बोतल १०) में

आती है। मैं कल किसी बेगार से मँगाकर तादाद पूरी कर दूँगा।

मैं—मैं एक बोतल थोड़े ही पी जाऊँगा।

ख़ान०—साथ लेते जाइयेगा हुज़ूर! आधी बोतल ख़ाली मेरे पास रहेगी, तो उसे फ़ौरन् शुभा हो जायगा। बड़ा शक्की है, मेरा मुँह सूँघा करता है कि इसने पी न ली हो।

मुझे २०) मिहनताने के मिले थे। दिन-भर की कमाई का आधा देते हुए कलक तो हुआ, पर दूसरा उपाय ही क्या था। चुपके से १०) निकालकर ख़ानसामा के हवाले किये। उसने एक बोतल अँगरेज़ी शराब मुझे ला दी। बरफ़ और सोडा भी लेता आया। मैं वहीं अँधेरे में बोतल खोलकर अपनी परितप्त आत्मा को सुधा-जल से सिंचित करने लगा।

क्या जानता था कि विधना मेरे लिए कोई दूसरा ही षड्यन्त्र रच रहा है, मुझे विष पिलाने की तैयारियाँ कर रहा है।

(४)

नशे की नींद का पूछना ही क्या। उस पर ह्विस्की की आधी बोतल चढ़ा गया था। दिन चढ़े तक सोता रहा। कोई आठ बजे झाड़ू लगानेवाले मेहतर ने जगाया, तो नींद खुली। शराब की बोतल और गिलास सिरहाने रखकर छतरी से छिपा दिया था। ऊपर से अपना गाउन डाल दिया था। उठते ही उठते सिरहाने निगाह गई। बोतल और गिलास का पता न था। कलेजा धक से हो गया। ख़ानसामा को खोजने लगा कि पूछूँ, उसने तो नहीं उठाकर रख दिया। इससे विचार उठा, और टहलता हुआ डाक-बँगले के पिछवाड़े गया, जहाँ नौकरों के लिए अलग कमरे बने हुए थे। पर वहाँ का भयंकर दृश्य देखकर आगे क़दम बढ़ाने का साहस न हुआ।

साहब ख़ानसामा का कान पकड़े हुए खड़े थे। शराब की बोतलें अलग-अलग रखी हुई थीं। साहब एक, दो, तीन, करके गिनते थे, और ख़ानसामा से पूछते थे, एक बोतल और कहाँ गया? ख़ानसामा कहता था—हुज़ूर, खुदा मेरा मुँह काला करे, जो मैंने कुछ भी दग़ल-फ़सल की हो।

साहब—क्या हम झूठ बोलता है ? २६ बोतल नहीं था ?

ख़ान०—हुज़ूर, खुदा की क़सम, मुझे नहीं मालूम, कितनी बोतलें थीं।

इस पर साहब ने ख़ानसामा के कई तमाचे लगाये। फिर कहा—तुम गिने, तुम न बतावेगा, तो हम तुमको जान से मार डालेगा। हमारा कुछ नहीं हो सकता। हम हाकिम है, और हाकिम लोग हमारा दोस्त है। हम तुमको अभी अभी मार डालेगा, नहीं तो बतला दे, एक बोतल कहाँ गया ?

मेरे प्राण सूख गये। बहुत दिनों के बाद ईश्वर की याद आई। मन ही मन गोवर्द्धनधारी का स्मरण करने लगा। अब लाज तुम्हारे हाथ है ! भगवन् ! तुम्हीं बचाओ, तो नैया बच सकती है नहीं तो मँझधार में डूबी जाती है ! अँगरेज़ है, न-जाने क्या मुसीबत ढा दे। भगवन् ! ख़ानसामा का मुँह बंद कर दो, उसकी वाणी हर लो, तुमने बड़े-बड़े द्रोहियों और दुष्टों की रक्षा की है। अजामिल को तुम्हीं ने तारा था। मैं भी द्रोही हूँ, द्रोहियों का द्रोही हूँ। मेरा संकट हरो। अब की जान बची, तो शराब की ओर आँख न उठाऊँगा।

मार के आगे भूत भागता है ! मुझे प्रतिक्षण यह शंका होती थी कि कहीं यह लोकोक्ति चरितार्थ न हो जाय। कहीं ख़ानसामा खुल न पड़े। नहीं तो फिर मेरी ख़ैर नहीं। सनद छिन जाने का, चोरी का मुक़दमा चल जाने का, अथवा जज साहब से तिरस्कृत किये जाने का इतना भय न था, जितना साहब के पदाघात का लक्ष्य बनने का। ज़ालिम हंटर लेकर दौड़ न पड़े। यों मैं इतना दुर्बल नहीं हूँ, हृष्ट-पुष्ट और साहसी मनुष्य हूँ। कालेज में खेल-कूद के लिए पारितोषिक पा चुका हूँ। अब भी बरसात में दो मर्दाने मुगदर फेर लेता हूँ। लेकिन उस समय भय के मारे मेरा बुरा हाल था। मेरे नैतिक बल का आधार पहले ही नष्ट हो चुका था। चोर में बल कहाँ ? मेरा मान, मेरा भविष्य, मेरा जीवन ख़ानसामा के केवल एक शब्द पर निर्भर था—केवल एक शब्द पर ! किसका जीवन-सूत्र इतना क्षीण, इतना जीर्ण, इतना जर्जर होगा !

मैं मन-ही-मन प्रतिज्ञा कर रहा था—शराबियों की तोबा नहीं, सची, दृढ़ प्रतिज्ञा—कि इस संकट से बचा तो फिर शराब न पिऊँगा। मैंने अपने मन को चारों ओर से बाँध रखने के लिए, उसके कुतर्कों का द्वार बन्द करने के लिए एक भीषण शपथ खाई।

मगर हाय रे दुर्दैव! कोई सहाय न हुआ। न गोवर्द्धनधारी ने सुध ली, न नृसिंह भगवान् ने। वे सब सत्ययुग में आया करते थे। न प्रतिज्ञा कुछ काम आई, न शपथ का कुछ असर हुआ। मेरे भाग्य, या दुर्भाग्य में जो कुछ बदा था, वह होकर रहा। विधना ने मेरी प्रतिज्ञा को सुदृढ़ रखने के लिए शपथ को यथेष्ट न समझा।

खानसामा बेचारा अपनी बात का धनी था। थप्पड़ खाये, ठोकर खाई, दाढ़ी नुचवाई, पर न खुला, न खुला। बड़ा सत्यवादी, वीर पुरुष था। मैं शायद ऐसी दशा में इतना अटल न रह सकता, शायद पहले ही थप्पड़ में उगल देता। उसकी ओर से मुझे जो घोर शंका हो रही थी, वह निर्मूल सिद्ध हुई। जब तक जिऊँगा, उस वीरात्मा का गुणानुवाद करता रहूँगा।

पर मेरे ऊपर दूसरी ही ओर से वज्रपात हुआ।

(५)

खानसामा पर जब मार-धाड़ का कुछ असर न हुआ, तो साहब उसके कान पकड़े हुए डाक-बँगले की तरफ़ चले। मैं उन्हें आते देख चटपट सामने बरामदे में आ बैठा, और ऐसा मुँह बना लिया मानो कुछ जानता ही नहीं। साहब ने खानसामा को लाकर मेरे सामने खड़ा कर दिया। मैं भी उठकर खड़ा हो गया। उस समय यदि कोई मेरे हृदय को चीरता, तो रक्त की एक बूँद भी न निकलती।

साहब ने मुझसे पूछा—वेल वकील साहब, तुम शराब पीता है?

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने रात शराब पी थी?'

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने मेरे इस खानसामा से शराब ली थी ?'

मैं इनकार न कर सका।

'तुमने रात को शराब पीकर बोतल और गिलास अपने सिर के नीचे छिपाकर रखा था ?'

मैं इनकार न कर सका। मुझे भय था कि खानसामा न कहीं खुल पड़े। पर उलटे मैं ही खुल पड़ा।

'तुम जानता है, यह चोरी है ?'

मैं इनकार न कर सका।

'हम तुमको मुअत्तल कर सकता है, तुम्हारा सनद छीन सकता है, तुमको जेल भेज सकता है।'

यथार्थ ही था।

'हम तुमको ठोकरों से मारकर गिरा सकता है। हमारा कुछ नहीं हो सकता।'

यथार्थ ही था।

'तुम काला आदमी वकील बनता है, हमारे खानसामा से चोरी का शराब लेता है। तुम सुअर! लेकिन हम तुमको वही सजा देगा, जो तुम पसंद करे। तुम क्या चाहता है ?'

मैंने काँपते हुए कहा—हुज़ूर, मुआफ़ी चाहता हूँ।

'नहीं, हम सजा पूछता है ?'

'जो हुज़ूर मुनासिब समझें।'

'अच्छा, यही होगा।'

यह कहकर उस निर्दयी, नर-पिशाच ने दो सिपाहियों को बुलाया, और उनसे मेरे दोनों हाथ पकड़वा दिये। मैं मौन धारण किये इस तरह सिर झुकाये खड़ा रहा, जैसे कोई लड़का अध्यापक के सामने बेत खाने को खड़ा होता है। इसने मुझे क्या दंड देने का विचार किया है ? कहीं मेरी मुश्कें तो न कसवावेगा, या कान पकड़कर उठा-बैठी तो न करावेगा। देवताओं से सहायता मिलने की कोई आशा तो न थी, पर अदृश्य का आवाहन करने के अतिरिक्त और उपाय ही क्या था।

मुझे सिपाहियों के हाथों में छोड़कर साहब दफ्तर में गये और वहाँ से मोहर छापने की स्याही और ब्रश लिये हुए निकले। अब मेरी आँखों से अश्रुपात होने लगा। यह घोर अपमान और थोड़ी-सी शराब के लिए! वह भी दुगने दाम देने पर!

साहब ब्रश से मेरे मुँह में कालिमा पोत रहे थे, वह कालिमा, जिसे धोने के लिए सेरों साबुन की ज़रूरत थी, और मैं भीगी बिल्ली की भाँति खड़ा था। उन दोनों यमदूतों को भी मुझ पर दया न आती थी, दोनों हिन्दोस्तानी थे, पर उन्हीं के हाथों मेरी यह दुर्दशा हो रही थी। इस देश को स्वराज्य मिल चुका!

साहब कालिख पोतते और हँसते जाते थे। यहाँ तक कि आँखों के सिवा तिल भर भी जगह न बची! थोड़ी-सी शराब के लिए आदमी से बनमानुस बनाया जा रहा था। दिल में सोच रहा था, यहाँ से जाते-ही जाते बचा पर मानहानि की नालिश कर दूँगा, या किसी बदमाश से कह दूँगा, इजलास ही पर बचा को जूतों से ख़बर ले।

मुझे बनमानुस बनाकर साहब ने मेरे हाथ छुड़वा दिये और ताली बजाता हुआ मेरे पीछे दौड़ा। नौ बजे का समय था। कर्मचारी, मुवक्किल, चपरासी सभी आ गये थे। सैकड़ों आदमी जमा थे। मुझे न जाने क्या शामत सूझी कि वहाँ से भागा। यह उस प्रहसन का सबसे करुणाजनक दृश्य था। आगे आगे मैं दौड़ा जाता था, पीछे-पीछे साहब, और अन्य सैकड़ों आदमी तालियाँ बजाते 'लेना लेना, जाने न पावे' का गुल मचाते दौड़े आते थे, मानो किसी बन्दर को भगा रहे हों।

लगभग एक मील तक यह दौड़ रही। वह तो कहो मैं कसरती आदमी हूँ, बचकर निकल आया, नहीं मेरी न-जाने और क्या दुर्गति होती। शायद मुझे गधे पर बिठाकर घुमाना चाहते थे। जब सब पीछे रह गये, तो मैं एक नाले के किनारे बेदम होकर बैठ रहा। अब मुझे सूझी कि यहाँ कोई आया तो पत्थरों से मारे बिना न छोड़ूँगा, चाहे उलटी पड़े या सीधी। किंतु मैंने नाले में मुँह धोने की चेष्टा नहीं की।

जानता था, पानी से यह कालिमा न छूटेगी। यही सोचता रहा कि इस अँगरेज़ पर कैसे अभियोग चलाऊँ? यह तो छिपाना ही पड़ेगा कि मैंने इसके खानसामा से चोरी की शराब ली। अगर यह बात साबित हो गई, तो उलटा मैं ही फँस जाऊँगा। क्या हरज है, इतना छिपा दूँगा। शत्रुता का कारण कुछ और ही दिखा दूँगा। पर मुक़दमा ज़रूर चलाना चाहिये।

जाऊँ कहाँ? यह कालिमामंडित मुँह किसे दिखाऊँ! हाय! बद-माश को कालिख ही लगानी थी, तो क्या तवे में कालिख न थी, लैम्प में कालिख न थी? कम से कम छूट तो जाती। जितना अपमान हुआ है, वहीं तक रहता। अब तो मैं मानो अपने कुकृत्य का स्वयं ढिंढोरा पीट रहा हूँ। दूसरा होता, तो इतनी दुर्गति पर डूब मरता!

ग़नीमत यही थी कि अभी तक रास्ते में किसी से मुलाक़ात नहीं हुई थी; नहीं तो उसके कालिमा-सम्बन्धी प्रश्नों का क्या उत्तर देता? जब ज़रा थकन कम हुई, तो मैंने सोचा, यहाँ कब तक बैठा रहूँगा। लाओ, एक बार यत्न करके देखूँ तो, शायद स्याही छूट जाय। मैंने बालू से मुँह रगड़ना शुरू किया। देखा, तो स्याही छूट रही थी। उस समय मुझे जितना आनन्द हुआ, उसकी कौन कल्पना कर सकता है। फिर तो मेरा हौसला बढ़ा। मैंने मुँह को इतना रगड़ा कि कई जगह चमड़ा तक छिल गया। किन्तु वह कालिमा छुड़ाने के लिए मुझे इस समय बड़ी से बड़ी पीड़ा भी तुच्छ जान पड़ती थी। यद्यपि मैं नंगे सिर था, केवल कुर्ता और धोती पहने हुए था, पर यह कोई अपमान की बात नहीं। गाउन, अचकन, पगड़ी, डाक-बँगले ही में रह गई, इसकी मुझे चिन्ता न थी। कालिख तो छूट गई।

लेकिन कालिमा छूट जाती है, पर उसका दाग़ दिल से कभी नहीं मिटता। इस घटना को हुए आज बहुत दिन हो गये हैं। पूरे पाँच साल हुए, मैंने शराब का नाम नहीं लिया, पीने की कौन कहे। कदाचित् मुझे सन्मार्ग पर लाने के लिए वह ईश्वरीय विधान था। कोई युक्ति, कोई तर्क, कोई चुटकी मुझ पर इतना स्थायी प्रभाव न

डाल सकती थी। सुफल को देखते हुए तो मैं यही कहूँगा कि जो कुछ हुआ, बहुत अच्छा हुआ। यही होना चाहिये था। पर उस समय दिल पर जो गुज़री थी, उसे याद करके आज भी नींद उचट जाती है।

अब विपत्ति-कथा को क्यों तूल दूँ। पाठक स्वयं अनुमान कर सकते हैं। ख़बर तो फैल ही गई, किन्तु मैंने झेंपने और शरमाने के बदले बेहयाई से काम लेना अधिक अनुकूल समझा। अपनी बेवकूफ़ी पर ख़ूब हँसता था, और बेधड़क अपनी दुर्दशा की कथा कहता था। हाँ, चालाकी यह की कि उसमें कुछ थोड़ा-सा अपनी तरफ़ से बढ़ा दिया, अर्थात् रात को जब मुझे नशा चढ़ा तो मैं बोतल और गिलास लिये साहब के कमरे में घुस गया था और उसे कुरसी से पटककर ख़ूब मारा था। इस क्षेपक से मेरी दलित, अपमानित, मर्दित आत्मा को थोड़ी-सी तस्कीन होती थी। दिल पर तो जो कुछ गुज़री, वह दिल ही जानता है।

सबसे बड़ा भय मुझे यह था कि कहीं यह बात मेरी पत्नी के कानों तक न पहुँचे, नहीं तो उन्हें बड़ा दुःख होगा। मालूम नहीं, उन्होंने सुना या नहीं ; पर कभी मुझसे इसकी चर्चा नहीं की।

क्षमा

(१)

मुसलमानों को स्पेन-देश पर राज्य करते कई शताब्दियाँ बीत चुकी थीं। कलीसाओं की जगह मसजिदें बनती जाती थीं ; घंटों की जगह अज़ान की आवाज़ें सुनाई देती थीं। ग़रनाता और अलहमरा में वे समय की नश्वर गति पर हँसनेवाले प्रासाद बन चुके थे, जिनके खँडहर अब तक देखनेवालों को अपने पूर्व ऐश्वर्य की झलक दिखाते हैं। ईसाइयों के गण्य-मान्य स्त्री और पुरुष मसीह की शरण छोड़कर इसलामी भ्रातृत्व में सम्मिलित होते जाते थे, और आज तक इतिहास-

कारों को यह आश्चर्य है कि ईसाइयों का निशान वहाँ क्योंकर बाक़ी रहा। जो ईसाई-नेता अब तक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाते थे, और अपने देश में स्वराज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे, उनमें एक सौदागर दाऊद भी था। दाऊद विद्वान् और साहसी था। वह अपने इलाक़े में इसलाम को क़दम न जमाने देता था। दीन और निर्धन ईसाई विद्रोही देश के अन्य प्रांतों से आकर उसके शरणागत होते थे और वह बड़ी उदारता से उनका पालन-पोषण करता था। मुसलमान दाऊद से सशंक रहते थे। वे धर्म-बल से उस पर विजय न पाकर उसे शस्त्र-बल से परास्त करना चाहते थे। पर दाऊद कभी उनका सामना न करता। हाँ, जहाँ कहीं ईसाइयों के मुसलमान होने की ख़बर पाता, वहाँ हवा की तरह पहुँच जाता, और तर्क या विनय से उन्हें अपने धर्म पर अचल रहने की प्रेरणा करता। अन्त में मुसलमानों ने चारों तरफ़ से घेरकर उसे गिरफ़्तार करने की तैयारी की। सेनाओं ने उसके इलाक़े को घेर लिया। दाऊद को प्राण-रक्षा के लिए अपने सम्बन्धियों के साथ भागना पड़ा। वह घर से भागकर ग़रनाता में आया, जहाँ उन दिनों इसलामी राजधानी थी। वहाँ सबसे अलग रहकर वह अच्छे दिनों की प्रतीक्षा में जीवन व्यतीत करने लगा। मुसलमानों के गुप्तचर उसका पता लगाने के लिए बहुत सिर मारते थे, उसे पकड़ लाने के लिए बड़े-बड़े इनामों की विज्ञप्ति निकाली जाती थी, पर दाऊद की टोह न मिलती थी।

(२)

एक दिन एकान्त-वास से उकताकर दाऊद ग़रनाता के एक बाग़ में सैर करने चला गया। सन्ध्या हो गई थी। मुसलमान नीची अबाएँ पहने, बड़े-बड़े अमामे सिर पर बाँधे, कमर से तलवार लटकाये रविशों में टहल रहे थे। स्त्रियाँ सफ़ेद बुरक़े ओढ़े, ज़री की जूतियाँ पहने बेंचों और कुरसियों पर बैठी हुई थीं। दाऊद सबसे अलग हरी-हरी घास पर लेटा हुआ सोच रहा था कि वह दिन कब आवेगा, जब हमारी जन्म-भूमि इन अत्याचारियों के पंजे से छूटेगी! वह अतीत काल की कल्पना

कर रहा था, जब ईसाई स्त्री और पुरुष इन रविशों में टहलते होंगे, जब यह स्थान ईसाइयों के परस्पर वाग्विलास से गुलज़ार होगा।

सहसा एक मुसलमान युवक आकर दाऊद के पास बैठ गया। वह इसे सिर से पाँव तक अपमान-सूचक दृष्टि से देखकर बोला—क्या अभी तक तुम्हारा हृदय इसलाम की ज्योति से प्रकाशित नहीं हुआ?

दाऊद ने गम्भीर भाव से कहा—इसलाम की ज्योति पर्वत-शृंगों को प्रकाशित कर सकती है। अँधेरी घाटियों में उसका प्रवेश नहीं हो सकता।

उस मुसलमान अरबी का नाम जमाल था। यह आक्षेप सुनकर तीव्र स्वर में बोला—इससे तुम्हारा क्या मतलब है!

दाऊद—इससे मेरा मतलब यही है कि ईसाइयों में जो लोग उच्च श्रेणी के हैं, वे जागीरों और राज्याधिकारों के लोभ तथा राजदंड के भय से इसलाम की शरण आ सकते हैं; पर दुर्बल और दीन ईसाइयों के लिए इसलाम में वह आसमान की बादशाहत कहाँ है, जो हज़रत मसीह के दामन में उन्हें नसीब होगी! इसलाम का प्रचार तलवार के बल से हुआ है, सेवा के बल से नहीं।

जमाल अपने धर्म का अपमान सुनकर तिलमिला उठा। गरम होकर बोला—यह सर्वथा मिथ्या है। इसलाम की शक्ति उसका आंतरिक भ्रातृत्व और साम्य है, तलवार नहीं।

दाऊद—इसलाम ने धर्म के नाम पर जितना रक्त बहाया है, उसमें उसकी सारी मसजिदें डूब जायँगी।

जमाल—तलवार ने सदा सत्य की रक्षा की है।

दाऊद ने अविचलित भाव से कहा—जिसको तलवार का आश्रय लेना पड़े, वह सत्य ही नहीं।

जमाल जातीय गर्व से उन्मत्त होकर बोला—जब तक मिथ्या के भक्त रहेंगे, तब तक तलवार की ज़रूरत भी रहेगी।

दाऊद—तलवार का मुँह ताकनेवाला सत्य ही मिथ्या है।

अरब ने तलवार के क़ब्ज़े पर हाथ रखकर कहा—ख़ुदा की

क़सम, अगर तुम निहत्थे न होते, तो तुम्हें इसलाम की तौहीन करने का मज़ा चखा देता।

दाऊद ने अपनी छाती में छिपाई हुई कटार निकालकर कहा—नहीं, मैं निहत्था नहीं हूँ। मुसलमानों पर जिस दिन इतना विश्वास करूँगा, उस दिन ईसाई न रहूँगा। तुम अपने दिल के अरमान निकाल लो।

दोनों ने तलवारें खींच लीं। एक दूसरे पर टूट पड़ा। अरब की भारी तलवार ईसाई की हलकी कटार के सामने शिथिल हो गई। एक सर्प की भाँति फन से चोट करती थी, दूसरी नागिन की भाँति उड़ती थी। एक लहरों की भाँति लपकती थी, दूसरी जल की मछलियों की भाँति चमकती थी। दोनों योद्धाओं में कुछ देर तक चोटें होती रहीं। सहसा एक बार नागिन उछलकर अरब के अन्तस्तल में जा पहुँची। वह भूमि पर गिर पड़ा।

(३)

जमाल के गिरते ही चारों तरफ़ से लोग दौड़ पड़े। वे दाऊद को घेरने की चेष्टा करने लगे। दाऊद ने देखा, लोग तलवारें लिये दौड़े चले आ रहे हैं। प्राण लेकर भागा। पर जिधर जाता था, सामने बाग़ की दीवार रास्ता रोक लेती थी। दीवार ऊँची थी, उसे फाँदना मुश्किल था। यह जीवन और मृत्यु का संग्राम था। कहीं शरण की आशा नहीं, कहीं छिपने का स्थान नहीं। उधर अरबों की रक्त-पिपासा प्रतिक्षण तीव्र होती जाती थी। यह केवल एक अपराधी को दंड देने की चेष्टा न थी। जातीय अपमान का बदला था। एक विजित ईसाई की यह हिम्मत कि अरब पर हाथ उठावे! ऐसा अनर्थ!

जिस तरह पीछा करनेवाले कुत्तों के सामने गिलहरी इधर-उधर दौड़ती है, किसी वृक्ष पर चढ़ने की बार-बार चेष्टा करती है, पर हाथ-पाँव फूल जाने के कारण बार-बार गिर पड़ती है, वही दशा दाऊद की थी।

दौड़ते दौड़ते उसका दम फूल गया; पैर मन-मन भर के हो गये।

कई बार जी में आया, इन सब पर टूट पड़े, और जितने महँगे प्राण बिक सकें, उतने महँगे बेचे। पर शत्रुओं की संख्या देखकर हतोत्साह हो जाता था।

लेना, दौड़ना, पकड़ना का शोर मचा हुआ था। कभी-कभी पीछा करनेवाले इतने निकट आ जाते थे कि मालूम होता था, अब संग्राम का अंत हुआ, वह तलवार पड़ी; पर पैरों की एक ही गति, एक कावा, एक कन्नी उसे ख़ून की प्यासी तलवारों से बाल-बाल बचा लेती थी।

दाऊद को अब इस संग्राम में खिलाड़ियों का-सा आनंद आने लगा। यह निश्चय था कि उसके प्राण नहीं बच सकते, मुसलमान दया करना नहीं जानते, इसलिए उसे अपने दावपेंच में मज़ा आ रहा था। किसी वार से बचकर उसे अब इसकी ख़ुशी न होती थी कि उसके प्राण बच गये, बल्कि इसका आनंद होता था कि उसने क़ातिल को कैसा ज़िच किया।

सहसा उसे अपनी दाहिनी ओर बाग़ की दीवार कुछ नीची नज़र आई। आह! यह देखते ही उसके पैरों में एक नई शक्ति का संचार हो गया, धमनियों में नया रक्त दौड़ने लगा। वह हिरन की तरह उस तरफ़ दौड़ा, और एक छलाँग में बाग़ के उस पार पहुँच गया। ज़िन्दगी और मौत में सिर्फ़ एक क़दम का फ़ासला था। पीछे मृत्यु थी, और आगे जीवन का विस्तृत क्षेत्र। जहाँ तक दृष्टि जाती थी, झाड़ियाँ ही नज़र आती थीं, ज़मीन पथरीली थी, कहीं ऊँची, कहीं नीची। जगह-जगह पत्थर की शिलाएँ पड़ी हुई थीं। दाऊद एक शिला के नीचे छिपकर बैठ गया।

दम भर में पीछा करनेवाले भी वहाँ आ पहुँचे, और इधर-उधर झाड़ियों में, वृक्षों पर, गड्ढों में, शिलाओं के नीचे तलाश करने लगे। एक अरब उस चट्टान पर आकर खड़ा हो गया, जिसके नीचे दाऊद छिपा हुआ था। दाऊद का कलेजा धकधक कर रहा था। अब जान गई! अरब ने ज़रा नीचे को झाँका, और प्राणों का

अन्त हुआ? संयोग—केवल संयोग पर अब उसका जीवन निर्भर था। दाऊद ने साँस रोक ली, सन्नाटा खींच लिया। एक निगाह पर उसकी ज़िन्दगी का फैसला था। ज़िन्दगी और मौत में कितना सामीप्य है!

मगर अरबों को इतना अवकाश कहाँ था कि वे सावधान होकर शिला के नीचे देखते। वहाँ तो हत्यारे को पकड़ने की जल्दी थी। दाऊद के सिर से बला टल गई। वे इधर-उधर ताक-झाँककर आगे बढ़ गये।

(४)

अँधेरा हो गया। आकाश में तारागण निकल आये, और तारों के साथ दाऊद भी शिला के नीचे से निकला। लेकिन देखा, तो उस समय भी चारों तरफ़ हलचल मची हुई है, शत्रुओं का दल मशालें लिए झाड़ियों में घूम रहा है; नाकों पर भी पहरा है, कहीं निकल भागने का रास्ता नहीं है। दाऊद एक वृक्ष के नीचे खड़ा होकर सोचने लगा कि अब क्योंकर जान बचे। उसे अपनी जान की वैसी परवा न थी। वह जीवन के सुख-दुःख सब भोग चुका था। अगर उसे जीवन की लालसा थी, तो केवल यही देखने के लिए कि इस संग्राम का अन्त क्या होगा। मेरे देशवासी हतोत्साह हो जायँगे, या अदम्य धैर्य के साथ संग्राम-क्षेत्र में अटल रहेंगे।

जब रात अधिक बीत गई, और शत्रुओं की घातक चेष्टा कुछ कम न होती देख पड़ी, तो दाऊद ख़ुदा का नाम लेकर झाड़ियों से निकला, और दबे-पाँव, वृक्षों की आड़ में, आदमियों की नज़रें बचाता हुआ, एक तरफ़ को चला। वह इन झाड़ियों से निकलकर बस्ती में पहुँच जाना चाहता था। निर्जनता किसी को आड़ नहीं कर सकती। बस्ती का जनबाहुल्य स्वयं आड़ है।

कुछ दूर तक तो दाऊद के मार्ग में कोई बाधा न उपस्थित हुई, बन के वृक्षों ने उसकी रक्षा की; किन्तु जब वह असमतल भूमि से निकलकर समतल भूमि पर आया; तो एक अरब की निगाह उस पर पड़ गई। उसने ललकारा। दाऊद भागा। क़ातिल भागा जाता है! यह

आवाज़ हवा में एक बार गूँजी, और क्षण-भर में चारों तरफ़ से अरबों ने उसका पीछा किया। सामने बहुत दूर तक आबादी का नामोनिशान न था। बहुत दूर पर एक धुँधला-सा दीपक टिमटिमा रहा था। किसी तरह वहाँ तक पहुँच जाऊँ! वह उस दीपक की ओर इतनी तेज़ी से दौड़ रहा था, मानो वहाँ पहुँचते ही अभय पा जायगा। आशा उसे उड़ाये लिये जाती थी। अरबों का समूह पीछे छूट गया, मशालों की ज्योति निष्प्रभ हो गई। केवल तारागण उसके साथ दौड़े चले आते थे। अन्त को वह आशामय दीपक सामने आ पहुँचा। एक छोटा-सा फूस का मकान था। एक बूढ़ा अरब ज़मीन पर बैठा हुआ, रेहल पर क़ुरान रखे उसी दीपक के मन्द प्रकाश में पढ़ रहा था। दाऊद आगे न जा सका। उसकी हिम्मत ने जवाब दे दिया। वहीं शिथिल होकर गिर पड़ा। रास्ते की थकन घर पहुँचने पर मालूम होती है।

अरब ने उठकर पूछा—तू कौन है?

दाऊद—एक ग़रीब ईसाई। मुसीबत में फँस गया हूँ। अब आप ही शरण दें, तो मेरे प्राण बच सकते हैं।

अरब—ख़ुदा-पाक तेरी मदद करेगा। तुझ पर क्या मुसीबत पड़ी हुई है?

दाऊद—डरता हूँ, कहीं कह दूँ तो आप भी मेरे ख़ून के प्यासे न हो जायँ।

अरब—जब तू मेरी शरण में आ गया, तो तुझे मुझसे कोई शंका न होनी चाहिये। हम मुसलमान हैं, जिसे एक बार अपनी शरण में ले लेते हैं, उसकी ज़िन्दगी भर रक्षा करते हैं।

दाऊद—मैंने एक मुसलमान युवक की हत्या कर डाली है।

वृद्ध अरब का मुख क्रोध से विकृत हो गया, बोला—उसका नाम?

दाऊद—उसका नाम जमाल था।

अरब सिर पकड़कर वहीं बैठ गया। उसकी आँखें सुर्ख़ हो गईं; गरदन की नसें तन गईं; मुख पर अलौकिक तेजस्विता की आभा दिखाई दी; नथने फड़कने लगे। ऐसा मालूम होता था कि उसके मन

में भीषण द्वंद्व हो रहा है, और वह समस्त विचार-शक्ति से अपने मनोभावों को दबा रहा है। दो-तीन मिनट तक वह इसी उग्र अवस्था में बैठा धरती की ओर ताकता रहा। अन्त को अवरुद्ध कंठ से बोला—नहीं, नहीं, शरणागत की रक्षा करनी ही पड़ेगी। आह! ज़ालिम! तू जानता है, मैं कौन हूँ? मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ, जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है! तू जानता है, तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है? तूने मेरे ख़ानदान का निशान मिटा दिया है! मेरा चिराग़ गुल कर दिया! आह, जमाल मेरा इकलौता बेटा था! मेरी सारी अभिलाषाएँ उसी पर निर्भर थीं। वही मेरी आँखों का उजाला, मुझ अन्धे का सहारा, मेरे जीवन का आधार, मेरे जर्जर शरीर का प्राण था। अभी अभी उसे क़ब्र की गोद में लिटाकर आया हूँ। आह, मेरा शेर आज ख़ाक के नीचे सो रहा है। ऐसा दिलेर, ऐसा दीनदार, ऐसा सजीला जवान मेरी क़ौम में दूसरा न था। ज़ालिम, तुझे उस पर तलवार चलाते ज़रा भी दया न आई! तेरा पत्थर का कलेजा ज़रा भी न पसीजा! तू जानता है, मुझे इस वक्त तुझ पर कितना ग़ुस्सा आ रहा है? मेरा जी चाहता है कि अपने दोनों हाथों से तेरी गरदन पकड़कर इस तरह दबाऊँ कि तेरी ज़बान बाहर निकल आवे, तेरी आँखें कौड़ियों की तरह बाहर निकल पड़ें। पर नहीं, तूने मेरी शरण ली है, कर्तव्य मेरे हाथों को बाँधे हुए है; क्योंकि हमारे रसूल-पाक ने हिदायत की है कि जो अपनी पनाह में आवे, उस पर हाथ न उठाओ। मैं नहीं चाहता कि नबी के हुक्म को तोड़कर दुनिया के साथ अपनी आक़बत भी बिगाड़ लूँ। दुनिया तूने बिगाड़ी, दीन अपने हाथों बिगाड़ूँ? नहीं। सब्र करना मुश्किल है; पर सब्र करूँगा, ताकि नबी के सामने आँखें नीची न करनी पड़ें। आ, घर में आ। तेरा पीछा करनेवाले वह दौड़े आ रहे हैं। तुझे देख लेंगे, तो फिर मेरी सारी मिन्नत-समाजत तेरी जान न बचा सकेगी। तू नहीं जानता कि अरब लोग ख़ून कभी माफ़ नहीं करते।

यह कहकर अरब ने दाऊद का हाथ पकड़ लिया, और उसे घर में ले जाकर एक कोठरी में छिपा दिया। वह घर से बाहर निकला ही था कि अरबों का एक दल उसके द्वार पर आ पहुँचा।

एक आदमी ने पूछा—क्यों शेख़ हसन, तुमने इधर से किसी को भागते देखा है ?

'हाँ, देखा है।'

'उसे पकड़ क्यों न लिया ? वही तो जमाल का क़ातिल था !'

'यह जानकर भी मैंने उसे छोड़ दिया।'

'एं ! ग़ज़ब ख़ुदा का ! यह तुमने क्या किया ? जमाल हिसाब के दिन हमारा दामन पकड़ेगा, तो हम क्या जवाब देंगे ?'

'तुम कह देना कि तेरे बाप ने तेरे क़ातिल को माफ़ कर दिया।'

'अरब ने कभी क़ातिल का ख़ून नहीं माफ़ किया।'

'यह तुम्हारी ज़िम्मेदारी है, मैं उसे अपने सिर क्यों लूँ ?'

अरबों ने शेख़ हसन से ज़्यादा हुज्जत न की, क़ातिल की तलाश में दौड़े। शेख़ हसन फिर चटाई पर बैठकर क़ुरान पढ़ने लगा। लेकिन उसका मन पढ़ने में न लगता था। शत्रु से बदला लेने की प्रवृत्ति अरबों की प्रवृत्ति में बद्धमूल होती थी। ख़ून का बदला ख़ून था। इसके लिए ख़ून की नदियाँ बह जाती थीं, क़बीले के क़बीले मर मिटते थे, शहर के शहर वीरान हो जाते थे। उस प्रवृत्ति पर विजय पाना शेख़ हसन को असाध्य-सा प्रतीत हो रहा था। बार-बार प्यारे पुत्र की सूरत उसकी आँखों के आगे फिरने लगती थी, बार-बार उसके मन में प्रबल उत्तेजना होती थी कि चलकर दाऊद के ख़ून से अपने क्रोध की आग बुझाऊँ। अरब वीर होते थे। कटना-मरना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। मरनेवालों के लिए वे आँसुओं की कुछ बूँदें बहाकर फिर अपने काम में प्रवृत्त हो जाते थे। वे मृत व्यक्ति की स्मृति को केवल उसी दशा में जीवित रखते थे, जब उसके ख़ून का बदला लेना होता था। अन्त को शेख़ हसन अधीर हो उठा। उसको भय हुआ कि अब मैं अपने ऊपर क़ाबू नहीं रख सकता। उसने तलवार म्यान से

निकाल ली, और दबे पाँव उस कोठरी के द्वार पर आकर खड़ा हो गया, जिसमें दाऊद छिपा हुआ था। तलवार को दामन में छिपाकर उसने धीरे से द्वार खोला। दाऊद टहल रहा था। बूढ़े अरब का रौद्र रूप देखकर दाऊद उसके मनोवेग को ताड़ गया। उसे बूढ़े से सहानुभूति हो गई। उसने सोचा, यह धर्म का दोष नहीं, जाति का दोष नहीं। मेरे पुत्र की किसी ने हत्या की होती, तो कदाचित् मैं भी उसके खून का प्यासा हो जाता। यही मानव-प्रकृति है।

अरब ने कहा—दाऊद, तुम्हें मालूम है, बेटे की मौत का कितना ग़म होता है ?

दाऊद—इसका अनुभव तो नहीं है, पर अनुमान कर सकता हूँ। अगर मेरी जान से आपके उस ग़म का एक हिस्सा भी मिट सके, तो लीजिये, यह सिर हाज़िर है। मैं इसे शौक़ से आपकी नज़र करता हूँ। आपने दाऊद का नाम सुना होगा।

अरब—क्या पीटर का बेटा ?

दाऊद—जी हाँ! मैं वही बदनसीब दाऊद हूँ। मैं केवल आपके बेटे का घातक ही नहीं, इसलाम का दुश्मन हूँ। मेरी जान लेकर आप जमाल के खून का बदला ही न लेंगे, बल्कि अपनी जाति और धर्म की सच्ची सेवा भी करेंगे।

शेख़ हसन ने गंभीर भाव से कहा—दाऊद, मैंने तुम्हें माफ़ किया। मैं जानता हूँ, मुसलमानों के हाथ ईसाइयों को बहुत तकलीफें पहुँची हैं; मुसलमानों ने उन पर बड़े-बड़े अत्याचार किये हैं, उनकी स्वाधीनता हर ली है! लेकिन यह इसलाम का नहीं, मुसलमानों का क़सूर है। विजय-गर्व ने मुसलमानों की मति हर ली है। हमारे पाक-नबी ने यह शिक्षा नहीं दी थी, जिस पर आज हम चल रहे हैं। वह स्वयं क्षमा और दया का सर्वोच्च आदर्श हैं। मैं इसलाम के नाम को बट्टा न लगाऊँगा। मेरी ऊँटनी ले लो, और रातो रात जहाँ तक भागा जाय, भागो। कहीं एक क्षण के लिए भी न ठहरना। अरबों को तुम्हारी बू भी मिल गई, तो तुम्हारी जान की ख़ैरियत नहीं। जाओ, तुम्हें खुदाए-

पाक घर पहुँचाते। बूढ़े शेख़ हसन और उसके बेटे जमाल के लिए ख़ुदा से दुआ किया करता।

× × ×

दाऊद ख़ैरियत से घर पहुँच गया ; किन्तु अब वह दाऊद न था, जो इसलाम को जड़ से खोदकर फेंक देना चाहता था। उसके विचारों में गहरा परिवर्तन हो गया था। अब वह मुसलमानों का आदर करता और इसलाम का नाम इज्ज़त से लेता था।

मनुष्य का परम धर्म

होली का दिन है। लड्डू के भक्त और रसगुल्ले के प्रेमी पण्डित मोटेराम शास्त्री अपने आँगन में एक टूटी खाट पर सिर झुकाये, चिन्ता और शोक की मूर्ति बने बैठे हैं। उनकी सहधर्मिणी उनके निकट बैठी हुई उनकी ओर सच्ची सहवेदना की दृष्टि से ताक रही हैं और अपनी मृदुवाणी से पति की चिन्ताग्नि को शान्त करने की चेष्टा कर रही हैं।

पण्डितजी बहुत देर तक चिन्ता में डूबे रहने के पश्चात् उदासीन भाव से बोले--नसीबा ससुरा न जाने कहाँ जाकर सो गया। होली के दिन भी न जागा !

पण्डिताइन--दिन ही बुरे आ गये हैं। हहाँ तो जौन दिन ते तुम्हरा हुकुम पावा ओही घड़ी ते साँझ-सबेरे दोनो जून सूरजनरायन से यही बरदान माँगा करित है कि कहूँ से बुलौआ आवै। सैकड़न दिया तुलसी माई का चढ़ावा मुदा सब सोय गये। गाढ़ परे कोऊ काम नाहीं आवत हैं।

मोटेराम—कुछ नहीं, ये देवी-देवता सब नाम के हैं। हमारे वखत पर काम आवे तब हम जानें कि हैं कोई देवी-देवता। संतमेंत में मालपुआ और हलुआ खानेवाले तो बहुत हैं।

पण्डिताइन—का सहर भर माँ अब कोऊ भला मनई नाही रहा ? सब मरि गये ?

मोटेराम—सब मर गये, बल्कि सड़ गये। दस-पाँच हैं तो साल-भर में दो-एक बार जीते हैं। वह भी बहुत हिम्मत की तो रुपए की तीन सेर मिठाई खिला दी। मेरा बस चलता तो इन सभों को सीधे काले-पानी भिजवा देता। यह सब इसी आरियासमाज की करनी है।

पण्डिताइन—तुमहूँ तो घर माँ बैठे रहत हौ। अब ई जमाने में कोई ऐसा दानी नाहीं है कि घर बैठे नेउता भेज देय। कभूं कभूं जुबान लड़ा दिया करौ!

मोटेराम—तुम कैसे जानती हो कि मैंने जबान नहीं लड़ाई! ऐसा कौन रईस इस शहर में है, जिसके यहाँ जाकर मैंने आशीर्वाद न दिया हो, मगर कौन ससुरा सुनता है। सब अपने-अपने रङ्ग में मस्त हैं।

इतने में पण्डित चिन्तामणिजी ने पदार्पण किया। यह पण्डित मोटेरामजी के परममित्र थे। हाँ, अवस्था कुछ कम थी और उसी के अनुकूल उनकी तोंद भी कुछ उतनी प्रतिभाशाली न थी।

मोटेराम—कहो मित्र, क्या समाचार लाये? है कहीं डौल?

चिन्तामणि—डौल नहीं, अपना सिर है! अब वह नसीबा ही नहीं रहा।

मोटेराम—घर ही से आ रहे हो?

चिन्तामणि—भाई, हम तो साधू हो जायँगे। जब इस जीवन में कोई सुख ही नहीं रहा तो जीकर क्या करेंगे? अब बताओ कि आज के दिन जब उत्तम पदार्थ न मिले तो कोई क्योंकर जिये।

मोटेराम—हाँ भाई, बात तो यथार्थ कहते हो।

चिन्तामणि—तो अब तुम्हारा किया कुछ न होगा? साफ़-साफ़ कहो, हम संन्यास ले लें।

मोटेराम—नहीं मित्र, घबराओ मत। जानते नहीं हो, बिना मरे स्वर्ग नहीं मिलता। तर माल खाने के लिए कठिन तपस्या करनी पड़ती है। हमारी राय है कि चलो इसी समय गङ्गा-तट पर चलें और वहाँ व्याख्यान दें। कौन जाने किसी सज्जन की आत्मा जागृत हो जाय।

चिन्तामणि—हाँ, बात तो अच्छी है; चलो चलें।

दोनों सज्जन उठकर गङ्गाजी की ओर चले, प्रातःकाल था। सहस्रों मनुष्य स्नान कर रहे थे। कोई पाठ करता था, कितने ही लोग पण्डों की चौकियों पर बैठे तिलक लगा रहे थे। कोई-कोई तो गीली धोती ही पहने घर जा रहे थे।

दोनों महात्माओं को देखते ही चारों तरफ़ से 'नमस्कार', 'प्रणाम' और 'पालागन' की आवाज़ें आने लगीं। दोनों मित्र इन अभिवादनों का उत्तर देते गङ्गातट पर जा पहुँचे और स्नानादि में प्रवृत्त हो गये। तत्पश्चात् एक पण्डे की चौकी पर भजन गाने लगे। यह एक ऐसी विचित्र घटना थी कि सैकड़ों आदमी कौतूहलवश आकर एकत्रित हो गये। जब श्रोताओं की संख्या कई सौ तक पहुँच गई तो पण्डित मोटे-राम गौरव-युक्त भाव से बोले—सज्जनो, आपको ज्ञात है कि जब ब्रह्मा ने इस असार संसार की रचना की तो ब्राह्मणों को अपने मुख से निकाला। किसी को इस विषय में शङ्का तो नहीं है?

श्रोतागण—नहीं महाराज, आप सर्वथा सत्य कहते हैं। आपको कौन काट सकता है?

मोटेराम—तो ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से निकले, यह निश्चय है। इसलिए मुख मानव शरीर का श्रेष्ठतम भाग है। अतएव मुख को सुख पहुँचाना, प्रत्येक प्राणी का परम कर्तव्य है। है या नहीं? कोई काटता है हमारे वचन को? सामने आये। हम उसे शास्त्र का प्रमाण दे सकते हैं।

श्रोतागण—महाराज, आप ज्ञानी पुरुष हैं। आपको काटने का साहस कौन कर सकता है?

मोटेराम—अच्छा, तो जब यह निश्चय हो गया कि मुख को सुख देना प्रत्येक प्राणी का परमधर्म है, तो क्या यह देखना कठिन है कि जो लोग मुख से विमुख हैं वे दुख के भागी हैं। कोई काटता है इस वचन को?

श्रोतागण—महाराज, आप धन्य हैं, आप न्यायशास्त्र के पण्डित हैं।

मोटेराम—अब प्रश्न यह होता है कि मुख को सुख कैसे दिया जाय? हम कहते हैं—जैसी तुम में श्रद्धा हो, जैसी तुममें सामर्थ्य हो।

इसके अनेक प्रकार हैं। देवताओं के गुण गाओ, ईश्वर वन्दना करो, सत्संग करो और कठोर वचन न बोलो। इन बातों से मुख को सुख प्राप्त होगा। किसी को विपत्ति में देखो तो उसे ढारस दो। इससे मुख को सुख होगा। किन्तु इन सब उपायों से श्रेष्ठ, सबसे उत्तम, सबसे उपयोगी एक और ही ढङ्ग है। कोई आप में ऐसा है जो उसे बतला दे? है कोई, बोले।

श्रोतागण—महाराज, आपके सम्मुख कौन मुँह खोल सकता है। आप बताने की कृपा कीजिये।

मोटेराम—अच्छा, तो हम चिल्लाकर, गला फाड़-फाड़कर, कहते हैं कि वह इन सब विधियों से श्रेष्ठ है। उसी भाँति जैसे चन्द्रमा समस्त नक्षत्रों में श्रेष्ठ है।

श्रोतागण—महाराज, अब विलम्ब न कीजिये। वह कौन-सी विधि है?

मोटेराम—अच्छा सुनिये, सावधान होकर सुनिये। वह विधि है मुख को उत्तम पदार्थों का भोजन करवाना, अच्छी-अच्छी वस्तु खिलाना। कोई काटता है हमारी बात को? आये, हम उसे वेद-मन्त्रों का प्रमाण दें।

एक मनुष्य ने शङ्का की—यह समझ में नहीं आता कि सत्यभाषण से मिष्टभक्षण क्योंकर मुख के लिए अधिक सुखकारी हो सकता है?

कई मनुष्यों ने कहा—हाँ, हाँ, हमें भी यही शंका है। महाराज, इस शंका का समाधान कीजिये।

मोटेराम—और किसी को कोई शंका है? हम बहुत प्रसन्न होकर उसका निवारण करेंगे। सज्जनो, आप पूछते हैं कि उत्तम पदार्थों का भोजन करना और कराना क्योंकर सत्य-भाषण से अधिक सुखदायी है। मेरा उत्तर है कि पहला रूप प्रत्यक्ष है और दूसरा अप्रत्यक्ष। उदाहरणतः, कल्पना कीजिये कि मैंने कोई अपराध किया। यदि हाकिम मुझे बुलाकर नम्रतापूर्वक समझाये कि पण्डितजी, आपने यह अच्छा काम नहीं किया, आपको ऐसा उचित नहीं था; तो उसका यह दण्ड

मुझे सुमार्ग पर लाने में सफल न होगा। सज्जनो, मैं ऋषि नहीं हूँ, मैं दीन-हीन माया-जाल में फँसा हुआ प्राणी हूँ। मुझ पर इस दण्ड का कोई प्रभाव न होगा। मैं हाकिम के सामने से हटते ही फिर उसी कुमार्ग पर चलने लगूँगा। मेरी बात समझ में आती है? कोई उसे काटता है?

श्रोतागण—महाराज! आप विद्यासागर हैं, आप पण्डितों के भूषण हैं। आपको धन्य है।

मोटेराम—अच्छा, अब उसी उदाहरण पर फिर विचार करो। हाकिम ने बुलाकर तत्क्षण कारागार में डाल दिया और वहाँ मुझे नाना प्रकार के कष्ट दिये गये। अब जब मैं छूटूँगा, तो बरसों तक यातनाओं को याद करता रहूँगा और सम्भवतः कुमार्ग को त्याग दूँगा। आप पूछेंगे, ऐसा क्यों है? दण्ड दोनों ही हैं, तो क्यों एक का प्रभाव पड़ता है और दूसरे का नहीं। इसका कारण यही है कि एक का रूप प्रत्यक्ष है और दूसरे का गुप्त। समझे आप लोग?

श्रोतागण— धन्य हो कृपानिधान! आपको ईश्वर ने बड़ी बुद्धि-सामर्थ्य दी है।

मोटेराम—अच्छा, तो अब आपका प्रश्न होता है कि उत्तम पदार्थ किसे कहते हैं? मैं इसकी विवेचना करता हूँ। जैसे भगवान् ने नाना प्रकार के रङ्ग नेत्रों के विनोदार्थ बनाये, उसी प्रकार मुख के लिए भी अनेक रसों की रचना की; किन्तु इन समस्त रसों में श्रेष्ठ कौन है? यह अपनी-अपनी रुचि है। लेकिन, वेदों और शास्त्रों के अनुसार मिष्ट रस प्रधान माना जाता है। देवतागण इसी रस पर मुग्ध होते हैं; यहाँ तक कि सच्चिदानन्द, सर्वशक्तिमान् भगवान् को भी मिष्ट पाकों ही से अधिक रुचि है। कोई ऐसे देवता का नाम बता सकता है जो नमकीन वस्तुओं को ग्रहण करता हो? है कोई जो ऐसे एक भी दिव्य ज्योति का नाम बता सके? कोई नहीं है। इसी भाँति खट्टे, कड़ुवे, और चरपरे, कसैले पदार्थों से भी देवताओं को प्रीति नहीं है।

श्रोतागण—महाराज, आपकी बुद्धि अपरम्पार है।

मोटेराम—तो यह सिद्ध हो गया कि मीठे पदार्थ सब पदार्थों में

श्रेष्ठ हैं। अब आपका पुनः प्रश्न होता है कि क्या समग्र मीठी वस्तुओं से मुख को समान आनन्द प्राप्त होता है। यदि मैं कह दूँ 'हाँ' तो आप चिल्ला उठेंगे कि पण्डितजी तुम बावले हो, इसलिए मैं कहूँगा, 'नहीं' और बारम्बार 'नहीं'। सब मीठे पदार्थ समान रोचकता नहीं रखते। गुड़ और चीनी में बहुत भेद है। इसलिए मुख को मुख देने के लिए हमारा परम कर्त्तव्य है कि हम उत्तम से उत्तम मिष्ट पाकों का सेवन करें और करायें। मेरा अपना विचार है कि यदि आपके थाल में जौनपुर की अमृतियाँ, आगरे के मोतीचूर, मथुरा के पेड़े, बनारस की कलाकन्द, लखनऊ के रसगुल्ले, अयोध्या के गुलाबजामुन और दिल्ली का हलुवा-सोहन हो तो वह ईश्वर-भोग के योग्य है। देवतागण उस पर मुग्ध हो जायँगे। और जो साहसी, पराक्रमी जीव ऐसे स्वादिष्ट थाल ब्राह्मणों को जिमायेगा, उसे सदेह स्वर्गधाम प्राप्त होगा। यदि आपको श्रद्धा है तो हम आपसे अनुरोध करेंगे कि अपना धर्म अवश्य पालन कीजिये, नहीं तो, मनुष्य बनने का नाम न लीजिये।

पण्डित मोटेराम का भाषण समाप्त हो गया। तालियाँ बजने लगीं। कुछ सज्जनों ने इस ज्ञान-वर्षा और धर्मोपदेश से मुग्ध होकर उन पर फूलों की वर्षा की। तब पण्डित चिन्तामणिजी ने अपनी वाणी को विभूषित किया—

सज्जनो, आपने मेरे परम मित्र पण्डित मोटेरामजी का प्रभावशाली व्याख्यान सुना। और, अब मेरे खड़े होने की आवश्यकता न थी। परन्तु, जहाँ मैं उनसे और सभी विषयों में सहमत हूँ वहाँ उनसे मुझे थोड़ा मतभेद भी है। मेरे विचार में यदि आपके थाल में केवल जौनपुर की अमृतियाँ हों तो वह पँचमेल मिठाइयों से कहीं सुखवर्द्धक, कहीं स्वादपूर्ण और कहीं कल्याणकारी होगा। इसे मैं शास्त्रोक्त सिद्ध कर सकता हूँ।

मोटेरामजी ने सरोष होकर कहा—तुम्हारी यह कल्पना मिथ्या है। आगरे के मोतीचूर और दिल्ली के हलुदा-सोहन के सामने जौनपुर की अमृतियों की तो कोई गणना ही नहीं है।

चिन्ता०—प्रमाण से सिद्ध कीजिये।

मोटेराम—प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण ?

चिन्ता०—यह तुम्हारी मूर्खता है।

मोटेराम—तुम जन्मभर खाते ही रहे, किन्तु खाना न आया !

इस पर चिन्तामणिजी ने अपनी आसनी मोटेराम पर चलाई। शास्त्रीजी ने वार ख़ाली दिया और चिन्तामणि की ओर मस्त हाथी के समान झपटे ; किन्तु उपस्थित सज्जनों ने दोनों महात्माओं को अलग अलग कर दिया।

गुरु-मन्त्र

घर के कलह और निमंत्रणों के अभाव से पण्डित चिन्तामणिजी के चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ, और उन्होंने संन्यास ले लिया तो उनके परम मित्र पण्डित मोटेराम शास्त्रीजी ने उपदेश दिया—मित्र, हमारा अच्छे-अच्छे साधु-महात्माओं से सत्संग रहा है। वह जब किसी भलेमानस के द्वार पर जाते हैं, तो गिड़गिड़ाकर हाथ नहीं फैलाते और झूठ-मूठ आशीर्वाद नहीं देने लगते कि, 'नारायण तुम्हारा चोला मस्त रखे, तुम सदा सुखी रहो।' यह तो भिखारियों का दस्तूर है। संत लोग द्वार पर जाते ही कड़ककर हाँक लगाते हैं जिसमें घर के लोग चौंक पड़ें और उत्सुक होकर द्वार की ओर दौड़ें। मुझे दो चार प्रसिद्ध वाणियाँ मालूम हैं, जो चाहें ग्रहण कर लो। गुदड़ी बाबा कहा करते थे—'मरे तो पाँचों मरें।' यह ललकार सुनते ही लोग उनके पैरों पर गिर पड़ते थे। सिद्ध भगत की हाँक बहुत उत्तम थी—'खाओ, पिओ, चैन करो, पहनो गहना ; पर बाबाजी के सोंटे से डरते रहना।' नंगा बाबा कहा करते थे—'दे तो दे, नहीं दिला दे, खिला दे, पिला दे, सुला दे।' यह समझ लो कि तुम्हारा आदर-सत्कार बहुत कुछ तुम्हारी हाँक के ऊपर है। और क्या कहूँ। भूलना मत। हम और तुम बहुत

दिनों साथ रहे, सैकड़ों भोज साथ खाये। जिस नेवते में हम और तुम दोनो पहुँचते थे, तो लाग-डाँट से एक दो पत्तल और उड़ा जाते थे। तुम्हारे बिना अब मेरा रङ्ग न जमेगा, ईश्वर तुम्हें सदा सुगन्धित वस्तु दिखाये।

चिन्तामणि को इन वाणियों में एक भी पसंद न आई। बोले--मेरे लिए कोई वाणी सोचो।

मोटेराम—अच्छा यह वाणी कैसी है कि, न दोगे तो हम चढ़ बैठेंगे।

चिन्तामणि—हाँ, यह मुझे पसन्द है। तुम्हारी आज्ञा हो तो इसमें काट-छाँट करूँ।

मोटेराम—हाँ हाँ, करो।

चिन्ता०—अच्छा, तो इसे इस भाँति रखो—न देगा तो हम चढ़ बैठेंगे।

मोटेराम—(उछलकर) नारायण जानता है, यह वाणी अपने रंग में निराली है। भक्ति ने तुम्हारी बुद्धि को चमका दिया है। भला एक बार ललकारकर कहो तो देखें कैसे कहते हो।

चिन्तामणि ने दोनों कान उँगलियों से बन्द कर लिये और अपनी पूरी शक्ति से चिल्लाकर बोले—न देगा तो चढ़ बैठूँगा। यह नाद ऐसा आकाशभेदी था कि मोटेराम भी सहसा चौंक पड़े। चमगादड़ घबड़ाकर वृक्षों पर से उड़ गये, कुत्ते भूँकने लगे।

मोटेराम—मित्र, तुम्हारी वाणी सुनकर मेरा तो कलेजा काँप उठा। ऐसी ललकार कहीं सुनने में नहीं आई, तुम सिंह की भाँति गरजते हो। वाणी तो निश्चित हो गई, अब कुछ दूसरी बातें बताता हूँ, कान देकर सुनो। साधुओं की भाषा हमारी बोल-चाल से अलग होती है। हम किसी को आप कहते हैं, किसी को तुम। साधु लोग छोटे बड़े, अमीर-ग़रीब, बूढ़े-जवान, सबको तू कहकर पुकारते हैं। माई और बाबा का सदैव उचित व्यवहार करते रहना। यह भी याद रखो कि सादी हिन्दी कभी मत बोलना। नहीं तो भरम खुल जायगा। टेढ़ी

हिन्दी बोलना ; यह कहना कि, माई मुझको कुछ खिला दे, साधुजनों की भाषा में ठीक नहीं है। पक्का साधु इसी बात को यों कहेगा—माई मेरे को भोजन करा दे, तेरे को बड़ा धर्म होगा।

चिन्ता०—मित्र, हम तेरे को कहाँ तक जस गावें। तेरे ने मेरे साथ बड़ा उपकार किया है।

यों उपदेश देकर मोटेराम विदा हुए। चिन्तामणिजी आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक गाँजे-भाँग की दूकान के सामने कई जटाधारी महात्मा बैठे हुए गाँजे के दम लगा रहे हैं। चिन्तामणि को देखकर एक महात्मा ने अपनी जयकार सुनाई—चल-चल, जल्दी लेके चल, नहीं तो अभी करता बेकल।

एक दूसरे साधु ने कड़ककर कहा—अ-रा-रा-रा-धम, आय पहुँचे हम, अब क्या है गम।

अभी यह कड़ाका आकाश में गूँज ही रहा था कि तीसरे महात्मा ने गरजकर अपनी वाणी सुनाई—देस बङ्गाला, जिसको देखा न भाला, चटपट भर दे प्याला।

चिन्तामणिजी से अब न रहा गया। उन्होंने भी कड़ककर कहा—न देगा तो चढ़ बैठूँगा।

यह सुनते ही साधुजन ने चिन्तामणि का सादर अभिवादन किया। तत्क्षण गाँजे की चिलम भरी गई और उसे सुलगाने का भार पण्डितजी पर पड़ा। बेचारे बड़े असमंजस में पड़े। सोचा, अगर चिलम नहीं लेता तो अभी सारी क़लई खुल जायगी। विवश होकर चिलम ले ली ; किन्तु जिसने कभी गाँजा न पिया हो, वह बहुत चेष्टा करने पर भी दम नहीं लगा सकता। उन्होंने आँखें बन्द करके अपनी समझ में तो बड़े ज़ोर से दम लगाया, चिलम हाथ से छूटकर गिर पड़ी, आँखें निकल आईं, मुँह से फिचकुर निकल आया, मगर न तो मुँह से धुएँ के बादल निकले, न चिलम ही सुलगी। उनका यह कच्चापन उन्हें साधु-समाज से च्युत करने के लिए काफ़ी था। दो-तीन साधु झल्लाकर आगे बढ़े और बड़ी निर्दयता से उनका हाथ पकड़कर उठा दिया।

एक महात्मा—तेरे को धिक्कार है !

दूसरे महात्मा—तेरे को लाज नहीं आती ! साधु बना है मूर्ख !

पण्डितजी लज्जित होकर समीप के एक हलवाई की दूकान के सामने जा बैठे और साधु-समाज ने खँजड़ी बजा-बजाकर यह भजन गाना शुरू किया—

माया है संसार सँवलिया, माया है संसार :
धर्माधर्म सभी कुछ मिथ्या : यही ज्ञान-व्यवहार :
सँवलिया माया है संसार।
गांजे, भंग को वर्जित करते हैं उनपर धिक्कार :
सँवलिया माया है संसार।

सौभाग्य के कोड़े

लड़के क्या अमीर के हों, क्या ग़रीब के, विनोदशील हुआ ही करते हैं। उनकी चंचलता बहुधा उनकी दशा और स्थिति की परवा नहीं करती। नथुवा के मा-बाप दोनों मर चुके थे, अनाथों की भाँति वह राय भोलानाथ के द्वार पर पड़ा रहता था। रायसाहब दयाशील पुरुष थे। कभी-कभी उसे एक-आधा पैसा दे देते, खाने को भी घर में इतना जूठा बचता था कि ऐसे-ऐसे कई अनाथ अफर सकते थे, पहनने को भी उनके लड़कों के उतारे मिल जाते थे, इसलिए नथुवा अनाथ होने पर भी दुखी नहीं था। रायसाहब ने उसे एक ईसाई के पंजे से छुड़ाया था। उन्हें इसकी परवा न हुई कि मिशन में उसकी शिक्षा होगी, आराम से रहेगा ; उन्हें यह मंज़ूर था कि यह हिन्दू रहे। अपने घर के जूठे भोजन को वह मिशन के भोजन से कहीं पवित्र समझते थे। उनके कमरों की सफ़ाई मिशन-पाठशाला की पढ़ाई से कहीं बढ़-कर थी। हिन्दू रहे, चाहे जिस दशा में रहे। ईसाई हुआ तो फिर सदा के लिए हाथ से निकल गया।

नथुवा को बस रायसाहब के बँगले में झाड़ू लगा देने के सिवाय और कोई काम न था। भोजन करके खेलता फिरता था। कर्मानुसार ही उसकी वर्ण-व्यवस्था भी हो गई। घर के अन्य नौकर-चाकर उसे भंगी कहते थे और नथुवा को इसमें कोई एतराज़ न होता था। नाम का स्थिति पर क्या असर पड़ सकता है इसकी उस ग़रीब को कुछ ख़बर न थी। भंगी बनने में कुछ हानि भी न थी। उसे झाड़ू देते समय कभी पैसे पड़े मिल जाते, कभी कोई और चीज़। इससे वह सिगरेट लिया करता था। नौकरों के साथ उठने-बैठने से उसे बचपन ही में तम्बाकू, सिगरेट, पान का चस्का पड़ गया था।

रायसाहब के घर में यों तो बालकों और बालिकाओं की कमी न थी, दरजनों भांजे-भतीजे पड़े रहते थे, पर उनकी निज की संतान केवल एक पुत्री थी, जिसका नाम रत्ना था। रत्ना को पढ़ाने को दो मास्टर थे, एक मेमसाहब अँगरेज़ी पढ़ाने आया करती थी। रायसाहब की यह हार्दिक अभिलाषा थी कि रत्ना सर्वगुण-आगरी हो और जिस घर में जाय उसकी लक्ष्मी बने। वह उसे अन्य बालकों के साथ न रहने देते थे। उसके लिए अपने बँगले में दो कमरे अलग कर दिये थे, एक पढ़ने के लिए दूसरा सोने के लिए। लोग कहते हैं, लाड़-प्यार से बच्चे ज़िद्दी और शरीर हो जाते हैं। रत्ना इतने लाड़-प्यार पर भी बड़ी सुशीला बालिका थी। किसी नौकर को 'रे' न पुकारती, किसी भिखारी तक को न दुत्कारती। नथुवा को वह पैसे, मिठाइयाँ दे दिया करती थी। कभी कभी उससे बातें भी किया करती थी। इससे वह लौंडा उसके मुँह लग गया था।

एक दिन नथुवा रत्ना के सोने के कमरे में झाड़ू लगा रहा था। रत्ना दूसरे कमरे में मेमसाहब से अँगरेज़ी पढ़ रही थी। नथुवा की शामत जो आई तो झाड़ू लगाते-लगाते उसके मन में यह इच्छा हुई कि रत्ना के पलंग पर सोऊँ, कैसी उजली चादर बिछी हुई है, गद्दा कितना नरम और मोटा है, कैसा सुन्दर दुशाला है। रत्ना इस गद्दे पर कितने आराम से सोती है, जैसे चिड़िया के बच्चे घोंसले में। तभी तो

रत्ना के हाथ इतने गोरे और कोमल हैं, मालूम होता है, देह में रुई भरी हुई है। यहाँ कौन देखता है। यह सोचकर उसने पैर फ़र्श पर पोंछे और चटपट पलंग पर आकर लेट गया और दुशाला ओढ़ लिया। गर्व और आनन्द से उसका हृदय पुलकित हो गया। वह मारे ख़ुशी के दो-तीन बार पलंग पर उछल पड़ा। उसे ऐसा मालूम हो रहा था, मानो मैं रुई में लेटा हूँ, जिधर करवट लेता था, देह अंगुलभर नीचे धँस जाती थी। यह स्वर्गीय सुख मुझे कहाँ नसीब! मुझे भगवान् ने रायसाहब का बेटा क्यों न बनाया? सुख का अनुभव होते ही उसे अपनी दशा का वास्तविक ज्ञान हुआ और चित्त क्षुब्ध हो गया। एकाएक रायसाहब किसी ज़रूरत से कमरे में आये तो नथुवा को रत्ना के पलंग पर लेटे देखा। मारे क्रोध के जल उठे। बोले—क्यों बे सुअर, तू यह क्या कर रहा है!

नथुवा ऐसा घबराया मानो नदी में पैर फिसल पड़े हों। चारपाई से कूदकर अलग खड़ा हो गया और फिर झाड़ू हाथ में ले ली।

रायसाहब ने फिर पूछा—यह क्या कर रहा था, बे?

नथुवा—कुछ तो नहीं सरकार।

रायसाहब—अब तेरी इतनी हिम्मत हो गई है कि रत्ना की चारपाई पर सोये? नमकहराम कहीं का! लाना मेरा हन्टर!

हन्टर मँगवाकर रायसाहब ने नथुवा को ख़ूब पीटा। बेचारा हाथ जोड़ता था, पैरों पड़ता था, मगर रायसाहब का क्रोध शान्त होने का नाम न लेता था। सब नौकर जमा हो गये और नथुवा के जले पर नमक छिड़कने लगे। रायसाहब का क्रोध और भी बढ़ा। हन्टर हाथ से फेंककर ठोकरों से मारने लगे। रत्ना ने यह रोना सुना तो दौड़ी हुई आई और यह समाचार सुनकर बोली—दादाजी, बेचारा मर जायगा, अब इस पर दया कीजिये।

रायसाहब—मर जायगा, उठवाकर फेंक दूँगा। इस बदमाशी का मज़ा तो मिल जायगा।

रत्ना—मेरी ही चारपाई थी न, मैं उसे क्षमा करती हूँ।

रायसाहब--ज़रा देखो तो अपनी चारपाई की गत। पाजी के बदन की मैल भर गई होगी। भला, इसे सूझी क्या? क्यों बे, तुझे सूझी क्या?

यह कहकर रायसाहब फिर लपके; मगर नथुवा आकर रत्ना के पीछे दबक गया। इसके सिवा और कहीं शरण न थी। रत्ना ने रोकर कहा—दादाजी, मेरे कहने से अब इसका अपराध क्षमा कीजिये।

रायसाहब— क्या कहती हो रत्ना, ऐसे अपराधी कहीं क्षमा किये जाते हैं। ख़ैर, तुम्हारे कहने से छोड़े देता हूँ, नहीं तो आज जान लेकर छोड़ता। सुना बे नथुवा, अपना भला चाहता है तो फिर यहाँ न आना, इसी दम निकल जा, सुअर, नालायक़!

नथुआ प्राण छोड़कर भागा। पीछे फिरकर भी न देखा। सड़क पर पहुँचकर वह खड़ा हो गया। यहाँ रायसाहब उसका कुछ नहीं कर सकते थे। यहाँ सब लोग उनकी मुँह-देखी तो न कहेंगे। कोई तो कहेगा कि लड़का था, भूल ही हो गई तो क्या प्राण ले लीजियेगा। यहाँ मारें तो देखूँ, गाली देकर भागूँगा, फिर कौन मुझे पा सकता है। इस विचार से उसकी हिम्मत बँधी। बँगले की तरफ मुँह करके ज़ोर से बोला---यहाँ आओ तो देखें, और फिर भागा कि कहीं रायसाहब ने सुन न लिया हो।

(२)

नथुवा थोड़ी ही दूर गया था कि रत्ना की मेमसाहबा अपने टमटम पर सवार आती हुई दिखाई दीं। उसने समझा, शायद मुझे पकड़ने आ रही हैं। फिर भागा, किन्तु जब पैरों में दौड़ने की शक्ति न रही तो खड़ा हो गया। उसके मन ने कहा, वह मेरा क्या कर लेंगी, मैंने उनका कुछ बिगाड़ा है? एक क्षण में मेमसाहबा आ पहुँचीं और टमटम रोककर बोलीं—नत्थू, कहाँ जा रहे हो?

नथुवा—कहीं नहीं।

मेम०—रायसाहब के यहाँ फिर जायगा तो वह और मारेंगे। क्यों नहीं मेरे साथ चलता। मिशन में आराम से रह! आदमी हो जायगा।

नथुवा—किरस्तान तो न बनाओगी ?

मेम०—किरस्तान क्या भंगी से भी बुरा है, पागल ?

नथुवा—न भैया, किरस्तान न बनूँगा।

मेम०—तेरा जी न चाहे न बनना, कोई ज़बरदस्ती थोड़े ही बना देगा।

नथुवा थोड़ी देर तक टमटम के साथ चला ; पर उसके मन में संशय बना हुआ था। सहसा वह उतर गया। मेमसाहबा ने पूछा—क्यों, चलता क्यों नहीं ?

नथुवा—मैंने सुना है, मिशन में जो कोई जाता है किरस्तान हो जाता है। मैं न जाऊँगा। आप झाँसा देती हैं।

मेम०—अरे पागल, वहाँ तुझे पढ़ाया जायगा, किसी की चाकरी न करनी पड़ेगी। शाम को खेलने की छुट्टी मिलेगी। कोट-पतलून पहनने को मिलेगा। चलके दो-चार दिन देख तो ले !

नथुवा ने इस प्रलोभन का उत्तर न दिया। एक गली से होकर भागा। जब टमटम दूर निकल गया तो वह निश्चिन्त होकर सोचने लगा—कहा जाऊँ ? कहीं कोई सिपाही पकड़कर थाने न ले जाय। मेरी बिरादरी के लोग तो यहाँ रहते हैं। क्या वह मुझे अपने घर न रखेंगे। कौन बैठकर खाऊँगा, काम तो करूँगा। बस, किसी को पीठ पर रहना चाहिये। आज कोई मेरी पीठ पर होता तो मजाल थी कि रायसाहब मुझे यों मारते। सारी बिरादरी जमा हो जाती, घेर लेती, घर की सफ़ाई बन्द हो जाती, कोई द्वार पर झाड़ू तक न लगाता। सारी रायसाहबी निकल जाती ! यह निश्चय करके वह घूमता-घामता भंगियों के मुहल्ले में पहुँचा। शाम हो गई थी, कई भंगी एक पेड़ के नीचे चटाइयों पर बैठे शहनाई और तबला बजा रहे थे। वह नित्य इसका अभ्यास करते थे। यह उनकी जीविका थी। गान-विद्या की यहाँ जितनी छीछालेदर हुई है, उतनी और कहीं न हुई होगी। नथुवा जाकर वहाँ खड़ा हो गया। उसे बहुत ध्यान से सुनते देखकर एक भंगी ने पूछा—कुछ गाता है ?

नथुवा—अभी तो नहीं गाता ; पर सिखा दोगे तो गाने लगूँगा।

भंगी—बहाना मत कर, बैठ, कुछ गाकर सुना, मालूम तो हो कि तेरे गला भी है या नहीं, गला ही न होगा तो क्या कोई सिखायेगा।

नथुवा मामूली बाज़ार के लड़कों की तरह कुछ-न-कुछ गाना जानता ही था, रास्ता चलता तो कुछ-न-कुछ गाने लगता था। तुरन्त गाने लगा। उस्ताद ने सुना, जौहरी था, समझ गया कि यह काँच का टुकड़ा नहीं। बोला—कहाँ रहता है ?

नथुवा ने अपनी राम-कहानी सुनाई, परिचय हो गया। उसे आश्रय मिल गया और विकास का वह अवसर मिल गया, जिसने उसे भूमि से आकाश पर पहुँचा दिया।

(३)

तीन साल उड़ गये, नथुवा के गाने की सारे शहर में धूम मच गई। और वह केवल एक गुणी नहीं, सर्वगुणी था ; गाना, शहनाई बजाना, पखावज, सारंगी, तम्बूरा, सितार—सभी कलाओं में दक्ष हो गया। उस्तादों को भी उसकी चमत्कारिक बुद्धि पर आश्चर्य होता था। ऐसा मालूम होता था कि उसने पहले की पढ़ी हुई विद्या दुहरा ली है। लोग दस-दस सालों तक सितार बजाना सीखते रहते हैं और नहीं आता, नथुवा को एक महीने में उसके तारों का ज्ञान हो गया। ऐसे कितने ही रत्न पड़े हुए हैं, जो किसी पारखी से भेंट न होने के कारण मिट्टी में मिल जाते हैं।

संयोग से इन्हीं दिनों ग्वालियर में एक संगीत-सम्मेलन हुआ। देश-देशान्तरों से संगीत के आचार्य निमन्त्रित हुए। उस्ताद घूरे को भी नेवता मिला। नथुवा इन्हीं का शिष्य था। उस्ताद ग्वालियर चले तो नाथू को भी साथ लेते गये। एक सप्ताह तक ग्वालियर में बड़ी धूमधाम रही। नाथूराम ने वहाँ ख़ूब नाम कमाया। उसे सोने का तमग़ा इनाम मिला। ग्वालियर के संगीत-विद्यालय के अध्यक्ष ने उस्ताद घूरे से आग्रह किया कि नाथूराम को संगीत-विद्यालय में दाख़िल

करा दो। यहाँ संगीत के साथ उसकी शिक्षा भी हो जायगी। घूरे को मानना पड़ा। नाथूराम भी राज़ी हो गया।

नाथूराम ने पाँच वर्षों में विद्यालय की सर्वोच्च उपाधि प्राप्त कर ली। इसके साथ-साथ भाषा, गणित और विज्ञान में भी उसकी बुद्धि ने अपनी प्रखरता का परिचय दिया। अब वह समाज का भूषण था। कोई उससे न पूछता था, कौन जाति हो, उसका रहन-सहन, तौर-तरीक़ा अब गायकों का-सा नहीं, शिक्षित समुदाय का-सा था। अपने सम्मान की रक्षा के लिए वह ऊँचे वर्णवालों का-सा आचरण रखने लगा। मदिरा-मांस त्याग दिया, नियमित रूप से सन्ध्योपासना करने लगा। कोई कुलीन ब्राह्मण भी इतना आचार-विचार न करता होगा। नाथूराम तो पहले ही उसका नाम हो चुका था। अब उसका कुछ और सुसंस्कार हुआ। वह ना० रा० आचार्य मशहूर हो गया। साधारणतः लोग 'आचार्य' ही कहा करते थे। राज्य-दरबार से उसे अच्छा वेतन मिलने लगा। १८ वर्ष की आयु में इतनी ख्याति बिरले ही किसी गुणी को नसीब होती है। लेकिन ख्याति-प्रेम वह प्यास है, जो कभी नहीं बुझती, वह अगस्त ऋषि की भाँति सागर को पीकर भी शान्त नहीं होता। महाशय आचार्य ने योरोप को प्रस्थान किया। वह पाश्चात्य संगीत पर भी अधिकृत होना चाहते थे। जर्मनी के सबसे बड़े संगीत-विद्यालय में दाख़िल हो गये और पाँच वर्षों के निरन्तर परिश्रम और उद्योग के बाद आचार्य की पदवी लेकर इटली की सैर करते हुए ग्वालियर लौट आये और उसके एक ही सप्ताह के बाद मदन कम्पनी ने उन्हें तीन हज़ार रुपए मासिक वेतन पर अपनी सब शाखाओं का निरीक्षक नियुक्त किया। वह योरोप जाने के पहले ही हज़ारों रुपए जमा कर चुके थे। योरोप में भी ओपराओं और नाट्य-शालाओं में उनकी ख़ूब आवभगत हुई थी। कभी-कभी एक-एक दिन में इतनी आमदनी हो जाती थी, जितनी यहाँ के बड़े-से-बड़े गवैयों को बरसों में भी नहीं होती। लखनऊ से विशेष प्रेम होने के कारण उन्होंने वहीं निवास करने का निश्चय किया।

(४)

आचार्य महाशय लखनऊ पहुँचे तो उनका चित्त गद्गद् हो गया। यहीं उनका बचपन बीता था, यहीं एक दिन वह अनाथ थे, यहीं गलियों में कनकौए लूटते फिरते थे, यहीं बाज़ारों में पैसे माँगते फिरते थे। आह! यहीं उन पर हंटरों की मार पड़ी थी जिसके निशान अब तक बने थे। अब वह दाग़ उन्हें सौभाग्य की रेखाओं से भी प्रिय लगते। यथार्थ में वह कोड़ों की मार उनके लिए शिव का वरदान थी। रायसाहब के प्रति अब उनके दिल में क्रोध या प्रतिकार लेश-मात्र भी न था। उनकी बुराइयाँ भूल गई थीं, भलाइयाँ याद रह गई थीं; और रत्ना तो उन्हें दया और वात्सल्य की मूर्ति-सी याद आती। विपत्ति पुराने घावों को बढ़ाती है, सम्पत्ति उन्हें भर देती है। गाड़ी से उतरे तो उनकी छाती धड़क रही थी। १० वर्ष का बालक, २३ वर्ष का जवान, शिक्षित भद्र युवक हो गया था। उसकी मा भी उसे देखकर न कह सकती कि यही मेरा नथुआ है। लेकिन उनकी कायापलट की अपेक्षा नगर की कायापलट और भी विस्मयकारी थी। यह लखनऊ नहीं, कोई दूसरा ही नगर था।

स्टेशन से बाहर निकलते ही उन्होंने देखा कि शहर के कितने ही छोटे-बड़े आदमी उनका स्वागत करने को खड़े हैं। उनमें एक युवती रमणी भी थी, जो रत्ना से बहुत मिलती थी। लोगों ने उनसे हाथ मिलाया और रत्ना ने उनके गले में फूलों का हार डाल दिया। यह विदेश में भारत का नाम रोशन करने का पुरस्कार था! आचार्य के पैर डगमगाने लगे, ऐसा जान पड़ता था, अब नहीं खड़े रह सकते। यह वही रत्ना है। भोली-भाली बालिका ने सौन्दर्य, लज्जा, गर्व और विनय की देवी का रूप धारण कर लिया है। उनकी हिम्मत न पड़ी, कि रत्ना की तरफ़ सीधी आँखों देख सकें।

लोगों से हाथ मिलाने के बाद वह उस बँगले में आये जो उनके लिए पहले ही से सजाया गया था। उसको देखकर वह चौंक पड़े, यह वही बँगला था जहाँ रत्ना के साथ वह खेलते थे, सामान भी वही था,

तस्वीरें वही, कुरसियाँ और मेज़ें वही, शीशे के आलात वही, यहाँ तक कि फ़र्श भी वही था। उसके अन्दर क़दम रखते हुए आचार्य महाशय के हृदय में कुछ वही भाव जागृत हो रहे थे, जो किसी देवता के मन्दिर में जाकर धर्मपरायण हिन्दू के हृदय में होते हैं। वह रत्ना के शयनागार में पहुँचे तो उनके हृदय में ऐसी ऐंठन हुई कि आँसू बहने लगे—यह वही पलंग है—वही बिस्तर और वही फ़र्श! उन्होंने अधीर होकर पूछा—यह किसका बँगला है?

कम्पनी का मैनेजर साथ था, बोला—एक राय भोलानाथ हैं, उन्हीं का है।

आचार्य—रायसाहब कहाँ गये?

मैनेजर—ख़ुदा जाने कहाँ गये। यह बँगला क़र्ज़ की इल्लत में नीलाम हो रहा था, मैंने देखा हमारे थिएटर से क़रीब है, अधिकारियों से ख़तकिताबत की और इसे कम्पनी के नाम ख़रीद लिया, ४० हज़ार में यह बँगला सामान समेत मिल गया।

आचार्य—मुफ़्त मिल गया, तुम्हें रायसाहब की कुछ ख़बर नहीं?

मैनेजर—सुना था कि कहीं तीर्थ करने गये थे, ख़ुदा जाने लौटे या नहीं।

आचार्य महाशय जब शाम को सावधान होकर बैठे तो एक आदमी से पूछा—क्यों जी, उस्ताद घूरे का भी कुछ हाल जानते हो, उनका नाम बहुत सुना है।

आदमी ने सकरुण भाव से कहा—ख़ुदावन्द, उनका हाल कुछ न पूछिये, शराब पीकर घर आ रहे थे, रास्ते में बेहोश होकर सड़क पर गिर पड़े। उधर से एक मोटर लारी आ रही थी। ड्राइवर ने देखा नहीं, लारी उनके ऊपर से निकल गई। सुबह को लाश मिली। ख़ुदावन्द, अपने फ़न में एकता था, अब उसकी मौत से लखनऊ वीरान हो गया, अब ऐसा कोई नहीं रहा जिस पर लखनऊ को घमंड हो। नथुवा नाम के एक लड़के को उन्होंने कुछ सिखाया था और उससे हम लोगों को उम्मीद थी कि उस्ताद का नाम ज़िन्दा रखेगा, पर वह यहाँ से ग्वालियर चला गया, फिर पता नहीं कि कहाँ गया।

आचार्य महाशय के प्राण सूखे जाते थे कि अब बात खुली, अब खुली, दम रुका हुआ था जैसे कोई तलवार लिये सिर पर खड़ा हो। बारे, कुशल हुई, घड़ा चोट खाकर भी बच गया।

(५)

आचार्य महाशय उस घर में रहते थे, किन्तु उसी तरह जैसे कोई नई बहू अपनी ससुराल में रहे। उनके हृदय से पुराने संस्कार न मिटते थे। उनकी आत्मा इस यथार्थ को स्वीकार न करती कि अब यह मेरा घर है। वह ज़ोर से हँसते तो सहसा चौंक पड़ते। मित्रगण आकर शोर मचाते तो भी उन्हें एक अज्ञात शंका होती थी। लिखने-पढ़ने के कमरे में शायद वह सोते तो उन्हें रात भर नींद न आती, यह ख़याल दिल में जमा हुआ था कि यह पढ़ने-लिखने का कमरा है। बहुत इच्छा होने पर भी वह पुराने सामान को बदल न सकते थे। और रत्ना के शयनागार को तो उन्होंने फिर कभी नहीं खोला। वह ज्यों-का त्यों बन्द पड़ा रहता था। उसके अन्दर जाते हुए उनके पैर थरथराने लगते थे। उस पलंग पर सोने का ध्यान ही उन्हें नहीं आया।

लखनऊ में कई बार उन्होंने विश्वविद्यालय में अपने संगीत नैपुण्य का चमत्कार दिखाया। किसी राजा-रईस के घर अब वह गाने न जाते थे, चाहे कोई उन्हें लाखों ही क्यों न दे! यह उनका प्रण था। लोग उनका अलौकिक गान सुनकर अलौकिक आनन्द उठाते थे।

एक दिन प्रातःकाल आचार्य महाशय संध्या से उठे थे कि राय भोलानाथ उनसे मिलने आये। रत्ना भी उनके साथ थी। आचार्य महाशय पर रोब छा गया। बड़े बड़े योरपी थियेटरों में भी उनका हृदय इतना भयभीत न हुआ था। उन्होंने ज़मीन तक झुककर रायसाहब को सलाम किया। भोलानाथ उनकी नम्रता से कुछ विस्मित-से हो गये। बहुत दिन हुए जब लोग उन्हें सलाम किया करते थे। अब तो जहाँ जाते थे, हँसी उड़ाई जाती थी। रत्ना भी लज्जित हो गई। रायसाहब ने कातर नेत्रों से इधर-उधर देखकर कहा—आपको यह जगह तो पसन्द आई होगी?

आचार्य—जी हाँ, इससे उत्तम स्थान की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकता।

भोलानाथ—यह मेरा ही बँगला है। मैंने ही इसे बनवाया और मैंने ही इसे बिगाड़ भी दिया!

रत्ना ने झेंपते हुए कहा—दादाजी, इन बातों से क्या फ़ायदा?

भोला—फ़ायदा नहीं है बेटी, तो नुक़सान भी नहीं। सज्जनों से अपनी विपत्ति कहकर चित्त शान्त होता है। महाशय, यह मेरा ही बँगला है, या यों कहिये कि था। ५० हज़ार सालाना इलाके से मिलते थे। पर कुछ आदमियों की संगत में मुझे सट्टे का चस्का पड़ गया। दो-तीन बार ताबड़-तोड़ बाज़ी हाथ आई, हिम्मत खुल गई, लाखों के वारे-न्यारे होने लगे, किन्तु एक ही घाटे में सारी कसर निकल गई। बधिया बैठ गई। सारी जायदाद खो बैठा। सोचिये पचीस लाख का सौदा था। कौड़ी चित्त पड़ती तो आज इस बँगले का कुछ और ही ठाट होता, नहीं तो अब पिछले दिनों को याद कर-करके हाथ मलता हूँ। मेरी रत्ना को आपके गाने से बड़ा प्रेम है। जब देखो आपही की चर्चा किया करती है। इसे मैंने बी० ए० तक पढ़ाया...

रत्ना का चेहरा शर्म से लाल हो गया। बोली, दादाजी, आचार्य महाशय मेरा हाल जानते हैं, उनको मेरे परिचय की ज़रूरत नहीं। महाशय, क्षमा कीजियेगा, पिताजी उस घाटे के कारण कुछ अव्यवस्थित चित्त-से हो गये हैं। वह आपसे यह प्रार्थना करने आये हैं कि यदि आपको कोई आपत्ति न हो तो वह कभी-कभी इस बँगले को देखने आया करें। इससे उनके आँसू पुछ जायँगे। उन्हें इस विचार से संतोष होगा कि मेरा कोई मित्र इसका स्वामी है। बस, यही कहने के लिए यह आपकी सेवा में आये हैं।

आचार्य ने विनयपूर्ण शब्दों में कहा—इसके पूछने की कोई ज़रूरत नहीं है। घर आपका है, जिस वक्त जी चाहे शौक़ से आवें, बल्कि आपकी इच्छा हो तो आप इसमें रह सकते हैं; मैं अपने लिए कोई दूसरा स्थान ठीक कर लूँगा।

रायसाहब ने धन्यवाद दिया और चले गये। वह दूसरे तीसरे यहाँ ज़रूर आते और घण्टों बैठे रहते। रत्ना भी उनके साथ अवश्य आती, फिर वह एक बार प्रतिदिन आने लगे।

एक दिन उन्होंने आचार्य महाशय को एकान्त में ले जाकर पूछा—क्षमा कीजियेगा, आप अपने बाल-बच्चों को क्यों नहीं बुला लेते? अकेले तो आपको बहुत कष्ट होता होगा।

आचार्य—मेरा तो अभी विवाह नहीं हुआ और न करना चाहता हूँ।

यह कहते ही आचार्य महाशय ने आँखें नीची कर लीं।

भोलानाथ—यह क्यों, विवाह से आपको क्यों द्वेष है?

आचार्य—कोई विशेष कारण तो नहीं बता सकता, इच्छा ही तो है।

भोला—आप ब्राह्मण हैं?

आचार्यजी का रंग उड़ गया। सशंक होकर बोले—योरोप की यात्रा के बाद वर्णभेद नहीं रहता। जन्म से चाहे जो कुछ हूँ, कर्म से तो शूद्र ही हूँ।

भोलानाथ—आपकी नम्रता को धन्य है, संसार में ऐसे सज्जन लोग भी पड़े हुए हैं। मैं भी कर्मों ही से वर्ण मानता हूँ। नम्रता, शील, विनय, आचार, धर्मनिष्ठा, विद्याप्रेम, यह सब ब्राह्मणों के गुण हैं और मैं आपको ब्राह्मण ही समझता हूँ। जिसमें यह गुण नहीं, वह ब्राह्मण नहीं, कदापि नहीं। रत्ना को आपसे बड़ा प्रेम है। आज तक कोई पुरुष उसकी आँखों में नहीं जँचा, किन्तु आपने उसे वशीभूत कर लिया। इस धृष्टता को क्षमा कीजियेगा, आपके माता-पिता...

आचार्य—मेरे माता-पिता तो आप ही हैं। जन्म किसने दिया, यह मैं स्वयं नहीं जानता। मैं बहुत छोटा था, तभी उनका स्वर्गवास हो गया।

रायसाहब—आह! वह आज जीवित होते तो आपको देखकर उनकी गज़ भर की छाती होती। ऐसे सपूत बेटे कहाँ होते हैं।

इतने में रत्ना एक काग़ज़ लिये हुए आई और रायसाहब से बोली—दादाजी, आचार्य महाशय काव्य-रचना भी करते हैं, मैं इनकी

मेज़ पर से यह उठा लाई हूँ। सरोजिनी नायडू के सिवा ऐसी कविता मैंने और कहीं नहीं देखी।

आचार्य ने छिपी हुई निगाहों से एक बार रत्ना को देखा और झेंपते हुए बोले—योंही कुछ लिख लिया था। मैं काव्य-रचना क्या जानूँ?

(६)

प्रेम से दोनों विह्वल हो रहे थे। रत्ना गुणों पर मोहित थी, आचार्य उसके मोह के वशीभूत थे। अगर रत्ना उनके रास्ते में न आती तो कदाचित वह उससे परिचित भी न होते। किन्तु प्रेम की फैली हुई बाँहों का आकर्षण किस पर न होगा? ऐसा हृदय कहाँ है, जिसे प्रेम जीत न सके?

आचार्य महाशय बड़े दुविधे में पड़े हुए थे। उनका दिल कहता था, जिस क्षण रत्ना से मेरी असलियत खुल जायगी, उसी क्षण वह मुझसे सदैव के लिए मुँह फेर लेगी। वह कितनी ही उदार हो, जाति के बन्धन को कितना ही कष्टमय समझती हो, किन्तु उस घृणा से मुक्त नहीं हो सकती जो स्वभावतः मेरे प्रति उत्पन्न होगी। मगर इस बात को जानते हुए भी उनकी हिम्मत न पड़ती थी कि अपना वास्तविक स्वरूप खोलकर दिखा दें। आह! यदि घृणा ही तक होती तो कोई बात न थी, मगर उसे दुःख होगा, पीड़ा होगी, उसका हृदय विदीर्ण हो जायगा, उस दशा में न जाने क्या कर बैठे। उसे इस अज्ञात दशा में रखे हुए प्रणय-पाश को दृढ़ करना उन्हें परले सिरे की नीचता प्रतीत होती थी। यह कपट है, दगा है, धूर्तता है जो प्रेमाचरण में सर्वथा निषिद्ध है। इस सङ्कट में पड़े हुए वह कुछ निश्चय न कर सकते थे कि क्या करना चाहिये! उधर रायसाहब की आमदोरफ्त दिनोदिन बढ़ती जाती थी। उनके मन की बात एक-एक शब्द से झलकती थी। रत्ना का आना-जाना बन्द होता जाता था, जो उनके आशय को और भी प्रकट करता था। इस प्रकार तीन चार महीने व्यतीत हो गये। आचार्य महाशय सोचते यह वही रायसाहब हैं, जिन्होंने केवल रत्ना की चारपाई पर

ज़रा देर लेट रहने के लिए मुझे मारकर घर से निकाल दिया था ! जब उन्हें मालूम होगा कि मैं वही अनाथ, अछूत, आश्रयहीन बालक हूँ तो उन्हें कितनी आत्मवेदना, कितनी अपमान-पीड़ा, कितनी लज्जा, कितनी दुराशा, कितना पश्चात्ताप होगा !

एक दिन रायसाहब ने कहा—विवाह की तिथि निश्चित कर लेनी चाहिये। इस लग्न में मैं इस ऋण से उऋण हो जाना चाहता हूँ।

आचार्य महाशय ने बात का मतलब समझकर भी प्रश्न किया—कैसी तिथि ?

रायसाहब—यही रत्ना के विवाह की। मैं कुंडली का तो क़ायल नहीं, पर विवाह तो शुभ मुहूर्त में ही होगा।

आचार्य भूमि की ओर ताकते रहे, कुछ न बोले।

रायसाहब—मेरी अवस्था तो आपको मालूम ही है। कुश-कन्या के सिवा और किसी योग्य नहीं हूँ। रत्ना के सिवा और कौन है, जिसके लिए उठा रखता।

आचार्य महाशय विचारों में मग्न थे।

रायसाहब—रत्ना को आप स्वयं जानते हैं। आपसे उसकी प्रशंसा करनी व्यर्थ है। वह अच्छी है या बुरी है, उसे आपको स्वीकार करना पड़ेगा।

आचार्य महाशय की आँखों से आँसू बह रहे थे।

रायसाहब—मुझे पूरा विश्वास है कि आपको ईश्वर ने उसी के लिए वहाँ भेजा है। मेरी ईश्वर से यही याचना है कि तुम दोनों का जीवन सुख से कटे। मेरे लिए इससे ज़्यादा ख़ुशी की और कोई बात नहीं हो सकती। इस कर्तव्य से मुक्त होकर इरादा है कुछ दिन भगवत् भजन करूँ। गौण रूप से आप ही उस फल के भी अधिकारी होंगे।

आचार्य ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—महाशय आप मेरे पिता तुल्य हैं; पर मैं इस योग्य कदापि नहीं हूँ।

रायसाहब ने उन्हें गले लगाते हुए कहा—बेटा, तुम सर्वगुण-सम्पन्न हो। तुम समाज के भूषण हो। मेरे लिए यह महान गौरव की

बात है कि तुम जैसा दामाद पाऊँ। मैं आज तिथि आदि ठीक करके कल तुमको सूचना दूँगा।

यह कहकर रायसाहब उठ खड़े हुए। आचार्य कुछ कहना चाहते थे, पर मौक़ा न मिला, या यों कहो हिम्मत न पड़ी। इतना मनोबल न था, घृणा सहन करने की इतनी शक्ति न थी।

(७)

विवाह हुए महीना भर हो गया। रत्ना के आने से पतिगृह उजाला हो गया है और पति-हृदय पवित्र। सागर में कमल खिल गया। रात का समय था। आचार्य महाशय भोजन करके लेटे हुए थे, उसी पलंग पर जिसने किसी दिन उन्हें घर से निकलवाया था, जिसने उनके भाग्यचक्र को परिवर्तित कर दिया था।

महीना भर से वह अवसर ढूँढ़ रहे हैं कि वह रहस्य रत्ना से बतला दूँ। उनका संस्कारों से दबा हुआ हृदय यह नहीं मानता कि मेरा सौभाग्य मेरे गुणों ही का अनुगृहीत है। वह अपने रुपए को भट्ठी में पिघलाकर उसका मूल्य जानने की चेष्टा कर रहे हैं। किन्तु अवसर नहीं मिलता। रत्ना ज्योंही सामने आ जाती है, वह मंत्रमुग्ध-से हो जाते हैं। बाग़ में रोने कौन जाता है, रोने के लिए तो अँधेरी कोठरी ही चाहिये।

इतने में रत्ना मुसकराती हुई कमरे में आई। दीपक की ज्योति मन्द पड़ गई।

आचार्य ने मुसकराकर कहा—अब चिराग़ गुल कर दूँ न?

रत्ना बोली—क्यों, क्या मुझसे शर्म आती है?

आचार्य—हाँ, वास्तव में शर्म आती है।

रत्ना—इसलिए कि मैंने तुम्हें जीत लिया?

आचार्य—नहीं, इसलिए कि मैंने तुम्हें धोखा दिया।

रत्ना—तुम में धोखा देने की शक्ति नहीं है।

आचार्य—तुम नहीं जानतीं। मैंने तुम्हें बहुत बड़ा धोखा दिया है।

रत्ना—सब जानती हूँ।

आचार्य—जानती हो मैं कौन हूँ ?

रत्ना—ख़ूब जानती हूँ। बहुत दिनों से जानती हूँ। जब हम तुम दोनों इसी बगीचे में खेला करते थे, मैं तुमको मारती थी और तुम रोते थे, मैं तुमको अपनी जूठी मिठाइयाँ देती थी और तुम दौड़कर लेते थे, तब भी मुझे तुमसे प्रेम था ; हाँ, वह दया के रूप में व्यक्त होता था।

आचार्य ने चकित होकर कहा—रत्ना, यह जानकर भी तुमने...

रत्ना—हाँ जानकर ही। न जानती तो शायद न करती।

आचार्य—यह वही चारपाई है।

रत्ना—और मैं घाते में।

आचार्य ने उसे गले लगाकर कहा—तुम क्षमा की देवी हो।

रत्ना ने उत्तर दिया—मैं तुम्हारी चेरी हूँ।

आचार्य—रायसाहब भी जानते हैं ?

रत्ना—नहीं, उन्हें नहीं मालूम है। उनसे भूलकर भी न कहना, नहीं तो वह आत्मघात कर लेंगे।

आचार्य—वह कोड़े अभी तक याद हैं।

रत्ना—अब पिताजी के पास उसका प्रायश्चित करने के लिए कुछ नहीं रह गया। क्या अब भी तुम्हें सन्तोष नहीं हुआ ?

विचित्र होली

(१)

होली का दिन था, मिस्टर ए० बी० क्रास शिकार खेलने गये हुए थे। साईस, अर्दली, मेहतर, भिश्ती, ग्वाला, धोबी सब होली मना रहे थे। सबों ने साहब के जाते ही ख़ूब गहरी भंग चढ़ाई थी और इस समय बगीचे में बैठे हुए होली, फाग गा रहे थे। पर, रह-रहकर बँगले के फाटक की तरफ़ झाँक लेते थे कि साहब आ तो नहीं रहे हैं। इतने में शेख़ नूरअली आकर सामने खड़े हो गये।

साईस ने पूछा—कहो ख़ानसामाजी, साहब कब तक आयेंगे !

नूरअली बोला—उसका जब जी चाहे आये, मेरा आज इस्तीफ़ा है। अब इसकी नौकरी न करूँगा।

अर्दली ने कहा—ऐसी नौकरी फिर न पाओगे। चार पैसे ऊपर की आमदनी है। नाहक छोड़ते हो।

नूरअली—अजी, लानत भेजो ! अब मुझसे ग़ुलामी न होगी। यह हमें जूतों से ठुकरायें और हम इसकी ग़ुलामी करें ! आज यहाँ से डेरा कूच है। आओ, तुम लोगों की दावत करूँ। चले आओ कमरे में, आराम से मेज़ पर डट जाओ, वह-वह बोतलें पिलाऊँ कि जिगर ठंढा हो जाय।

साईस—और जो कहीं साहब आ जायें ?

नूरअली—वह अभी नहीं आने का। चले आओ।

साहबों के नौकर प्रायः शराबी होते हैं। जिस दिन से साहब के यहाँ ग़ुलामी लिखाई, उसी दिन से यह बला उनके सिर पड़ जाती है। जब मालिक स्वयं बोतल-की-बोतल उँड़ेल जाता हो, तो भला नौकर क्यों चूकने लगे। यह निमन्त्रण पाकर सब-के-सब खिल उठे। भंग का नशा चढ़ा ही हुआ था। ढोल मजीरे छोड़-छोड़कर नूरअली के साथ चले और साहब के खाने के कमरे में कुर्सियों पर आ बैठे। नूरअली ने ह्विस्की की बोतल खोलकर ग्लास भरे और चारों ने चढ़ाना शुरू कर दिया। ठर्रा पीनेवालों ने जब यह मज़ेदार चीज़ पाई तो ग्लास पर ग्लास चढ़ाने लगे। ख़ानसामा भी उत्तेजित करता जाता था। ज़रा देर में सबों के सिर फिर गये। भय जाता रहा। एक ने होली छेड़ी, दूसरे ने सुर मिलाया। गाना होने लगा। नूरअली ने ढोल मजीरा लाकर रख दिया। वहीं मजलिस जम गई। गाते-गाते एक उठकर नाचने लगा। दूसरा उठा। यहाँ तक कि सब-के-सब कमरे में चौकड़ियाँ भरने लगे। हू-हक़ मचने लगा। कबीर, फाग, चौताल, गाली-गलौज, मार-पीट बारी-बारी सबका नम्बर आया। सब ऐसे निडर हो गये थे, मानो अपने घर में हैं। कुरसियाँ उलट गईं। दीवारों पर की

तसवीरें टूट गईं। एक ने मेज़ उलट दी। दूसरे ने रिकाबियों का गेंद बनाकर उछालना शुरू किया।

यहाँ यही हंगामा मचा हुआ था कि शहर के रईस लाला उजागरमल का आगमन हुआ। उन्होंने यह कौतुक देखा तो चकराये। ख़ानसामा से पूछा--यह क्या गोलमाल है शेख़जी, साहब देखेंगे तो क्या कहेंगे ?

नूरअली—साहब का हुक्म ही ऐसा है तो कोई क्या करे। आज उन्होंने अपने नौकरों की दावत की है, इनसे होली खेलने को भी कहा है। सुनते हैं लाट साहब के यहाँ से हुक्म आया है कि रिआया के साथ ख़ूब रब्त-ज़ब्त रखो, उनके त्योहारों में शरीक हो। तभी तो यह हुक्म दिया है, नहीं तो इनके मिज़ाज़ ही न मिलते थे। आइये तशरीफ़ रखिये। निकालूँ कोई मज़ेदार चीज़ ? अभी हाल में विलायत से पारसल आया है।

राय उजागरमल बड़े उदार विचारों के मनुष्य थे। अँगरेज़ी दावतों में वेधड़क शरीक होते थे, रहन-सहन भी अँगरेज़ी ही था, और यूनियन-क्लब के तो वह एकमात्र कर्त्ता ही थे। अँगरेज़ों से उनकी ख़ूब छनती और मिस्टर क्रास तो उनके परम मित्र ही थे। ज़िलाधीश से, चाहे वह कोई हो, सदैव उनकी घनिष्ठता रहती थी। नूरअली की बातें सुनते ही एक कुर्सी पर बैठ गये और बोले—अच्छा ! यह बात है। हाँ तो फिर निकालो कोई मज़ेदार चीज़, कुछ ग़ज़क भी हो।

नूरअली—हुज़ूर, आपके लिए सब कुछ हाज़िर है।

लाला साहब कुछ तो घर ही से पीकर चले थे, यहाँ कई ग्लास चढ़ाये तो ज़बान लड़खड़ाते हुए बोले—क्यों नूरअली, आज साहब होली खेलेंगे ?

नूरअली—जी हाँ।

उजागर०—लेकिन मैं रङ्ग-वङ्ग तो लाया ही नहीं। भेजो चटपट किसी को मेरी कोठी से रङ्ग पिचकारी वगैरह लाये। (साईस से) क्यों घसीटे, आज तो बड़ी बहार है।

घसीटे—बड़ी बहार है, होली है !

उजागर०—(गाते हुए) आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी। ख़ूब पिचकारी चलाऊँगा।

घसीटे—ख़ूब अबीर लगाऊँगा।

ग्वाला—ख़ूब गुलाल उड़ाऊँगा।

धोबी—बोतल-पर-बोतल चढ़ाऊँगा।

अरदली—ख़ूब कबीरें सुनाऊँगा।

उजागर०—आज साहब के साथ मेरी होली मचेगी।

नूरअली—अच्छा, सब लोग सँभल जाओ। साहब का मोटर आ रहा है। सेठजी, यह लीजिये मैं दौड़कर रङ्ग-पिचकारी लाया, बस एक चौताल छेड़ दीजिये और जैसे ही साहब कमरे में आवें, उन पर पिचकारी छोड़िये और (दूसरे से) तुम लोग भी उनके मुँह में गुलाल मलो। साहब मारे ख़ुशी के फूल जायँगे। वह लो, मोटर हाते में आ गया। होशियार !

(२)

मिस्टर क्रास अपनी बन्दूक़ हाथ में लिये मोटर से उतरे और लगे आदमियों को बुलाने। पर वहाँ तो ज़ोरों से चौताल हो रहा था, सुनता कौन है। चकराये, यह मामला क्या है। क्या सब मेरे बँगले में गा रहे हैं ! क्रोध से भरे हुए बँगले में दाख़िल हुए तो डाइनिङ्गरूम (भोजन करने के कमरे में) से गाने की आवाज़ आ रही थी। अब क्या था ? जामे से बाहर हो गये। चेहरा विकृत हो गया। हंटर उतार लिया और डाइनिङ्गरूम की ओर चले। लेकिन अभी एक क़दम दरवाजे के बाहर ही था कि सेठ उजागरमल ने पिचकारी छोड़ी। सारे कपड़े तर हो गये। आँखों में भी रंग घुस गया। आँखें पोंछ ही रहे थे कि साईस, ग्वाला सब-के-सब दौड़े और साहब को पकड़कर उनके मुँह में रंग मलने लगे। धोबी ने तेल और कालिख का पाउडर लगा दिया। साहब के क्रोध की सीमा न रही। हंटर लेकर सबों को अन्धाधुन्ध पीटने लगा। बेचारे सोचे हुए थे कि साहब ख़ुश होकर इनाम

देंगे। हंटर पड़े तो नशा हिरन हो गया। कोई इधर भागा, कोई उधर। सेठ उजागरमल ने यह रङ्ग देखा तो ताड़ गये कि नूरअली ने फँसा दिया। एक कोने में दबक रहे। जब कमरा नौकरों से खाली हो गया, तो साहब उनकी ओर बढ़े। लाला साहब के होश उड़ गये। तेज़ी से कमरे के बाहर निकले और सिर पर पैर रखकर बेतहाशा भागे। साहब उनके पीछे दौड़े। सेठजी की फ़िटन फाटक पर खड़ी थी। घोड़े ने धम-धम खटपट सुनी तो चौंका। कनौतियाँ खड़ी कीं और फ़िटन को लेकर भागा। विचित्र दृश्य था। आगे-आगे फ़िटन, उसके पीछे सेठ उजागरमल, उनके पीछे हंटरधारी मिस्टर क्रास! तीनो बगटुट दौड़े चले जाते थे। सेठजी एक बार ठोकर खाकर गिरे, पर साहब के पहुँचते-पहुँचते सँभल उठे। हाते के बाहर सड़क तक घुड़दौड़ रही। अन्त में साहब रुक गये। मुँह में कालिख लगाये अब और आगे जाना हास्य-जनक मालूम हुआ। यह विचार भी हुआ कि सेठजी को काफ़ी सज़ा मिल चुकी। अपने नौकरों की ख़बर लेना भी ज़रूरी था। लौट गये। सेठ उजागरमल के जान में जान आई। बैठकर हाँफने लगे। घोड़ा भी ठिठक गया। कोचवान ने उतरकर उन्हें सँभाला और गोद में उठाकर गाड़ी पर बैठा दिया।

(३)

लाला उजागरमल शहर के सहयोगी समाज के नेता थे। उन्हें अँगरेज़ों की भावी शुभकामनाओं पर पूर्ण विश्वास था। अँगरेजी राज्य की तालीमी, माली और मुल्की तरक्क़ी के राग गाते रहते थे। अपनी वक्तृताओं में असहयोगियों को खूब फटकारा करते थे। अँगरेज़ों में इधर उनका आदर-सम्मान विशेषरूप से होने लगा था। कई बड़े-बड़े ठेके, जो पहले अँगरेज़ ठेकेदारों ही को मिला करते थे, उन्हें दे दिये गये थे। सहयोग ने उनके मान और धन को खूब बढ़ाया था, अतएव मुँह से चाहे वह असहयोग की कितनी ही निन्दा करें, पर मन में उसकी उन्नति चाहते थे। उन्हें यक़ीन था कि असहयोग एक हवा है, जब तक चलती रहे उसमें अपने गीले कपड़े सुखा लें। वह असहयोगियों के

कृत्यों को खूब बढ़ा-बढ़ाकर बयान किया करते थे और अधिकारियों को इन गढ़ी हुई बातों पर विश्वास करते देखकर दिल में उन पर खूब हँसते थे। ज्यों-ज्यों सम्मान बढ़ता था, उनका आत्माभिमान भी बढ़ता था। वह अब पहले की भाँति भीरु न थे। गाड़ी पर बैठे और ज़रा साँस फूलना बन्द हुआ, तो इस घटना की विवेचना करने लगे। अवश्य नूरअली ने मुझे धोखा दिया, उसकी असहयोगियों से साँठ-गाँठ मालूम होती है। लेकिन माना कि मेरा पिचकारी चलाना साहब को बुरा लगा, यह लोग होली नहीं खेलते, तो इनका इतना क्रोधोन्मत्त होना इसके सिवा और क्या बतलाता है कि हमें यह लोग कुत्तों से बेहतर नहीं समझते। इनको अपने प्रभुत्व का कितना घमण्ड है! यह मेरे पीछे हन्टर लेकर दौड़े! अब विदित हुआ कि यह जो मेरा थोड़ा-बहुत सम्मान करते थे, वह केवल धोखा था। मन में यह हमें अब भी नीच और कमीना समझते हैं। लाल रंग कोई बाण नहीं था। हम बड़े दिनों में गिरजे जाते हैं, इन्हें डालियाँ देते हैं। वह हमारा त्योहार नहीं है। पर, यह ज़रा-सा रंग छोड़ देने पर इतना बिगड़ उठा! हा! इतना अपमान! मुझे उसके सामने ताल ठोंककर खड़ा हो जाना चाहिये था। भागना कायरता थी। इसीसे यह सब शेर हो जाते हैं। कोई संदेह नहीं कि यह सब हमें मिलाकर असहयोगियों को दबाना चाहते हैं। इनकी यह विनयशीलता और सज्जनता केवल अपना मतलब गाँठने के लिए है। इनकी निरंकुशता, इनका गर्व वही है, ज़रा भी अन्तर नहीं।

सेठजी के हृद्गत भावों ने उग्र रूप धारण किया। मेरी यह अधोगति! अपने अपमान की याद रह-रहकर उनके चित्त को विह्वल कर रही थी। यह मेरे सहयोग का फल है! मैं इसी योग्य हूँ। मैं उनकी सौहार्दपूर्ण बातें सुन-सुन फूला न समाता था। मेरी मन्द बुद्धि को इतना भी न सूझता था कि स्वाधीन और पराधीन में कोई मेल नहीं हो सकता। मैं असहयोगियों की उदासीनता पर हँसता था। अब मालूम हुआ कि वह हास्यास्पद नहीं है, मैं स्वयं निन्दनीय हूँ।

वह अपने घर न जाकर सीधे कांग्रेस कमेटी के कार्यालय की ओर

लपके। यहाँ पहुँचे तो एक विराट् सभा देखी। कमेटी ने शहर के छूत-अछूत, छोटे-बड़े सबको होली का आनन्द मनाने के लिए निमंत्रित किया था। हिन्दू-मुसलमान साथ-साथ बैठे हुए प्रेम से होली खेल रहे थे। फलभोज का भी प्रबन्ध किया गया था। इस समय व्याख्यान हो रहा था। सेठजी गाड़ी से तो उतरे, पर सभा-स्थल में जाते संकोच होता था। ठिठकते हुए धीरे से जाकर एक ओर खड़े हो गये। उन्हें देखकर लोग चौंक पड़े। सब-के-सब विस्मित होकर उनकी ओर ताकने लगे। यह खुशामदियों के आचार्य आज यहाँ कैसे भूल पड़े? इन्हें तो किसी सहयोगी सभा में राज-भक्ति का प्रस्ताव पास करना चाहिये था। शायद भेद लेने आये हैं कि ये लोग क्या कर रहे हैं। उन्हें चिढ़ाने के लिए लोगों ने कहा—कांग्रेस की जय!

उजागरमल ने उच्च स्वर से कहा—असहयोग की जय!

फिर ध्वनि हुई—खुशामदियों की जय!

सेठजी ने उच्च स्वर से कहा—जी हुजूरों की जय!

यह कहकर वह समस्त उपस्थित जनों को विस्मय में डालते हुए मंच पर जा पहुँचे और गम्भीर भाव से बोले—सज्जनो, मित्रो! मैंने अब तक आपसे असहयोग किया था। उसे क्षमा कीजिये। मैं सच्चे दिल से आपसे क्षमा माँगता हूँ। मुझे घर का भेदी, जासूस या विभीषण न समझिये। आज मेरी आँखों के सामने से परदा हट गया। आज इस पवित्र प्रेममयी होली के दिन मैं आपसे प्रेमालिंगन करने आया हूँ। अपनी विशाल उदारता का आचरण कीजिये। आपसे द्रोह करने का आज मुझे दंड मिल गया। ज़िलाधीश ने आज मेरा घोर अपमान किया। मैं वहाँ से हंटरों की मार खाकर आपकी शरण आया हूँ। मैं देश का द्रोही था, जाति का शत्रु था। मैंने अपने स्वार्थ के वश, मिथ्या विश्वास के वश, देश का बड़ा अहित किया, खूब काँटे बोये।। उनका स्मरण करके ऐसा जी चाहता है कि हृदय के टुकड़े-टुकड़े कर दूँ। [(एक आवाज़)—हाँ अवश्य कर दीजिये, आपसे बनते तो मैं तैयार हूँ। (प्रधान की आवाज़)—यह कटु वाक्यों का

अवसर नहीं है ।] नहीं, आपको यह कष्ट उठाने की ज़रूरत नहीं, मैं स्वयं यह काम भली-भाँति कर सकता हूँ, पर अभी मुझे बहुत कुछ प्रायश्चित्त करना है, जाने कितने पापों की पूर्ति करनी है । आशा करता हूँ कि जीवन के बचे हुए दिन इसी प्रायश्चित्त करने में, यही मुँह की कालिमा धोने में काटूँ । आपसे केवल इतनी ही प्रार्थना है कि मुझे आत्म-सुधार का अवसर दीजिये, मुझ पर विश्वास कीजिये और मुझे अपना दीन सेवक समझिये । मैं आज से अपना तन, मन, धन, सब आप पर अर्पण करता हूँ ।

मुक्ति-मार्ग

सिपाही को अपनी लाल पगड़ी पर, सुन्दरी को अपने गहनों पर और वैद्य को अपने सामने बैठे हुए रोगियों पर जो घमंड होता है, वही किसान को अपने खेतों को लहराते हुए देखकर होता है । झींगुर अपने ऊख के खेतों को देखता, तो उस पर नशा-सा छा जाता । तीन बीघे ऊख थी । इसके ६००) तो अनायास ही मिल जायँगे । और, जो कहीं भगवान् ने डाँड़ी तेज़ कर दी ; तो फिर क्या पूछना । दोनों बैल बुड्ढे हो गये । अबकी नई गोईं बटेसर के मेले से ले आवेगा । कहीं दो बीघे खेत और मिल गये, तो लिखा लेगा । रुपयों की क्या चिन्ता है । बनिये अभी से उसकी ख़ुशामद करने लगे थे । ऐसा कोई न था, जिससे उसने गाँव में लड़ाई न की हो । वह अपने आगे किसी को कुछ समझता ही न था ।

एक दिन संध्या के समय वह अपने बेटे को गोद में लिये मटर की फलियाँ तोड़ रहा था । इतने में उसे भेड़ों का एक झुण्ड अपनी तरफ़ आता दिखाई दिया । वह अपने मन में कहने लगा—इधर से भेड़ों के निकलने का रास्ता न था । क्या खेत की मेड़ पर से भेड़ों का झुण्ड नहीं जा सकता था ? भेड़ों को इधर से लाने की क्या ज़रूरत ?

ये खेत को कुचलेंगी, चरेंगी। इसका डाँड़ कौन देगा! मालूम होता है, बुद्धू गड़ेरिया है। बचा को घमंड हो गया है; तभी तो खेतों के बीच से भेड़ें लिये चला आता है। ज़रा इसकी ढिठाई तो देखो। देख रहा है कि मैं खड़ा हूँ, फिर भी भेड़ों को लौटाता नहीं। कौन मेरे साथ कभी रिआयत की है कि मैं इसकी मुरौवत करूँ? अभी एक भेड़ा मोल माँगूँ, तो पाँच ही रुपए सुनावेगा। सारी दुनिया में चार रुपए के कंबल बिकते हैं; पर यह पाँच रुपए से नीचे बात नहीं करता।

इतने में भेड़ें खेत के पास आईं। झींगुर ने ललकारकर कहा—अरे, ये भेड़ कहाँ लिये आते हो? कुछ सूझता है कि नहीं?

बुद्धू नम्र भाव से बोला—महतो, डाँड़ पर से निकल जायँगी। घूमकर जाऊँगा, तो कोस भर का चक्कर पड़ेगा।

झींगुर—तो तुम्हारा चक्कर बचाने के लिए मैं अपना खेत क्यों कुचलाऊँ? डाँड़ ही पर ले जाना है, तो और खेतों के डाँड़ से क्यों नहीं ले गये? क्या मुझे कोई चूहड़-चमार समझ लिया है? या धन का घमंड हो गया है? लौटाओ इनको!

बुद्धू—महतो, आज निकल जाने दो। फिर कभी इधर से आऊँ, तो जो सजा चाहे देना।

झींगुर—कह दिया कि लौटाओ इन्हें! अगर एक भेड़ भी मेड़ पर आई, तो समझ लो, तुम्हारी ख़ैर नहीं है।

बुद्धू—महतो, अगर तुम्हारी एक बेल भी किसी भेड़ के पैरों तले आ जाय, तो मुझे बैठाकर सौ गालियाँ देना।

बुद्धू बातें तो बड़ी नम्रता से कर रहा था, किन्तु लौटने में अपनी हेठी समझता था। उसने मन में सोचा, इसी तरह ज़रा-ज़रा-सी धमकियों पर भेड़ों को लौटाने लगा, तो फिर मैं भेड़ें चरा चुका। आज लौट जाऊँ, तो कल को कहीं निकलने का रास्ता ही न मिलेगा। सभी रोब जमाने लगेंगे।

बुद्धू भी पोढ़ा आदमी था। १२ कोड़ी भेड़ें थीं। उन्हें खेतों में बिठाने के लिए फ़ी रात ।।) कोड़ी मज़दूरी मिलती थी, इसके उपरान्त

दूध बेचता था ; ऊन के कंबल बनाता था। सोचने लगा—इतने गरम हो रहे हैं मेरा कर ही क्या लेंगे ? कुछ इनका दबैल तो हूँ नहीं। भेड़ों ने जो हरी-हरी पत्तियाँ देखीं, तो अधीर हो गईं। खेत में घुस पड़ीं। बुद्धू उन्हें डंडों से मार-मारकर खेत के किनारे से हटाता था, और वे इधर-उधर से निकलकर खेत में जा पड़ती थीं। झींगुर ने आग होकर कहा—तुम मुझसे हेकड़ी जताने चले हो, तो तुम्हारी सारी हेकड़ी निकाल दूँगा !

बुद्धू—तुम्हें देखकर चौंकती हैं। तुम हट जाओ, तो मैं सबको निकाल ले जाऊँ।

झींगुर ने लड़के को तो गोद से उतार दिया, और अपना डंडा सँभालकर भेड़ों पर पिल पड़ा। धोबी भी इतनी निर्दयता से अपने गधे को न पीटता होगा। किसी भेड़ की टाँग टूटी। किसी की कमर टूटी। सबने 'बें-बें' का शोर मचाना शुरू किया। बुद्धू चुपचाप खड़ा अपनी सेना का विध्वंस अपनी आँखों से देखता रहा। वह न भेड़ों को हाँकता था, न झींगुर से कुछ कहता था, बस खड़ा तमाशा देखता रहा। दो मिनट में झींगुर ने इस सेना को अपने अमानुषिक पराक्रम से मार भगाया। मेष-दल का संहार करके विजय-गर्व से बोला—अब सीधे चले जाओ ! फिर इधर से आने का नाम न लेना।

बुद्धू ने आहत भेड़ों की ओर देखते हुए कहा—झींगुर, तुमने यह अच्छा काम नहीं किया। पछताओगे।

(२)

केले को काटना भी इतना आसान नहीं, जितना किसान से बदला लेना। उसकी सारी कमाई खेतों में रहती है, या खलिहानों में। कितनी ही दैविक और भौतिक आपदाओं के बाद कहीं अनाज घर में आता है। और, जो कहीं इन आपदाओं के साथ विद्रोह ने भी सन्धि कर ली, तो बेचारा किसान कहीं का नहीं रहता। झींगुर ने घर आकर दूसरों से इस संग्राम का वृत्तान्त कहा, तो लोग समझाने लगे—झींगुर, तुमने बड़ा अनर्थ किया। जानकर अनजान बनते हो। बुद्धू को जानते नहीं,

कितना झगड़ालू आदमी है। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। जाकर उसे मना लो। नहीं तो तुम्हारे साथ सारे गाँव पर आफ़त आ जायगी। झींगुर की समझ में बात आई। पछताने लगा कि मैंने कहाँ-से-कहाँ उसे रोका। अगर भेड़ें थोड़ा-बहुत चर ही जातीं, तो कौन मैं उजड़ा जाता था। वास्तव में हम किसानों का कल्यान दबे रहने में ही है। ईश्वर को भी हमारा सिर उठाकर चलना अच्छा नहीं लगता। जी तो बुद्धू के घर जाने को न चाहता था, किन्तु दूसरों के आग्रह से मजबूर होकर चला। अगहन का महीना था, कुहरा पड़ रहा था। चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। गाँव से बाहर निकला ही था कि सहसा अपने ऊख के खेत की ओर अग्नि की ज्वाला देखकर चौंक पड़ा। छाती धड़कने लगी। खेत में आग लगी हुई थी। बेतहाशा दौड़ा। मनाता जाता था कि मेरे खेत में न हो। पर ज्यों-ज्यों समीप पहुँचता था, यह आशामय भ्रम शान्त होता जाता था। वह अनर्थ हो ही गया, जिसके निवारण के लिए वह घर से चला था। हत्यारे ने आग लगा ही दी, और मेरे पीछे सारे गाँव को चौपट किया। उसे ऐसा जान पड़ता था कि वह खेत आज बहुत समीप आ गया है, मानो बीच के परती खेतों का अस्तित्व ही नहीं रहा। अन्त में जब वह खेत पर पहुँचा तो आग प्रचण्ड रूप धारण कर चुकी थी। झींगुर ने 'हाय-हाय' मचाना शुरू किया। गाँव के लोग दौड़ पड़े, और खेतों से अरहर के पौदे उखाड़-उखाड़कर आग को पीटने लगे। अग्नि-मानव-संग्राम का भीषण दृश्य उपस्थित हो गया। एक पहर तक हाहाकार मचा रहा। कभी एक पक्ष प्रबल होता था, कभी दूसरा। अग्निपक्ष के योद्धा मर-मरकर जी उठते थे, और द्विगुण शक्ति से, रणोन्मत्त होकर, शस्त्रप्रहार करने लगते थे। मानव-पक्ष में जिस योद्धा की कीर्ति सबसे उज्ज्वल थी, वह बुद्धू था। बुद्धू कमर तक धोती चढ़ाये, प्राण हथेली पर लिये, अग्निराशि में कूद पड़ता था, और शत्रुओं को परास्त करके, बाल-बाल बचकर, निकल आता था। अन्त में मानव-दल की विजय हुई; किन्तु ऐसी विजय, जिस पर हार भी हँसती। गाँव-भर की ऊख जलकर भस्म हो गई,

और ऊख के साथ सारी अभिलाषाएँ भी भस्म हो गई।

(३)

आग किसने लगाई, यह खुला हुआ भेद था ; पर किसी को कहने का साहस न था। कोई सबूत नहीं। प्रमाणहीन तर्क का मूल्य ही क्या। झींगुर को घर से निकलना मुश्किल हो गया। जिधर जाता, ताने सुनने पड़ते। लोग प्रत्यक्ष कहते थे—यह आग तुमने लगवाई। तुम्हीं ने हमारा सर्वनाश किया। तुम्हीं मारे घमण्ड के धरती पर पैर न रखते थे। आप-के-आप गये, अपने साथ गाँव-भर को डुबो दिया। बुद्धू को न छेड़ते, तो आज क्यों यह दिन देखना पड़ता? झींगुर को अपनी बरबादी का इतना दुःख न था, जितना इन जली-कटी बातों का! दिन-भर घर में बैठा रहता। पूस का महीना आया। जहाँ सारी रात कोल्हू चला करते थे, गुड़ की सुगन्ध उड़ती रहती थी, भट्ठियाँ जलती रहती थीं, और लोग भट्ठियों के सामने बैठे हुक्का पिया करते थे, वहाँ सन्नाटा छाया हुआ था। ठंढ के मारे लोग साँझ ही से किवाड़े बन्द करके पड़ रहते, और झींगुर को कोसते। माघ और भी कष्टदायक था। ऊख केवल धनदाता ही नहीं, किसानों का जीवन-दाता भी है। उसी के सहारे किसानों का जाड़ा कटता है। गरम रस पीते हैं, ऊख की पत्तियाँ तापते हैं, उसके अगोड़े पशुओं को खिलाते हैं। गाँव के सारे कुत्ते, जो रात को भट्ठियों की राख में सोया करते थे, ठंढ से मर गये। कितने ही जानवर चारे के अभाव से चल बसे। शीत का प्रकोप हुआ, और सारा गाँव खाँसी-बुख़ार में ग्रस्त हो गया। और यह सारी विपत्ति झींगुर की करनी थी—अभागे, हत्यारे झींगुर की!

झींगुर ने सोचते-सोचते निश्चय किया कि बुद्धू की दशा भी अपनी ही-सी बनाऊँगा। उसके कारण मेरा सर्वनाश हो गया, और वह चैन की बंसी बजा रहा है! मैं भी उसका सर्वनाश करूँगा!

जिस दिन इस घातक कलह की बीजारोपण हुआ, उसी दिन से बुद्धू ने इधर आना छोड़ दिया था। झींगुर ने उससे रब्त-ज़ब्त बढ़ाना शुरू किया। वह बुद्धू को दिखाना चाहता था कि तुम्हारे ऊपर मुझे बिल-

कुल संदेह नहीं है। एक दिन कंबल लेने के बहाने गया, फिर दूध लेने के बहाने जाने लगा। बुद्धू उसका ख़ूब आदर-सत्कार करता। चिलम तो आदमी दुश्मन को भी पिला देता है, वह उसे बिना दूध और शर्बत पिलाये न आने देता। झींगुर आजकल एक सन लपेटनेवाली कल में मज़दूरी करने जाया करता था। बहुधा कई-कई दिनों की मज़दूरी इकट्ठी मिलती थी। बुद्धू ही की तत्परता से झींगुर का रोज़ाना ख़र्च चलता था। अतएव झींगुर ने ख़ूब रब्त-ज़ब्त बढ़ा लिया। एक दिन बुद्धू ने पूछा—क्यों झींगुर, अगर अपनी ऊख जलानेवाले को पा जाओ, तो क्या करो ? सच कहना।

झींगुर ने गम्भीर भाव से कहा—मैं उससे कहूँ, भैया, तुमने जो कुछ किया, बहुत अच्छा किया। मेरा घमंड तोड़ दिया ; मुझे आदमी बना दिया।

बुद्धू—मैं जो तुम्हारी जगह होता, तो बिना उसका घर जलाये न मानता।

झींगुर—चार दिन की ज़िन्दगानी में बैर-विरोध बढ़ाने से क्या फ़ायदा ? मैं तो बरबाद हुआ ही, अब उसे बरबाद करके क्या पाऊँगा ?

बुद्धू—बस, यही आदमी का धर्म है। पर भाई क्रोध के बस में होकर बुद्धि उलटी हो जाती है।

(४)

फागुन का महीना था। किसान ऊख बोने के लिए खेतों को तैयार कर रहे थे। बुद्धू का बाज़ार गरम था। भेड़ों की लूट मची हुई थी। दो-चार आदमी नित्य द्वार पर खड़े खुशामदें किया करते। बुद्धू किसी से सीधे मुँह बात न करता। भेड़ रखने की फ़ीस दूनी कर दी थी। अगर कोई एतराज़ करता तो बेलाग कहता—तो भैया, भेड़ें तुम्हारे गले तो नहीं लगाता हूँ। जी न चाहे, मत रखो। लेकिन मैंने जो कह दिया है, उससे एक कौड़ी भी कम नहीं हो सकती। ग़रज़ थी, लोग इस रुखाई पर भी उसे घेरे ही रहते थे, मानो पण्डे किसी यात्री के पीछे पड़े हों।

लक्ष्मी का आकार तो बहुत बड़ा नहीं, और वह भी समयानुसार छोटा-बड़ा होता रहता है। यहाँ तक कि कभी वह अपना विराट आकार समेटकर उसे काग़ज़ के चन्द अक्षरों में छिपा लेती है। कभी-कभी तो मनुष्य की जिह्वा पर जा बैठती है; आकार का लोप हो जाता है। किन्तु उनके रहने को बहुत स्थान की ज़रूरत होती है। वह आई, और घर बढ़ने लगा। छोटे घर में उनसे नहीं रहा जाता। बुद्धू का घर भी बढ़ने लगा। द्वार पर बरामदा डाला गया, दो की जगह छः कोठरियाँ बनवाई गईं। यों कहिये कि मकान नये सिरे से बनने लगा। किसी किसान से लकड़ी माँगी, किसी से खपरों का आँवा लगाने के लिए उपले, किसी से बाँस और किसी से सरकंडे। दीवार की उठवाई देनी पड़ी। वह भी नक़द नहीं; भेड़ों के बच्चों के रूप में। लक्ष्मी का यह प्रताप है। सारा काम बेगार में हो गया। मुफ़्त में अच्छा ख़ासा घर तैयार हो गया। गृहप्रवेश के उत्सव की तैयारियाँ होने लगीं।

इधर झींगुर दिन-भर मज़दूरी करता, तो कहीं आधा पेट अन्न मिलता। बुद्धू के घर कंचन बरस रहा था। झींगुर जलता था, तो क्या बुरा करता था? यह अन्याय किससे सहा जायगा?

एक दिन वह टहलता हुआ चमारों के टोले की तरफ़ चला गया। हरिहर को पुकारा। हरिहर ने आकर 'राम-राम' की, और चिलम भरी। दोनों पीने लगे। यह चमारों का मुखिया बड़ा दुष्ट आदमी था। सब किसान इससे थर-थर काँपते थे।

झींगुर ने चिलम पीते पीते कहा—आजकल फाग वाग नहीं होता क्या? सुनाई नहीं देता।

हरिहर—फाग क्या हो, पेट के धन्धे से छुट्टी ही नहीं मिलती। कहो, तुम्हारी आजकल कैसी निभती है?

झींगुर—क्या निभती है। नकटा जिया बुरे हवाल! दिन भर कल में मज़दूरी करते हैं, तो चूल्हा जलता है! चाँदी तो आजकल बुद्धू की है। रखने को ठौर नहीं मिलता। नया घर बना, भेड़ें और ली हैं! अब गृहीपरवेस की धूम है। सातों गाँवों में सुपारी जायगी।

हरिहर—लच्छिमी मैया आती हैं, तो आदमी की आँखों में सील आ जाता है। पर उसको देखो धरती पर पैर नहीं रखता। बोलता है, तो ऐंठ ही कर बोलता है।

झींगुर—क्यों न ऐंठे, इस गाँव में कौन है उसकी टक्कर का! पर यार यह अनीति तो नहीं देखी जाती। भगवान् दे, तो सिर झुकाकर चलना चाहिये। यह नहीं कि अपने बराबर किसी को समझे ही नहीं। उसकी डींग सुनता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। कल का बानी आज का सेठ। चला है हमीं से अकड़ने। अभी कल लँगोटी लगाये खेतों में कौए हँकाया करता था, आज उसका आसमान में दिया जलता है।

हरिहर—कहो, तो कुछ उताजोग करूँ?

झींगुर—क्या करोगे! इसी डर से तो वह गाय-भैंस नहीं पालता।

हरिहर—भेड़ें तो हैं?

झींगुर—क्या, बगला मारे पखना हाथ।

हरिहर—फिर तुम्हीं सोचो।

झींगुर—ऐसी जुगुत निकालो कि फिर पनपने न पावे।

इसके बाद फुस-फुस करके बातें होने लगीं। यह एक रहस्य है कि भलाइयों में जितना द्वेष होता है, बुराइयों में उतना ही प्रेम। विद्वान् विद्वान् को देखकर, साधु साधु को देखकर, और कवि कवि को देखकर जलता है। एक दूसरे की सूरत नहीं देखना चाहता। पर जुआरी जुआरी को देखकर, शराबी शराबी को देखकर, चोर चोर को देखकर सहानुभूति दिखाता है, सहायता करता है। एक पंडितजी अगर अँधेरे में ठोकर खाकर गिर पड़ें, तो दूसरे पंडितजी उन्हें उठाने के बदले दो ठोकरें और लगावेंगे कि वह फिर उठ ही न सकें। पर एक चोर पर आफ़त आई देख दूसरा चोर उसकी आकर लेता है। बुराई से सब घृणा करते हैं, इसलिए बुरों में परस्पर प्रेम होता है। भलाई की सारा संसार प्रशंसा करता है, इसलिए भलों में विरोध होता है। चोर को मारकर चोर क्या पावेगा? घृणा। विद्वान् का अपमान करके विद्वान् क्या पावेगा? यश।

झींगुर और हरिहर ने सलाह कर ली। षड्यंत्र रचने की विधि सोची गई। उसका स्वरूप, समय और क्रम ठीक किया गया। झींगुर चला, तो अकड़ा जाता था। मार लिया दुश्मन को, अब कहाँ जाता है!

दूसरे दिन झींगुर काम पर जाने लगा, तो पहले बुद्धू के घर पहुँचा बुद्धू ने पूछा—क्यों, आज नहीं गये क्या?

झींगुर—जा तो रहा हूँ। तुमसे यही कहने आया था कि मेरी बछिया को अपनी भेड़ों के साथ क्यों नहीं चरा दिया करते। बेचारी खूँटे से बँधी-बँधी मरी जाती है। न घास; न चारा, क्या खिलावें?

बुद्धू—भैया, मैं गाय-भैंस नहीं रखता। चमारों को जानते हो, एक ही हत्यारे होते हैं। इसी हरिहर ने मेरी दो गउएँ मार डालीं। न जाने क्या खिला देता है। तब से कान पकड़े कि अब गाय-भैंस न पालूँगा। लेकिन तुम्हारी एक ही बछिया है, उसका कोई क्या करेगा। जब चाहो, पहुँचा दो।

यह कहकर बुद्धू अपने गृहोत्सव का सामान उसे दिखाने लगा। घी, शक्कर, मैदा, तरकारी सब मँगा रखा था। केवल सत्यनारायण की कथा की देर थी। झींगुर की आँखें खुल गईं। ऐसी तैयारी न उसने स्वयं कभी की थी, और न किसी को करते देखी थी। मज़दूरी करके घर लौटा, तो सबसे पहला काम जो उसने किया, वह अपनी बछिया को बुद्धू के घर पहुँचाना था। उसी रात को बुद्धू के यहाँ सत्यनारायण की कथा हुई। ब्रह्मभोज भी किया गया। सारी रात विप्रों का आगत-स्वागत करते गुज़री। भेड़ों के झुंड में जाने का अवकाश ही न मिला। प्रातःकाल भोजन करके उठा ही था। (क्योंकि रात का भोजन सवेरे मिला) कि एक आदमी ने आकर ख़बर दी—बुद्धू, तुम यहाँ बैठे हो, उधर भेड़ों में बछिया मरी पड़ी है! भले आदमी, उसकी पगहिया भी नहीं खोली थी!

बुद्धू ने सुना, और मानो ठोकर लग गई। झींगुर भी भोजन करके वहीं बैठा था। बोला—हाय, मेरी बछिया! चलो, ज़रा देखूँ

तो। मैंने तो पगहिया नहीं लगाई थी। उसे भेड़ों में पहुँचाकर अपने घर चला गया। तुमने यह पगहिया कब लगा दी ?

बुद्धू—भगवान् जानें, जो मैंने उसकी पगहिया देखी भी हो। मैं तो तब से भेड़ों में गया ही नहीं।

झींगुर—जाते न, तो पगहिया कौन लगा देता ? गये होगे, याद न आती होगी।

एक ब्राह्मण—मरी तो भेड़ों में ही न ? दुनिया तो यही कहेगी कि बुद्धू की असावधानी से उसकी मृत्यु हुई, पगहिया किसी की हो।

हरिहर—मैंने कल साँझ को इन्हें भेड़ों में बछिया को बाँधते देखा था।

बुद्धू—मुझे !

हरिहर—तुम नहीं लाठी कंधे पर रखे बछिया को बाँध रहे थे ?

बुद्धू—बड़ा सच्चा है तू ! तूने मुझे बछिया को बाँधते देखा था !

हरिहर—तो मुझ पर काहे को बिगड़ते हो भाई ? तुमने नहीं बाँधी, नहीं सही।

ब्राह्मण—इसका निश्चय करना होगा। गोहत्या का प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। कुछ हँसी-ठट्टा है !

झींगुर—महराज, कुछ जान-बूझकर तो बाँधी नहीं।

ब्राह्मण—इससे क्या होता है ? हत्या इसी तरह लगती है; कोई गऊ को मारने नहीं जाता।

झींगुर—हाँ, गउओं को खोलना-बाँधना है तो जोखिम का काम।

ब्राह्मण—शास्त्रों में इसे महापाप कहा है। गऊ की हत्या ब्राह्मण की हत्या से कम नहीं।

झींगुर—हाँ, फिर गऊ तो ठहरी ही। इसी से न इनका मान होता है। जो माता, सो गऊ। लेकिन महराज, चूक हो गई। कुछ ऐसा कीजिये कि थोड़े में बेचारा निपट जाय।

बुद्धू खड़ा सुन रहा था कि अनायास मेरे सिर हत्या मढ़ी जा रही है। झींगुर की कूटनीति भी समझ रहा था। मैं लाख कहूँ, मैंने

बछिया नहीं बाँधी, मानेगा कौन ? लोग यही कहेंगे कि प्रायश्चित्त से बचने के लिए ऐसा कह रहा है।

ब्राह्मण देवता का भी उसका प्रायश्चित्त कराने में कल्याण होता था। भला ऐसे अवसर पर कब चूकनेवाले थे। फल यह हुआ कि बुद्धू को हत्या लग गई। ब्राह्मण भी उससे जले हुए थे। कसर निकालने की घात मिली। तीन मास का भिक्षा-दण्ड दिया, फिर सात तीर्थ-स्थानों की यात्रा, उस पर ५०० विप्रों का भोजन और ५ गउओं का दान। बुद्धू ने सुना, तो बधिया बैठ गई। रोने लगा, तो दण्ड घटाकर दो मास का कर दिया। इसके सिवा कोई रिआयत न हो सकी। न कहीं अपील, न कहीं फ़रियाद ! बेचारे को यह दंड स्वीकार करना पड़ा।

बुद्धू ने भेड़ें ईश्वर को सौंपी। लड़के छोटे थे। स्त्री अकेली क्या-क्या करती। ग़रीब जाकर द्वारों पर खड़ा होता, और मुँह छिपाये हुए कहता—गाय की बाछी दियो बनवास। भिक्षा तो मिल जाती, किन्तु भिक्षा के साथ दो-चार कठोर, अपमानजनक शब्द भी सुनने पड़ते। दिन को जो कुछ पाता, वही शाम को किसी पेड़ के नीचे बनाकर खा लेता, और वहीं पड़ रहता। कष्ट की तो उसे परवा न थी, भेड़ों के साथ दिन-भर चलता ही था, पेड़ के नीचे सोता ही था, भोजन भी इससे कुछ ही अच्छा मिलता था ; पर लज्जा थी भिक्षा माँगने की। विशेष करके जब कोई कर्कशा यह व्यंग्य कर देती थी कि रोटी कमाने का अच्छा ढंग निकाला है, तो उसे हार्दिक वेदना होती थी। पर करे क्या !

दो महीने के बाद वह घर लौटा। बाल बढ़े हुए थे। दुर्बल इतना मानो ६० वर्ष का बूढ़ा हो। तीर्थयात्रा के लिए रुपयों का प्रबन्ध करना था, गड़रियों को कौन महाजन क़र्ज दे ? भेड़ों का भरोसा क्या ? कभी कभी रोग फैलाता है, तो रातभर में दल का दल साफ़ हो जाता है। उस पर जेठ का महीना, जब भेड़ों से कोई आमदनी होने की आशा नहीं। एक तेली राज़ी भी हुआ, तो =) रुपया ब्याज पर। आठ महीने

में ब्याज मूल के बराबर हो जायगा। यहाँ क़र्ज़ लेने की हिम्मत न पड़ी। इधर दो महीनों में कितनी ही भेड़ें चोरी चली गई थीं। लड़के चराने ले जाते थे। दूसरे गाँववाले चुपके से एक-दो भेड़ें किसी खेत या घर में छिपा देते, और पीछे मारकर खा जाते। लड़के बेचारे एक तो पकड़ न सकते, और जो देख भी लेते, तो लड़ें क्योंकर। सारा गाँव एक हो जाता था। एक महीने में तो भेड़ें आधी भी न रहेंगी। बड़ी विकट समस्या थी। विवश होकर बुद्धू ने एक बूचड़ को बुलाया, और सब भेड़ें उसके हाथ बेच डालीं। ५००) हाथ लगे। उनमें से २००) लेकर वह तीर्थ-यात्रा करने गया। शेष रुपए ब्रह्मभोज आदि के लिए छोड़ गया।

बुद्धू के जाने पर उसके घर में दो बार सेंध लगी। पर यह कुशल हुई कि जगहग हो जाने के कारण रुपये बच गये।

(७)

सावन का महीना था। चारों ओर हरियाली छाई हुई थी। झींगुर के बैल न थे। खेत बटाई पर दे दिये थे। बुद्धू प्रायश्चित्त से निवृत्त हो गया था और उसके साथ ही माया के फंदे से भी। न झींगुर के पास कुछ था, न बुद्धू के पास। कौन किससे जलता, और किसलिए जलता?

सन की कल बन्द हो जाने के कारण झींगुर अब बेलदारों का काम करता था। शहर में एक विशाल धर्मशाला बन रही थी। हज़ारों मज़दूर काम करते थे। झींगुर भी उन्हीं में था। सातवें दिन मज़दूरी के पैसे लेकर घर आता था, और रातभर रहकर सवेरे फिर चला जाता था।

बुद्धू भी मज़दूरी की टोह में यहीं पहुँचा। जमादार ने देखा, दुर्बल आदमी है, कठिन काम तो इससे हो न सकेगा, कारीगरों को गारा देने के लिए रख लिया। बुद्धू सिर पर तसला रखे गारा लेने गया, तो झींगुर को देखा। 'राम-राम' हुई, झींगुर ने गारा भर दिया, बुद्धू उठा लाया। दिन-भर दोनों चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे।

संध्या-समय झींगुर ने पूछा—कुछ बनाओगे न ?

बुद्धू—नहीं तो खाऊँगा क्या ?

झींगुर—मैं तो एक जून चबेना कर लेता हूँ। इस जून सत्तू पर काट देता हूँ। कौन झंझट करे।

बुद्धू—इधर-उधर लकड़ियाँ पड़ी हुई हैं, बटोर लाओ। आटा मैं घर से लेता आया हूँ। घर ही पर पिसवा लिया था। यहाँ तो बड़ा महँगा मिलता है। इसी पत्थर की चट्टान पर आटा गूँधे लेता हूँ। तुम तो मेरा बनाया खाओगे नहीं, इसलिए तुम्हीं रोटियाँ सेंको, मैं बना दूँगा।

झींगुर—तवा भी तो नहीं है ?

बुद्धू—तवे बहुत हैं। यही गारे का तसला माँजे लेता हूँ।

आग जली, आटा गूँधा गया। झींगुर ने कच्ची-पक्की रोटियाँ बनाईं। बुद्धू पानी लाया। दोनों ने लाल मिर्च और नमक से रोटियाँ खाईं। फिर चिलम भरी गई। दोनों आदमी पत्थर की सिलों पर लेटे, और चिलम पीने लगे।

बुद्धू ने कहा—तुम्हारी ऊख में आग मैंने लगाई थी।

झींगुर ने विनोद के भाव से कहा—जानता हूँ।

थोड़ी देर के बाद झींगुर बोला—बछिया मैंने ही बाँधी थी, और हरिहर ने उसे कुछ खिला दिया था।

बुद्धू ने भी वैसे ही भाव से कहा—जानता हूँ।

फिर दोनों सो गये।

डिक्री के रुपए

(१)

नईम और कैलास में इतनी शारीरिक, मानसिक, नैतिक और सामाजिक अभिन्नता थी, जितनी दो प्राणियों में हो सकती है। नईम दीर्घकाय विशाल वृक्ष था, कैलास बाग़ का कोमल पौदा ; नईम को

क्रिकेट और फुटबाल, सैर और शिकार का व्यसन था, कैलास को पुस्तकावलोकन का; नईम एक विनोदशील, वाक्चतुर, निर्द्वंद्व, हास्यप्रिय, विलासी युवक था, उसे कल की चिंता कभी न सताती थी। विद्यालय उसके लिए क्रीड़ा का स्थान था, और कभी-कभी बेंच पर खड़े होने का। इसके प्रतिकूल कैलास एक एकांतप्रिय, आलसी, व्यायाम से कोसों भागनेवाला, आमोद-प्रमोद से दूर रहनेवाला, चिन्ताशील, आदर्शवादी जीव था। वह भविष्य की कल्पनाओं से विकल रहता था। नईम एक सुसम्पन्न, उच्च पदाधिकारी पिता का एक-मात्र पुत्र था। कैलास एक साधारण व्यवसायी के कई पुत्रों में से एक। उसे पुस्तकों के लिए काफ़ी धन न मिलता था, माँग-जाँचकर काम निकाला करता था। एक के लिए जीवन आनंद का स्वप्न था, और दूसरे के लिए विपत्तियों का बोझ। पर इतनी विषमताओं के होते हुए भी उन दोनों में घनिष्ठ मैत्री और निस्स्वार्थ विशुद्ध प्रेम था। कैलास मर जाता, पर नईम का अनुग्रह-पात्र न बनाता; और नईम मर जाता, पर कैलास से बेअदबी न करता। नईम की ख़ातिर से कैलास कभी-कभी स्वच्छ, निर्मल वायु का सुख उठा लिया करता। कैलास की ख़ातिर से नईम भी कभी-कभी भविष्य के स्वप्न देख लिया करता था। नईम के लिए राज्यपद का द्वार खुला हुआ था, भविष्य कोई अपार सागर न था। कैलास को अपने हाथों से कुआँ खोदकर पानी पीना था, भविष्य एक भीषण संग्राम था, जिसके स्मरण-मात्र से उसका चित्त अशान्त हो उठता था।

(२)

कॉलेज से निकलने के बाद नईम को शासन-विभाग में एक उच्च पद प्राप्त हो गया, यद्यपि वह तीसरी श्रेणी में पास हुआ था। कैलास प्रथम श्रेणी में पास हुआ था; किंतु उसे बरसों एड़ियाँ रगड़ने, ख़ाक छानने और कुएँ झाँकने पर भी कोई काम न मिला। यहाँ तक कि विवश होकर उसे अपनी क़लम का आश्रय लेना पड़ा। उसने एक समाचार-पत्र निकाला। एक ने राज्याधिकार का रास्ता लिया, जिसका

लक्ष्य धन था, और दूसरे ने सेवा-मार्ग का सहारा लिया, जिसका परिणाम ख्याति, कष्ट और कभी-कभी कारागार होता है। नईम को उसके दफ़्तर के बाहर कोई न जानता था; किंतु वह बँगले में रहता, हवागाड़ी पर हवा खाता, थिएटर देखता और गरमियों में नैनीताल की सैर करता था। कैलास को सारा संसार जानता था, पर उसके रहने का मकान कच्चा था, सवारी के लिए अपने पाँव। बच्चों के लिए दूध भी मुश्किल से मिलता। साग-भाजी में काट-कपट करना पड़ता था। नईम के लिए सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह थी कि उसके केवल एक पुत्र था; पर कैलास के लिए सबसे बड़ी दुर्भाग्य की बात उसकी सन्तान-वृद्धि थी, जो उसे पनपने न देती थी। दोनों मित्रों में पत्र-व्यवहार होता रहता था। कभी-कभी दोनों में मुलाक़ात भी हो जाती थी। नईम कहता था—यार, तुम्हीं मज़े में हो, देश और जाति की कुछ सेवा तो कर रहे हो। यहाँ तो पेट-पूजा के सिवा और किसी काम के न हुए। पर यह 'पेट-पूजा' उसने कई दिनों की कठिन तपस्या से हृदयंगम कर पाई थी, और उसके प्रयोग के लिए अवसर ढूँढ़ता रहता था।

कैलास ख़ूब समझता था कि यह केवल नईम की विनयशीलता है। यह मेरी कुदशा से दुखी होकर मुझे इस उपाय से सांत्वना देना चाहता है। इसलिए वह अपनी वास्तविक स्थिति को उससे छिपाने का विफल प्रयत्न किया करता था।

विष्णुपुर की रियासत में हाहाकार मचा हुआ था। रियासत का मैनेजर अपने बँगले में, ठीक दोपहर के समय, सैकड़ों आदमियों के सामने, क़त्ल कर दिया गया था। यद्यपि ख़ूनी भाग गया था, पर अधिकारियों को सन्देह था कि कुँअर साहब की दुष्प्रेरणा से ही यह हत्याभिनय हुआ है। कुँअर साहब अभी बालिग़ न हुए थे। रियासत का प्रबन्ध कोर्ट ऑफ़् वार्ड-द्वारा होता था। मैनेजर पर कुँअर साहब की देख-रेख का भार भी था। विलास-प्रिय कुँवर को मैनेजर का हस्तक्षेप बहुत ही बुरा मालूम होता था। दोनों में बरसों से मनमुटाव था। यहाँ तक कि कई बार प्रत्यक्ष कटु वाक्यों की नौबत भी आ

पहुँची थी। अतएव कुँअर साहब पर सन्देह होना स्वाभाविक ही था। इस घटना का अनुसन्धान करने के लिए ज़िले के हाकिम ने मिरज़ा नईम को नियुक्त किया। किसी पुलिस कर्मचारी-द्वारा तहक़ीक़ात कराने में कुँअर साहब के अपमान का भय था।

नईम को अपने भाग्य-निर्माण का स्वर्ण-सुयोग प्राप्त हुआ। वह न त्यागी था, न ज्ञानी। सभी उसके चरित्र की दुर्बलता से परिचित थे, अगर कोई न जानता था, तो हुक्काम लोग। कुँअर साहब ने मुँह-माँगी मुराद पाई। नईम जब विष्णुपुर पहुँचा, तो उसका असामान्य आदर-सत्कार हुआ। भेंट चढ़ने लगीं, अरदली के चपरासी, पेशकार, साईस, बावरची, ख़िदमतगार, सभी के मुँह तर और मुट्ठियाँ गरम होने लगीं। कुँअर साहब के हवाली-मवाली रात-दिन घेरे रहते, मानो दामाद ससुराल आया हो।

एक दिन प्रातःकाल कुँअर साहब की माता आकर नईम के सामने हाथ बाँधकर खड़ी हो गई। नईम लेटा हुआ हुक्का पी रहा था। तप, संयम, और वैधव्य की यह तेजस्वी प्रतिमा देखकर उठ बैठा।

रानी उसकी ओर वात्सल्य-पूर्ण लोचनों से देखती हुई बोली—हुज़ूर, मेरे बेटे का जीवन आपके हाथ में है। आप ही उसके भाग्य-विधाता हैं। आपको उसी माता की सौगंद है, जिसके आप सुयोग्य पुत्र हैं, मेरे लाल की रक्षा कीजियेगा। मैं तन, मन, धन आपके चरणों पर अर्पण करती हूँ।

स्वार्थ ने दया के संयोग से नईम को पूर्ण रीति से वशीभूत कर लिया।

(३)

उन्हीं दिनों कैलास नईम से मिलने आया। दोनों मित्र बड़े तपाक से गले मिले। नईम ने बातों-बातों में यह सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया, और कैलास पर अपने कृत्य का औचित्य सिद्ध करना चाहा।

कैलास ने कहा—मेरे विचार में पाप सदैव पाप है, चाहे वह किसी आवरण में मंडित हो।

नईम—और मेरा विचार है कि अगर गुनाह से किसी की जान बचती हो, तो वह ऐन सवाब है। कुँअर साहब अभी नौजवान आदमी हैं। बहुत ही होनहार, बुद्धिमान्, उदार और सहृदय हैं। आप उनसे मिलें, तो खुश हो जायँ। उनका स्वभाव अत्यन्त विनम्र है। मैनेजर जो यथार्थ में दुष्ट प्रकृति का मनुष्य था, बरबस कुँअर साहब को दिक़ किया करता था। यहाँ तक कि एक मोटरकार के लिए उसने रुपए न स्वीकार किये, न सिफ़ारिश की। मैं यह नहीं कहता कि कुँअर साहब का यह कार्य स्तुत्य है; लेकिन बहस यह है कि उनको अपराधी सिद्ध करके उन्हें कालेपानी की हवा खिलाई जाय, या निरपराध सिद्ध करके उनकी प्राण-रक्षा की जाय। और भाई, तुमसे तो कोई परदा नहीं है, पूरे २० हज़ार की थैली है। बस, मुझे अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना होगा कि व्यक्तिगत वैमनस्य के कारण यह दुर्घटना हुई है, राजा साहब का इससे कोई संपर्क नहीं। जो शहादतें मिल सकीं, उन्हें मैंने ग़ायब कर दिया। मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त करने में अधिकारियों की एक मसलहत थी। कुँवर साहब हिन्दू हैं, इसलिए किसी हिन्दू कर्मचारी को नियुक्त न करके ज़िलाधीश ने यह भार मेरे सिर रखा। यह सांप्रदायिक विरोध मुझे निस्पृह सिद्ध करने के लिए काफ़ी है। मैंने दो चार अवसरों पर कुछ तो हुक्काम की प्रेरणा से और कुछ स्वेच्छा से मुसलमानों के साथ पक्षपात किया, जिससे यह मशहूर हो गया है कि मैं हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन हूँ। हिन्दू लोग तो मुझे पक्षपात का पुतला समझते हैं। यह भ्रम मुझे आक्षेपों से बचाने के लिए काफ़ी है। बताओ, हूँ तक़दीरवर कि नहीं?

कैलास—अगर कहीं बात खुल गई तो?

नईम—तो यह मेरी समझ का फेर, मेरे अनुसन्धान का दोष, मानव-प्रकृति के एक अटल नियम का उज्ज्वल उदाहरण होगा! मैं कोई सर्वज्ञ तो हूँ नहीं। मेरी नीयत पर आँच न आने पावेगी। मुझ पर रिश्वत लेने का सन्देह न हो सकेगा। आप इसके व्यावहारिक कोण पर न जाइये, केवल इसके नैतिक कोण पर निगाह रखिये। यह

कार्य नीति के अनुकूल है या नहीं ? आध्यात्मिक सिद्धांतों को न खींच लाइयेगा, केवल नीति के सिद्धांतों से इसकी विवेचना कीजिये।

कैलास—इसका एक अनिवार्य फल यह होगा कि दूसरे रईसों को भी ऐसे दुष्कृत्यों की उत्तेजना मिलेगी। धन से बड़े से बड़े पापों पर परदा पड़ सकता है, इस विचार के फैलने का फल कितना भयंकर होगा, इसका आप स्वयं अनुमान कर सकते हैं।

नईम—जी नहीं, मैं यह अनुमान नहीं कर सकता। रिश्वत अब भी ९० फ़ी सदी अभियोगों पर परदा डालती है। फिर भी पाप का भय प्रत्येक हृदय में है।

दोनों मित्रों में देर तक इस विषय पर तर्क-वितर्क होता रहा ; लेकिन कैलास का न्याय-विचार नईम के हास्य और व्यंग्य से पेश न पा सका।

(४)

विष्णुपुर के हत्याकांड पर समाचार-पत्रों में आलोचना होने लगी। सभी पत्र एक स्वर से राजा साहब को ही लांछित करते और गवर्नमेंट को राजा साहब से अनुचित पक्षपात करने का दोष लगाते थे ; लेकिन इसके साथ यह भी लिख देते थे कि अभी यह अभियोग विचाराधीन है, इसलिए इसपर टीका नहीं की जा सकती।

मिरज़ा नईम ने अपनी खोज को सत्य का रूप देने के लिए पूरा एक महीना व्यतीत किया। जब उनकी रिपोर्ट प्रकाशित हुई, तो राजनीतिक क्षेत्र में विप्लव मच गया। जनता के सदेह की पुष्टि हो गई।

कैलास के सामने अब एक जटिल समस्या उपस्थित हुई। अभी तक उसने इस विषय पर एक-मात्र मौन धारण कर रखा था। वह यह निश्चय न कर सकता था कि क्या लिखूँ। गवर्नमेंट का पक्ष लेना अपनी अन्तरात्मा को पददलित करना था, आत्मस्वातंत्र्य का बलिदान करना था। पर मौन रहना और भी अपमानजनक था। अन्त को जब सहयोगियों में दो-चार ने उसके ऊपर सांकेतिक रूप से आक्षेप करना शुरू किया कि उसका मौन निरर्थक नहीं है, तब उसके लिए तटस्थ

रहना असह्य हो गया। उसके वैयक्तिक तथा जातीय कर्तव्य में घोर संग्राम होने लगा। उस मैत्री को, जिसके अंकुर पचीस वर्ष पहले हृदय में अंकुरित हुए थे, और अब जो एक सघन, विशाल वृक्ष का रूप धारण कर चुकी थी, हृदय से निकालना, हृदय को चीरना था। वह मित्र, जो उसके दुख में दुखी और सुख में सुखी होता था, जिसका उदार हृदय नित्य उसकी सहायता के लिए तत्पर रहता था, जिसके घर में जाकर वह अपनी चिंताओं को भूल जाता था, जिसके प्रेमालिङ्गन में वह अपने कष्टों को विसर्जित कर दिया करता था, जिसके दर्शन-मात्र ही से उसे आश्वासन, दृढ़ता तथा मनोबल प्राप्त होता था, उसी मित्र की जड़ खोदनी पड़ेगी! वह बुरी सायत थी जब मैंने सम्पादकीय क्षेत्र में पदार्पण किया, नहीं तो आज इस धर्म-संकट में क्यों पड़ता। कितना घोर विश्वासघात होगा! विश्वास मैत्री का मुख्य अंग है। नईम ने मुझे अपना विश्वासपात्र बनाया है, मुझसे कभी परदा नहीं रखा। उसके उन गुप्त रहस्यों को प्रकाश में लाना उसके प्रति कितना घोर अन्याय होगा! नहीं मैं मैत्री को कलंकित न करूँगा, उसकी निर्मल कीर्ति पर धब्बा न लगाऊँगा, मैत्री पर वज्राघात न करूँगा। ईश्वर वह दिन न लावे कि मेरे हाथों नईम का अहित हो। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि मुझ पर कोई संकट पड़े, तो नईम मेरे लिए प्राण तक दे देने को तैयार हो जायगा! उसी मित्र को मैं संसार के सामने अपमानित करूँ, उसकी गरदन पर कुठार चलाऊँ। भगवान्, मुझे वह दिन न दिखाना।

लेकिन जातीय कर्तव्य का पक्ष भी निरस्त्र न था। पत्र का सम्पादक परंपरागत नियमों के अनुसार जाति का सेवक है। वह जो कुछ देखता है, जाति की विराट् दृष्टि से देखता है। वह जो कुछ विचार करता है, उस पर भी जातीयता की छाप लगी होती है। नित्य जाति के विस्तृत विचार-क्षेत्र में विचरण करते रहने से व्यक्ति का महत्व उसकी दृष्टि में अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है, वह व्यक्ति को क्षुद्र, तुच्छ, नगण्य समझने लगता है। व्यक्ति की जाति पर बलि देना उसकी नीति

का प्रथम अंग है। यहाँ तक कि वह बहुधा अपने स्वार्थ को भी जाति पर वार देता है। उसके जीवन का लक्ष्य महान् और आदर्श पवित्र होता है। वह उन महान् आत्माओं का अनुगामी होता है, जिन्होंने राष्ट्रों का निर्माण किया है, जिनकी कीर्ति अमर हो गई है, जो दलित राष्ट्रों की उद्धारक हो गई हैं। वह यथाशक्ति कोई काम ऐसा नहीं कर सकता, जिससे उसके पूर्वजों की उज्ज्वल विरदावली में कालिमा लगने का भय हो। कैलास राजनीतिक-क्षेत्र में बहुत कुछ यश और गौरव प्राप्त कर चुका था। उसकी सम्मति आदर की दृष्टि से देखी जाती थी। उसके निर्भीक विचारों ने, उसकी निष्पक्ष टीकाओं ने उसे सम्पादक-मण्डली का प्रमुख नेता बना दिया था। अतएव इस अवसर पर मैत्री का निर्वाह केवल उसकी नीति और आदर्श ही के विरुद्ध नहीं उसके मनोगत भावों के भी विरुद्ध था। इसमें उसका अपमान था, आत्मपतन था, भीरुता थी। यह कर्तव्य-पथ से विमुख होना और राजनीतिक क्षेत्र से सदैव के लिए बहिष्कृत हो जाना था। एक व्यक्ति की, चाहे वह मेरा कितना ही आत्मीय क्यों न हो, राष्ट्र के सामने क्या हस्ती है! नईम के बनने या बिगड़ने से राष्ट्र पर कोई असर न पड़ेगा। लेकिन शासन की निरंकुशता और अत्याचार पर परदा डालना राष्ट्र के लिए भयंकर सिद्ध हो सकता है। उसे इसकी परवा न थी कि मेरी आलोचना का प्रत्यक्ष कोई असर होगा या नहीं। सम्पादक की दृष्टि में अपनी सम्मति सिंहनाद के समान प्रतीत होती है। वह कदाचित् समझता है कि मेरी लेखनी शासन को कम्पायमान कर देगी, विश्व को हिला देगी। शायद सारा संसार मेरी क़लम की सरसराहट से थर्रा उठेगा, मेरे विचार प्रकट होते ही युगान्तर उपस्थित कर देंगे। नईम मेरा मित्र है, किन्तु राष्ट्र मेरा इष्ट है। मित्र के पद की रक्षा के लिए क्या अपने इष्ट पर प्राणघातक आघात करूँ?

कई दिनों तक कैलास के व्यक्तिगत और सम्पादकीय कर्तव्यों में संघर्ष होता रहा। अन्त को जाति ने व्यक्ति को परास्त कर दिया। उसने निश्चय किया कि मैं इस रहस्य का यथार्थ स्वरूप दिखा दूँगा;

शासन के अनुत्तरदायित्व को जनता के सामने खोलकर रख दूँगा ; शासन विभाग के कर्मचारियों की स्वार्थ-लोलुपता का नमूना दिखा दूँगा ; दुनिया को दिखा दूँगा कि सरकार किनकी आँखों से देखती है, किनके कानों से से सुनती है। उसकी अक्षमता, उसकी अयोग्यता, और उसकी दुर्बलता को प्रमाणित करने का इससे बढ़कर और कौन-सा उदाहरण मिल सकता है ? नईम मेरा मित्र है, तो हो ; जाति के सामने वह कोई चीज़ नहीं है। उसकी हानि के भय से मैं राष्ट्रीय कर्तव्य से क्यों मुँह फेरूँ, अपनी आत्मा को क्यों दूषित करूँ, अपनी स्वाधीनता को क्यों कलंकित करूँ ? आह, प्राणों से प्रिय नईम ! मुझे क्षमा करना, आज तुम-जैसे मित्र-रत्न को मैं अपने कर्तव्य की वेदी पर बलि चढ़ाता हूँ। मगर तुम्हारी जगह अगर मेरा पुत्र होता, तो उसे भी इसी कर्तव्य की बलि-वेदी पर भेंट कर देता !

दूसरे दिन से कैलास ने इस दुर्घटना की मीमांसा शुरू की। जो कुछ उसने नईम से सुना था, वह सब एक लेखमाला के रूप में प्रकाशित करने लगा। घर का भेदी लंका ढाहे ! अन्य सम्पादकों को जहाँ अनुमान, तर्क और युक्ति के आधार पर अपना मत स्थिर करना पड़ता था, और इसलिए वे कितनी ही अनर्गल, अपवादपूर्ण बातें लिख डालते थे, वहाँ कैलास की टिप्पणियाँ प्रत्यक्ष प्रमाणों से युक्त होती थीं। वह पते-पते की बातें कहता था, और उस निर्भीकता के साथ, जो दिव्य अनुभव का निर्देश करती थीं। उसके लेखों में विस्तार कम, पर सार अधिक होता था। उसने नईम को भी न छोड़ा, उसकी स्वार्थ-लिप्सा का ख़ूब ख़ाका उड़ाया। यहाँ तक कि वह धन की संख्या भी लिख दी, जो इस कुत्सित व्यापार पर परदा डालने के लिए उसे दी गई थी। सबसे मज़े की बात यह थी कि उसने नईम से एक राष्ट्रीय गुप्तचर की मुलाक़ात का भी उल्लेख किया, जिसने नईम को रुपए लेते हुए देखा था। अन्त में गवर्नमेंट को भी चैलेंज दिया कि जो उसमें साहस हो, तो मेरे प्रमाणों को झूठा साबित कर दे। इतना ही नहीं, उसने वह वार्तालाप भी अक्षरशः प्रकाशित कर दिया,

जो उसके और नईम के बीच हुआ था। रानी का नईम के पास आना, उसके पैरों पर गिरना, कुँअर साहब का नईम के पास नाना प्रकार के तोहफे लेकर आना, इन सभी प्रसंगों ने उसके लेखों में एक जासूसी उपन्यास का मज़ा पैदा कर दिया।

इन लेखों ने राजनीतिक क्षेत्र में हलचल मचा दी। पत्र-संपादकों को अधिकारियों पर निशाने लगाने के ऐसे अवसर बड़े सौभाग्य से मिलते हैं। जगह-जगह शासन की इस करतूत की निन्दा करने के लिए सभाएँ होने लगीं। कई सदस्यों ने व्यवस्थापक सभा में इस विषय पर प्रश्न करने की घोषणा की। शासकों को कभी ऐसी मुँह की न खानी पड़ी थी। आख़िर उन्हें अपनी मान-रक्षा के लिए इसके सिवा और कोई उपाय न सूझा कि वे मिरज़ा नईम को कैलास पर मान-हानि का अभियोग चलाने के लिए विवश करें।

(५)

कैलास पर इस्तग़ासा दायर हुआ। मिरज़ा नईम की ओर से सरकार पैरवी करती थी। कैलास स्वयं अपनी पैरवी कर रहा था। न्याय के प्रमुख संरक्षकों (वकील-बैरिस्टरों) ने किसी अज्ञात कारण से उसकी पैरवी करना अस्वीकार किया। न्यायाधीश को हारकर कैलास को, क़ानून की सनद न रखते हुए भी, अपने मुक़द्दमे की पैरवी करने की आज्ञा देनी पड़ी। महीनों अभियोग चलता रहा। जनता में सनसनी फैल गई। रोज़ हज़ारों आदमी अदालत में एकत्र होते थे। बाज़ारों में अभियोग की रिपोर्ट पढ़ने के लिए समाचार-पत्रों की लूट होती थी। चतुर पाठक पढ़े हुए पत्रों से घड़ी रात जाते-जाते दुगने पैसे खड़े कर लेते थे, क्योंकि उस समय तक पत्र-विक्रेताओं के पास कोई पत्र न बचने पाता था। जिन बातों का ज्ञान पहले गिने-गिनाये पत्र-ग्राहकों को था, उन पर अब जनता की टिप्पणियाँ होने लगीं। नईम की मिट्टी कभी इतनी ख़राब न हुई थी; गली-गली, घर-घर, उसी की चरचा थी। जनता का क्रोध उसी पर केंद्रित हो गया था। वह दिन भी स्मरणीय रहेगा, जब दोनों सच्चे, एक दूसरे पर प्राण देनेवाले मित्र अदालत में

आमने-सामने खड़े हुए, और कैलास ने मिरज़ा नईम से जिरह करनी शुरू की। कैलास को ऐसा मानसिक कष्ट हो रहा था, मानो वह नईम की गरदन पर तलवार चलाने जा रहा है। और, नईम के लिए तो वह अग्नि-परीक्षा थी। दोनों के मुख उदास थे; एक का आत्मग्लानि से, दूसरे का भय से। नईम प्रसन्न बनने की चेष्टा करता था, कभी-कभी सूखी हँसी भी हँसता था; लेकिन कैलास—आह, उस ग़रीब के दिल पर जो गुज़र रही थी, उसे कौन जान सकता है।

कैलास ने पूछा—आप और मैं साथ पढ़ते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—हम दोनों में इतनी घनिष्टता थी कि हम आपस में कोई परदा न रखते थे, इसे आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—जिन दिनों आप इस मामले की जाँच कर रहे थे, मैं आपसे मिलने गया था, इसे भी आप स्वीकार करते हैं?

नईम—अवश्य स्वीकार करता हूँ।

कैलास—क्या उस समय आपने मुझसे यह नहीं कहा था कि कुँअर साहब की प्रेरणा से यह हत्या हुई है?

नईम—कदापि नहीं।

कैलास—आपके मुख से ये शब्द नहीं निकले थे कि बीस हज़ार की थैली है?

नईम ज़रा भी न झिझका, ज़रा भी संकुचित न हुआ। उसकी ज़बान में लेश-मात्र भी लुकनत न हुई, वाणी में ज़रा भी थरथराहट न आई। उसके मुख पर अशान्ति, अस्थिरता या असमंजस का कोई भी चिह्न न दिखाई दिया। वह अविचल खड़ा रहा। कैलास ने बहुत डरते-डरते यह प्रश्न किया था। उसको भय था कि नईम इसका कुछ जवाब न दे सकेगा। कदाचित् रोने लगेगा। लेकिन नईम ने निश्शंक भाव से कहा—सम्भव है, आपने स्वप्न में मुझसे ये बातें सुनी हों।

कैलास एक क्षण के लिए दंग हो गया। फिर उसने विस्मय से नईम की ओर नज़र डालकर पूछा—क्या आपने यह नहीं फ़रमाया था कि मैंने दो-चार अवसरों पर मुसलमानों के साथ पक्षपात किया है, और इसीलिए मुझे हिन्दू-विरोधी समझकर इस अनुसन्धान का भार सौंपा गया है?

नईम ज़रा भी न झिझका। अविचल, स्थिर और शान्त भाव से बोला—आपकी कल्पना-शक्ति वास्तव में आश्चर्यजनक है। बरसों तक आपके साथ रहने पर भी मुझे यह विदित न हुआ था कि आप में घटनाओं का आविष्कार करने की ऐसी चमत्कार-पूर्ण शक्ति है।

कैलास ने और कोई प्रश्न नहीं किया। उसे अपने पराभव का दुःख न था, दुःख था नईम की आत्मा के पतन का। वह कल्पना भी न कर सकता था कि कोई मनुष्य अपने मुँह से निकली हुई बात को इतनी ढिठाई से अस्वीकार कर सकता है; और वह भी उसी आदमी के मुँह पर, जिससे वह बात कही गई हो! यह मानवी दुर्बलता की पराकाष्ठा है। वह नईम, जिसका अन्दर और बाहर एक था, जिसके विचार और व्यवहार में भेद न था, जिसकी वाणी आन्तिरिक भावों का दर्पण थी, वह नईम, वह सरल, आत्माभिमानी, सत्यभक्त नईम इतना धूर्त, ऐसा मक्कार हो सकता है! क्या दासता के साँचे में ढलकर मनुष्य अपना मनुष्यत्व खो बैठता है! क्या यह दिव्य गुणों के रूपान्तरित करने का यंत्र है?

अदालत ने नईम को २० हज़ार रुपयों की डिक्री दे दी। कैलास पर वज्रपात हो गया।

(६)

इस निश्चय पर राजनीतिक संसार में फिर कुहराम मचा। सरकारी पक्ष के पत्रों ने कैलास को धूर्त कहा; जन-पक्षवालों ने नईम को शैतान बनाया। नईम के दुस्साहस ने न्याय की दृष्टि में चाहे उसे निरपराध सिद्ध कर दिया हो, पर जनता की दृष्टि में तो उसे और भी गिरा दिया। कैलास के पास सहानुभूति के पत्र और तार आने लगे।

पत्रों में उसकी निर्भीकता और सत्यनिष्ठा की प्रशंसा होने लगी। जगह-जगह सभाएँ और जलसे हुए, और न्यायालय के निश्चय पर असन्तोष प्रकट किया गया; किन्तु सूखे बादलों से पृथ्वी की तृप्ति तो नहीं होती? रुपए कहाँ से आवें, और वह भी एकदम से २० हज़ार! आदर्श-पालन का यही मूल्य है; राष्ट्र-सेवा महँगा सौदा है। २० हज़ार! इतने रुपए तो कैलास ने शायद स्वप्न में भी न देखे हों, और अब देने पड़ेंगे। कहाँ से देगा? इतने रुपयों के सूद से ही वह जीविका की चिन्ता से मुक्त हो सकता था। उसे अपने पत्र में अपनी विपत्ति का रोना रोकर चन्दा एकत्र करने से घृणा थी। मैंने अपने ग्राहकों की अनुमति लेकर इस शेर से मोरचा नहीं लिया था। मैनेजर की वकालत करने के लिए किसीने मेरी गरदन नहीं दबाई थी। मैंने अपना कर्तव्य समझकर ही शासकों को चुनौती दी। जिस काम के लिए मैं अकेला ज़िम्मेदार हूँ, उसका भार अपने ग्राहकों पर क्यों डालूँ। यह अन्याय है। सम्भव है, जनता में आन्दोलन करने से दो चार हज़ार रुपए हाथ आ जायँ; लेकिन यह सम्पादकीय आदर्श के विरुद्ध है। इससे मेरी शान में बट्टा लगता है। दूसरों को यह कहने का क्यों अवसर दूँ कि और के मत्थे फुलौड़ियाँ खाईं, तो क्या बड़ा जग जीत लिया! जब जानते कि अपने बल-बूते पर गरजते! निर्भीक आलोचना का सेहरा तो मेरे सिर बँधा, उसका मूल्य दूसरों से क्यों वसूल करूँ? मेरा पत्र बन्द हो जाय, मैं पकड़कर कैद किया जाऊँ, मेरा मकान कुर्क़ कर लिया जाय, बरतन-भाँड़े नीलाम हो जायँ, यह सब मुझे मंज़ूर है। जो कुछ सिर पड़ेगी, भुगत लूँगा, पर किसी के सामने हाथ न फैलाऊँगा।

सूर्योदय का समय था। पूर्व दिशा से प्रकाश की छटा ऐसे दौड़ी चली आती थी, जैसे आँख में आँसुओं की धारा। ठंडी हवा कलेजे पर यों लगती थी, जैसे किसी के करुण क्रन्दन की ध्वनि। सामने का मैदान दुखी हृदय की भाँति ज्योति के बाणों से बिंध रहा था। घर में वह निस्तब्धता छाई थी, जो गृह-स्वामी के गुप्त रोदन की सूचना देती है। न बालकों का शोर-गुल था, और न माता की शान्ति-प्रसारिणी

शब्द-ताड़ना। जब दीपक बुझ रहा हो, तो घर में प्रकाश कहाँ से आवे ? यह आशा का प्रभाव नहीं, शोक का प्रभाव था ; क्योंकि आज ही क़ुर्क़-अमीन कैलास की सम्पत्ति को नीलाम करने के लिए आनेवाला था।

उसने अन्तर्वेदना से विकल होकर कहा—आह ! आज मेरे सार्वजनिक जीवन का अन्त हो जायगा। जिस भवन का निर्माण करने में अपने जीवन के २५ वर्ष लगा दिये, वह आज नष्ट-भ्रष्ट हो जायगा। पत्र की गरदन पर छुरी फिर जायगी, मेरे पैरों में उपहास और अपमान की बेड़ियाँ पड़ जायँगी, मुख में कालिमा लग जायगी, यह शांति-कुटीर उजड़ जायगी, यह शोकाकुल परिवार किसी मुरझाये हुए फूल की पँखड़ियों की भाँति बिखर जायगा। संसार में उसके लिए कहीं आश्रय नहीं है। जनता की स्मृति चिरस्थायी नहीं होती ; अल्प काल में मेरी सेवाएँ विस्मृति के अन्धकार में लीन हो जायँगी। किसी को मेरी सुध भी न रहेगी, कोई मेरी विपत्ति पर आँसू बहानेवाला भी न होगा।

सहसा उसे याद आया कि आज के लिए अभी अग्रलेख लिखना है। आज अपने सुहृद् पाठकों को सूचना दूँ कि यह इस पत्र के जीवन का अन्तिम दिवस है, उसे फिर आपकी सेवा में पहुँचने का सौभाग्य न प्राप्त होगा। हमसे अनेक भूलें हुई होंगी, आज हम उनके लिए आपसे क्षमा माँगते हैं। आपने हमारे प्रति जो सहवेदना और सहृदयता प्रकट की है, उसके लिए हम सदैव आपके कृतज्ञ रहेंगे। हमें किसी से कोई शिकायत नहीं है। हमें इस अकाल-मृत्यु का दुःख नहीं है ; क्योंकि यह सौभाग्य उन्हीं को प्राप्त होता है, जो अपने कर्तव्य-पथ पर अविचल रहते हैं। दुःख यही है कि हम जाति के लिए इससे अधिक बलिदान करने में समर्थ न हुए। इस लेख को आदि से अन्त तक सोचकर वह कुर्सी से उठा ही था कि किसी के पैरों की आहट मालूम हुई। गरदन उठाकर देखा, तो मिरज़ा नईम था। वही हँसमुख चेहरा, वही मृदु मुसकान, वही क्रीड़ामय नेत्र। आते ही कैलास के गले से लिपट गया।

कैलास ने गरदन छुड़ाते हुए कहा—क्या मेरे घाव पर नमक

छिड़कने, मेरी लाश को पैरों से ठुकराने आये हो!

नईम ने उसकी गरदन को और ज़ोर से दबाकर कहा—और क्या, मुहब्बत के यही तो मज़े हैं!

कैलास—मुझसे दिल्लगी न करो। भरा बैठा हूँ, मार बैठूँगा।

नईम की आँखें सजल हो गईं। बोला—आह ज़ालिम, मैं तेरी ज़बान से यही कटु वाक्य सुनने के लिए तो विकल हो रहा था। जितना चाहे कोसो, खूब गालियाँ दो, मुझे इसमें मधुर संगीत का आनन्द आ रहा है।

कैलास—और, अभी जब अदालत का कुर्क-अमीन मेरा घर-बार नीलाम करने आवेगा, तो क्या होगा? बोलो, अपनी जान बचाकर तो अलग हो गये!

नईम—हम दोनों मिलकर खूब तालियाँ बजावेंगे, और उसे बंदर की तरह नचावेंगे।

कैलास—तुम अब पिटोगे मेरे हाथों से! ज़ालिम, तुझे मेरे बच्चों पर भी दया न आई?

नईम—तुम भी तो चले मुझी से ज़ोर आज़माने। कोई समय था, जब बाज़ी तुम्हारे हाथ रहती थी। अब मेरी बारी है। तुमने मौक़ा-महल तो देखा नहीं, मुझ पर पिल पड़े।

कैलास—सरासर सत्य की उपेक्षा करना मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध था।

नईम—और सत्य का गला घोटना मेरे सिद्धान्त के अनुकूल।

कैलास—अभी एक पूरा परिवार तुम्हारे गले मढ़ दूँगा, तो अपनी क़िस्मत को रोओगे। देखने में तुम्हारा आधा भी नहीं हूँ; लेकिन सन्तानोत्पत्ति में तुम-जैसे तीन पर भारी हूँ। पूरे सात हैं, कम न बेश!

नईम—अच्छा लाओ, कुछ खिलाते-पिलाते हो, या तक़दीर का मरसिया ही गाये जाओगे? तुम्हारे सिर की क़सम, बहुत भूखा हूँ। घर से बिना खाये ही चल पड़ा।

कैलास—यहाँ आज सोलहो दण्ड एकादशी है। सब-के-सब शोक में बैठे उसी अदालत के जल्लाद की राह देख रहे हैं। खाने-पीने का

क्या ज़िक्र ! तुम्हारे बैग में कुछ हो, तो निकालो ; आज साथ बैठकर खा लें, फिर तो ज़िन्दगी-भर का रोना है ही।

नईम—फिर तो ऐसी शरारत न करोगे ?

कैलास—वाह, यह तो अपने रोम-रोम में व्याप्त हो गई है। जब तक सरकार पशुबल से हमारे ऊपर शासन करती रहेगी, हम उसका विरोध करते रहेंगे। खेद यही है कि अब मुझे इसका अवसर ही न मिलेगा। किन्तु तुम्हें २००००) में से २०) भी न मिलेंगे। यहाँ रद्दियों के ढेर के सिवा और कुछ नहीं है।

नईम—अजी, मैं तुमसे २० हज़ार की जगह उसका पँचगुना वसूल कर लूँगा। तुम हो किस फेर में ?

कैलास—मुँह धो रखिये !

नईम—मुझे रुपयों की ज़रूरत है। आओ, कोई समझौता कर लो।

कैलास—कुँअर साहब के २० हज़ार रुपए डकार गये, फिर भी अभी सन्तोष नहीं हुआ ? बदहज़मी हो जायगी !

नईम—धन से धन की भूख बढ़ती है, तृप्ति नहीं होती। आओ, कुछ मामला कर लो ! सरकारी कर्मचारियों द्वारा मामला करने में और भी जेरबारी होगी।

कैलास—अरे तो क्या मामला कर लूँ। यहाँ काग़ज़ों के सिवा और कुछ हो भी तो !

नईम—मेरा ऋण चुकाने-भर को बहुत है। अच्छा, इसी बात पर समझौता कर लो कि मैं जो चीज़ चाहूँ, ले लूँ। फिर रोना मत।

कैलास—अजी, तुम सारा दफ़्तर सिर पर उठा ले जाओ, घर उठा ले जाओ, मुझे पकड़ ले जाओ, और मीठे टुकड़े खिलाओ। क़सम ले लो, जो ज़रा भी चूँ करूँ।

नईम—नहीं, मैं सिर्फ़ एक चीज़ चाहता हूँ, सिर्फ़ एक चीज़ !

कैलास के कौतूहल की कोई सीमा न रही। सोचने लगा ; मेरे पास ऐसी कौन-सी बहुमूल्य वस्तु है ? कहीं मुझसे मुसलमान होने को तो न कहेगा। यही धर्म एक चीज़ है, जिसका मूल्य एक से लेकर

असंख्य तक रखा जा सकता है। ज़रा देखूँ तो, हज़रत क्या कहते हैं।

उसने पूछा—क्या चीज़?

नईम—मिसेज़ कैलास से एक मिनट तक एकान्त में बात-चीत करने की आज्ञा।

कैलास ने नईम के सिर पर एक चपत जमाकर कहा—फिर वही शरारत! सैकड़ों बार तो देख चुके हो, ऐसी कौन सी इन्द्र की अप्सरा है?

नईम—वह कुछ भी हो, मामला करते हो, तो करो; मगर याद रखना, एकान्त की शर्त है।

कैलास—मंज़ूर है। फिर जो डिक्री के रुपए माँगे गये, तो नोच ही खाऊँगा।

नईम—हाँ, मंजूर है।

कैलास—(धीरे से) मगर यार, नाजुक-मिज़ाज स्त्री है; कोई बेहूदा मज़ाक़ न कर बैठना।

नईम—जी, इन बातों में मुझे आपके उपदेश की ज़रूरत नहीं। मुझे उनके कमरे में ले तो चलिये!

कैलास—सिर नीचे किये रहना।

नईम—अजी, आँखों में पट्टी बाँध दो।

कैलास के घर में परदा न था। उमा चिन्ता-मग्न बैठी हुई थी; सहसा नईम और कैलास को देखकर चौंक पड़ी। बोली—आइये मिरज़ाजी, अबकी तो बहुत दिनों में याद किया।

कैलास नईम को वहीं छोड़कर कमरे से बाहर निकल आया लेकिन परदे की आड़ से छिपकर देखने लगा कि इनमें क्या बातें होती हैं। उसे कुछ बुरा ख़्याल न था, केवल कौतूहल था।

नईम—हम सरकारी आदमियों को इतनी फ़ुरसत कहाँ डिक्री के रुपए वसूल करने थे, इसीलिए चला आया हूँ।

उमा कहाँ तो मुसकरा रही थी, कहाँ रुपए का नाम सुनते ही उसका चेहरा फ़क़ हो गया। गम्भीर स्वर में बोली—हम लोग स्वयं

इसी चिन्ता में पड़े हुए हैं। कहीं रुपए मिलने की आशा नहीं है; और उन्हें जनता से अपील करते संकोच होता है।

नईम—अजी, आप कहती क्या हैं ? मैंने सब रुपए पाई-पाई वसूल कर लिये।

उमा ने चकित होकर कहा—सच ! उनके पास रुपए कहाँ थे ?

नईम—उनकी हमेशा से यही आदत है। आपसे कह रखा होगा, मेरे पास कौड़ी नहीं है। लेकिन मैंने चुटकियों में वसूल कर लिया ! आप उठिये, खाने का इन्तज़ाम कीजिये !

उमा—रुपए भला क्या दिये होंगे। मुझे एतबार नहीं आता।

नईम—आप सरल हैं, और वह एक ही काइयाँ। उसे तो मैं ही खूब जानता हूँ। अपनी दरिद्रता के दुखड़े गा-गाकर आपको चकमा दिया करता होगा।

कैलास मुसकराते हुए कमरे में आये, और बोले—अच्छा अब निकलिये बाहर ! यहाँ भी अपनी शैतानी से बाज़ नहीं आये ?

नईम—रुपयों की रसीद तो लिख दूँ !

उमा—क्या तुमने रुपए दे दिये ? कहाँ मिले ?

कैलास—फिर कभी बतला दूँगा। उठिये हज़रत !

उमा—बताते क्यों नहीं, कहाँ मिले ? मिरज़ाजी से कौन-सा परदा है ?

कैलास—नईम, तुम उमा के सामने मेरी तौहीन करना चाहते हो ?

नईम—तुमने सारी दुनिया के सामने मेरी तौहीन नहीं की ?

कैलास—तुम्हारी तौहीन की, तो उसके लिए २० हज़ार रुपए नहीं देने पड़े ?

नईम—मैं भी उसी टकसाल के रुपए दे दूँगा। उमा, मैं रुपए पा गया। इन बेचारे का परदा ढका रहने दो।

शतरंज के खिलाड़ी

(१)

वाजिदअली शाह का समय था। लखनऊ विलासिता के रंग में डूबा हुआ था। छोटे-बड़े, अमीर-गरीब सभी विलासिता में डूबे हुए थे। कोई नृत्य और गान की मजलिस सजाता था, तो कोई अफ़ीम की पीनक ही में मज़े लेता था। जीवन के प्रत्येक विभाग में आमोद-प्रमोद का प्राधान्य था। शासन-विभाग में, साहित्य-क्षेत्र में, सामाजिक व्यवस्था में, कला-कौशल में, उद्योग-धन्धों में, आहार-व्यवहार में, सर्वत्र विलासिता व्याप्त हो रही थी। राजकर्मचारी विषय-वासना में, कविगण प्रेम और विरह के वर्णन में, कारीगर कलाबत्तू और चिकन बनाने में, व्यवसायी सुरमे, इत्र, मिस्सी और उबटन का रोज़गार करने में लिप्त थे। सभी की आँखों में विलासिता का मद छाया हुआ था। संसार में क्या हो रहा है, इसकी किसी को खबर न थी। बटेर लड़ रहे हैं। तीतरों की लड़ाई के लिए पाली बदी जा रही है। कहीं चौसर बिछी हुई है; पौ-बारह का शोर मचा हुआ है। कहीं शतरंज का घोर संग्राम छिड़ा हुआ है। राजा से लेकर रंक तक इसी धुन में मस्त थे। यहाँ तक कि फ़क़ीरों को पैसे मिलते तो वे रोटियाँ न लेकर अफ़ीम खाते या मदक पीते। शतरंज, ताश, गंजीफ़ा खेलने से बुद्धि तीव्र होती है, विचार शक्ति का विकास होता है, पेचीदा मसलों को सुलझाने की आदत पड़ती है। ये दलीलें ज़ोरों के साथ पेश की जाती थीं। (इस सम्प्रदाय के लोगों से दुनिया अब भी खाली नहीं है।) इसलिए अगर मिरज़ा सज्जादअली और मीर रौशन-अली अपना अधिकांश समय बुद्धि तीव्र करने में व्यतीत करते थे, तो किसी विचारशील पुरुष को क्या आपत्ति हो सकती थी? दोनों के पास मौरूसी जागीरें थीं; जीविका की कोई चिन्ता न थी; घर में बैठे चखौतियाँ करते थे। आखिर और करते ही क्या? प्रातःकाल दोनों मित्र नाश्ता करके बिसात बिछाकर बैठ जाते, मुहरे सज जाते, और

लड़ाई के दाँव-पेंच होने लगते। फिर ख़बर न होती थी कि कब दोपहर हुई, कब तीसरा पहर, कब शाम! घर के भीतर से बार-बार बुलावा आता कि खाना तैयार है। यहाँ से जवाब मिलता—चलो, आते हैं; दस्तरख़्वान बिछाओ। यहाँ तक कि बावरची विवश होकर कमरे ही में खाना रख जाता था, और दोनों मित्र दोनों काम साथ-साथ करते थे। मिरज़ा सज्जादअली के घर में कोई बड़ा-बूढ़ा न था, इसलिए उन्हीं के दीवानख़ाने में बाज़ियाँ होती थीं। मगर यह बात न थी कि मिरज़ा के घर के और लोग उनके इस व्यवहार से ख़ुश हों। घरवालों का तो कहना ही क्या, महल्लेवाले, घर के नौकर-चाकर तक नित्य द्वेषपूर्ण टिप्पणियाँ किया करते थे—बड़ा मनहूस खेल है। घर को तबाह कर देता है। ख़ुदा न करे, किसी को इसकी चाट पड़े, आदमी दीन, दुनिया, किसी के काम का नहीं रहता, न घर का न घाट का। बुरा रोग है। यहाँ तक कि मिरज़ा की बेगम साहबा को इससे इतना द्वेष था कि अवसर खोज-खोजकर पति को लताड़ती थीं। पर उन्हें इसका अवसर मुश्किल से मिलता था। वह सोती ही रहती थीं, तब तक उधर बाज़ी बिछ जाती थी। और रात को जब सो जाती थीं, तब कहीं मिरज़ाजी घर में आते थे। हाँ, नौकरों पर वह अपना ग़ुस्सा उतारती रहती थीं—क्या पान माँगे हैं? कह दो, आकर ले जायँ। खाने की फ़ुरसत नहीं है? ले जाकर खाना सिर पर पटक दो, खायँ चाहे कुत्ते को खिलावें; पर दुबदू वह भी कुछ न कह सकती थीं। उनको अपने पति से उतना मलाल न था, जितना मीर साहब से। उन्होंने उनका नाम मीर बिगाड़ू रख छोड़ा था। शायद मिरज़ाजी अपनी सफ़ाई देने के लिए सारा इलज़ाम मीरसाहब ही के सिर थोप देते थे।

एक दिन बेगम साहबा के सिर में दर्द होने लगा। उन्होंने लौंडी से कहा—जाकर मीरसाहब को बुला ला? किसी हकीम के यहाँ से दवा लावें। दौड़, जल्दी कर। लौंडी गई, तो मिरज़ाजी ने कहा—चल अभी आते हैं। बेगम साहबा का मिज़ाज गरम था। इतनी ताब कहाँ कि उनके सिर में दर्द हो, और पति शतरंज खेलता रहे। चेहरा

सुर्ख हो गया। लौंडी से कहा—जाकर कह, अभी चलिये, नहीं तो वह आप ही हकीम के यहाँ चली जायँगी। मिरज़ाजी बड़ी दिलचस्प बाज़ी खेल रहे थे; दो ही किश्तों में मीरसाहब को मात हुई जाती थी। झुँझलाकर बोले—क्या ऐसा दम लबों पर है? ज़रा सब्र नहीं होता?

मीर—अरे तो जाकर सुन ही आइये न। औरतें नाज़ुक मिज़ाज होती ही हैं।

मिरज़ा—जी हाँ, चला क्यों न जाऊँ! दो किश्तों में आपको मात होती है।

मीर—जनाब, इस भरोसे न रहियेगा। वह चाल सोची है कि आपके मुहरे धरे रहें, और मात हो जाय। पर जाइये, सुन आइये। क्यों ख़ामख़्वाह उनका दिल दुखाइयेगा?

मिरज़ा—इसी बात पर मात ही करके जाऊँगा।

मीर—मैं खेलूँगा ही नहीं। आप जाकर सुन आइये।

मिरज़ा—अरे यार, जाना पड़ेगा हकीम के यहाँ। सिर-दर्द ख़ाक नहीं है; मुझे परेशान करने का बहाना है।

मीर—कुछ ही हो, उनकी ख़ातिर तो करनी ही पड़ेगी।

मिरज़ा—अच्छा, एक चाल और चल लूँ।

मीर—हरगिज़ नहीं, जब तक आप सुन न आवेंगे, मैं मुहरे में हाथ ही न लगाऊँगा।

मिरज़ा साहब मजबूर होकर अन्दर गये, तो बेगम साहबा ने त्योरियाँ बदलकर, लेकिन कराहते हुए, कहा—तुम्हें निगोड़ी शतरंज इतनी प्यारी है! चाहे कोई मर ही जाय, पर उठने का नाम नहीं लेते! नौज कोई तुम-जैसा आदमी हो!

मिरज़ा—क्या कहूँ, मीरसाहब मानते ही न थे। बड़ी मुश्किल से पीछा छुड़ाकर आया हूँ।

बेगम—क्या जैसे वह ख़ुद निखट्टू हैं, वैसे ही सबको समझते हैं? उनके भी तो बाल-बच्चे हैं; या सबका सफ़ाया कर डाला?

मिरज़ा—बड़ा लती आदमी है। जब आ जाता है, तब मजबूर होकर मुझे भी खेलना ही पड़ता है।

बेगम—दुत्कार क्यों नहीं देते ?

मिरजा—बराबर के आदमी हैं ; उम्र में, दर्जे में मुझसे दो अंगुल ऊँचे। मुलाहिज़ा करना ही पड़ता है।

बेगम—तो मैं ही दुत्कारे देती हूँ। नाराज़ हो जायँगे, हो जायँ। कौन किसी की रोटियाँ चला देता है। रानी रूठेंगी, अपना सुहाग लेंगी।—हिरिया, जा, बाहर से शतरंज उठा ला। मीरसाहब से कहना, मियाँ अब न खेलेंगे, आप तशरीफ़ ले जाइये।

मिरजा—हाँ हाँ, कहीं ऐसा ग़ज़ब भी न करना! ज़लील कराना चाहती हो क्या!—ठहर हिरिया, कहाँ जाती है।

बेगम—जाने क्यों नहीं देते ? मेरा ही ख़ून पीये, जो उसे रोके। अच्छा, उसे रोका, मुझे रोको, तो जानूँ ?

यह कहकर बेगम साहबा झल्लाई हुई दीवानख़ाने की तरफ़ चलीं। मिरज़ा बेचारे का रंग उड़ गया। बीवी की मिन्नतें करने लगे—ख़ुदा के लिए, तुम्हें हज़रत हुसेन की क़सम है। मेरी ही मैयत देखे, जो उधर जाय। लेकिन बेगम ने एक न मानी। दीवानख़ाने के द्वार तक गईं ; पर एकाएक पर-पुरुष के सामने जाते हुए पाँव बँध-से गये। भीतर झाँका। संयोग से कमरा ख़ाली था। मीरसाहब ने दो-एक मुहरे इधर उधर कर दिये थे, और अपनी सफ़ाई जताने के लिए बाहर टहल रहे थे। फिर क्या था, बेगम ने अंदर पहुँचकर बाज़ी उलट दी, मुहरे कुछ तख़्त के नीचे फेंक दिये, कुछ बाहर ; और किवाड़े अंदर से बंद करके कुंडी लगा दी। मीरसाहब दरवाज़े पर तो थे ही, मुहरे बाहर फेंके जाते देखे, चूड़ियों की झनक भी कान में पड़ी। फिर दरवाज़ा बंद हुआ, तो समझ गये, बेगम साहबा बिगड़ गईं। चुपके से घर की राह ली।

मिरज़ा ने कहा—तुमने ग़ज़ब किया।

बेगम—अब मीरसाहब इधर आये, तो खड़े-खड़े निकलवा दूँगी। इतनी लौ ख़ुदा से लगाते, तो वली हो जाते! आप तो शतरंज खेलें,

और मैं यहाँ चूल्हे-चक्की की फ़िक्र में सिर खपाऊँ! ले जाते हो, हकीम साहब के यहाँ कि अब भी तअम्मुल है?

मिरज़ा घर से निकले, तो हकीम के घर जाने के बदले मीरसाहब के घर पहुँचे, और सारा वृत्तांत कहा। मीरसाहब बोले—मैंने तो जब मुहरे बाहर आते देखे, तभी ताड़ गया। फ़ौरन् भागा। बड़ी गुस्सेवर मालूम होती हैं। मगर आपने उन्हें यों सिर चढ़ा रखा है, यह मुनासिब नहीं। उन्हें इससे क्या मतलब कि आप बाहर क्या करते हैं। घर का इंतिज़ाम करना उनका काम है; दूसरी बातों से उन्हें क्या सरोकार!

मिरज़ा—ख़ैर, यह तो बताइये, अब कहाँ जमाव होगा?

मीर—इसका क्या ग़म है। इतना बड़ा घर पड़ा हुआ है। बस यहीं जमे।

मिरज़ा—लेकिन बेगम साहबा को कैसे मनाऊँगा? जब घर पर बैठा रहता था, तब तो वह इतना बिगड़ती थीं; यहाँ बैठक होगी, तो शायद ज़िंदा न छोड़ेंगी।

मीर—अजी बकने भी दीजिये; दो-चार रोज़ में आप ही ठीक हो जायँगी। हाँ, आप इतना कीजिये कि आज से ज़रा तन जाइये।

(२)

मीरसाहब की बेगम किसी अज्ञात कारण से मीरसाहब का घर से दूर रहना ही उपयुक्त समझती थीं। इसलिए वह उनके शतरंज-प्रेम की कभी आलोचना न करती थीं; बल्कि कभी-कभी मीरसाहब को देर हो जाती, तो याद दिला देती थीं। इन कारणों से मीरसाहब को भ्रम हो गया था कि मेरी स्त्री अत्यंत विनयशील और गंभीर है लेकिन जब दीवानख़ाने में बिसात बिछने लगी, और मीरसाहब दिन-भर घर में रहने लगे, तो बेगम साहबा को बड़ा कष्ट होने लगा। उनकी स्वाधीनता में बाधा पड़ गई। दिन-भर दरवाज़े पर झाँकने को तरस जातीं।

उधर नौकरों में भी कानाफूसी होने लगी। अब तक दिन भर पड़े-पड़े मक्खियाँ मारा करते थे। घर में कोई आवे, कोई जाय, उनसे

कुछ मतलब न था। अब आठों पहर की धौंस हो गई। कभी पान लाने का हुक्म होता, कभी मिठाई का। और, हुक्क़ा तो किसी प्रेमी के हृदय की भाँति नित्य जलता ही रहता था। वे बेगम साहबा से जा-जाकर कहते—हुज़ूर, मियाँ की शतरंज तो हमारे जी का जंजाल हो गई! दिन-भर दौड़ते-दौड़ते पैरों में छाले पड़ गये। यह भी कोई खेल है कि सुबह को बैठे तो शाम कर दी! घड़ी आध घड़ी दिल-बहलाव के लिए खेल लेना बहुत है। ख़ैर, हमें तो कोई शिकायत नहीं; हुज़ूर के ग़ुलाम हैं, जो हुक्म होगा, बजा ही लावेंगे; मगर यह खेल मनहूस है। इसका खेलनेवाला कभी पनपता नहीं; घर पर कोई-न-कोई आफ़त ज़रूर आती है। यहाँ तक कि एक के पीछे महल्ले-के-महल्ले तबाह होते देखे गये हैं। सारे महल्ले में यही चरचा होती रहती है। हुज़ूर का नमक खाते हैं, अपने आक़ा की बुराई सुन-सुनकर रंज होता है। मगर क्या करें। इस पर बेगम साहबा कहतीं—मैं तो ख़ुद इसको पसन्द नहीं करती। पर वह किसी की सुनते ही नहीं, क्या किया जाय।

महल्ले में भी जो दो-चार पुराने ज़माने के लोग थे, वे आपस में भाँति-भाँति के अमंगल की कल्पनाएँ करने लगे—अब ख़ैरियत नहीं है। जब हमारे रईसों का यह हाल है, तो मुल्क का ख़ुदा ही हाफ़िज़ है। यह बादशाहत शतरंज के हाथों तबाह होगी। आसार बुरे हैं।

राज्य में हाहाकार मचा हुआ था। प्रजा दिन-दहाड़े लूटी जाती थी। कोई फ़रियाद सुननेवाला न था। देहातों की सारी दौलत लखनऊ में खिंची आती थी, और वह वेश्याओं में, भाँड़ों में, और विलासिता के अन्य अंगों की पूर्ति में उड़ जाती थी। अँगरेज़-कम्पनी का ऋण दिन-दिन बढ़ता जाता था। कमली दिन-दिन भीगकर भारी होती जाती थी। देश में सुव्यवस्था न होने के कारण वार्षिक कर भी न वसूल होता था। रेज़ीडेंट बार-बार चेतावनी देता था; पर यहाँ तो लोग विलासिता के नशे में चूर थे; किसी के कानों पर जूँ न रेंगती थी।

ख़ैर, मीरसाहब के दीवानख़ाने में शतरंज होते कई महीने गुज़र गये। नये-नये नक्शे हल किये जाते; नये-नये क़िले बनाये जाते;

नित्य नई व्यूह-रचना होती ; कभी-कभी खेलते-खेलते झोड़ हो जाती ; तू-तू मैं-मैं तक की नौबत आ जाती ; पर शीघ्र ही दोनों मित्रों में मेल हो जाता। कभी-कभी ऐसा भी होता कि बाज़ी उठा दी जाती ; मिरज़ाजी रूठकर अपने घर चले आते। मीरसाहब अपने घर में जा बैठते। पर रात-भर की निद्रा के साथ सारा मनोमालिन्य शान्त हो जाता था। प्रातःकाल दोनों मित्र दीवानखाने में आ पहुँचते थे।

एक दिन दोनों मित्र बैठे हुए शतरंज की दलदल में गोते खा रहे थे कि इतने में घोड़े पर सवार एक बादशाही फ़ौज का अफ़सर मीरसाहब का नाम पूछता हुआ आ पहुँचा। मीरसाहब के होश उड़ गये ! यह क्या बला सिर पर आई ! यह तलबी किसलिए हुई है ! अब ख़ैरियत नहीं नज़र आती। घर के दरवाज़े बन्द कर लिये। नौकरों से बोले—कह दो, घर में नहीं हैं।

सवार—घर में नहीं, तो कहाँ है ?

नौकर—यह मैं नहीं जानता। क्या काम है ?

सवार—काम तुझे क्या बतलाऊँ ? हुज़ूर में तलबी है। शायद फ़ौज के लिए कुछ सिपाही माँगे गये हैं। जागीरदार हैं कि दिल्लगी ! मोरचे पर जाना पड़ेगा, तो आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा !

नौकर—अच्छा, तो जाइये, कह दिया जायगा !

सवार—कहने की बात नहीं है। मैं कल ख़ुद आऊँगा, साथ ले जाने का हुक्म हुआ है।

सवार चला गया। मीरसाहब की आत्मा काँप उठी। मिरज़ाजी से बोले—कहिये जनाब, अब क्या होगा ?

मिरजा—बड़ी मुसीबत है। कहीं मेरी तलबी भी न हो।

मीर—कम्बख़्त कल फिर आने को कह गया है।

मिरजा—आफ़त है, और क्या ! कहीं मोरचे पर जाना पड़ा, तो बेमौत मरे।

मीर—बस, यही एक तदबीर है कि घर पर मिलो ही नहीं। कल से गोमती पर कहीं वीराने में नक्शा जमे। वहाँ किसे ख़बर होगी।

हज़रत आकर आप लौट जायँगे।

मिरजा—वल्लाह, आपको खूब सूझी! इसके सिवाय और कोई तदबीर ही नहीं है।

इधर मीरसाहब की बेगम उस सवार से कह रही थीं, तुमने खूब धता बताई। उसने जवाब दिया—ऐसे गावदियों को तो चुटकियों पर नचाता हूँ। इनकी सारी अक्ल और हिम्मत तो शतरंज ने चर ली। अब भूलकर भी घर पर न रहेंगे।

(३)

दूसरे दिन से दोनों मित्र मुँह-अँधेरे घर से निकल खड़े होते। बग़ल में एक छोटी दरी दबाये, डिब्बे में गिलौरियाँ भरे, गोमती-पार की एक पुरानी वीरान मसजिद में चले जाते जिसे शायद नवाब आसफ़-उद्दौला ने बनवाया था। रास्ते में तम्बाकू, चिलम और मदरिया ले लेते, और मसजिद में पहुँच, दरी बिछा, हुक्का भरकर शतरंज खेलने बैठ जाते थे। फिर उन्हें दीन-दुनिया की फ़िक्र न रहती थी। किश्त, शह आदि दो-एक शब्दों के सिवा उनके मुँह से और कोई वाक्य नहीं निकलता था। कोई योगी भी समाधि में इतना एकाग्र न होता होगा। दोपहर को जब भूख मालूम होती तो दोनों मित्र किसी नानबाई की दूकान पर जाकर खाना खा आते, और एक चिलम हुक्का पीकर फिर संग्राम-क्षेत्र में डट जाते। कभी-कभी तो उन्हें भोजन का भी ख़्याल न रहता था।

इधर देश की राजनीतिक दशा भयंकर होती जा रही थी। कम्पनी की फ़ौजें लखनऊ की तरफ़ बढ़ी चली आती थीं। शहर में हलचल मची हुई थी। लोग बाल-बच्चों को लेकर देहातों में भाग रहे थे। पर हमारे दोनों खिलाड़ियों को इसकी ज़रा भी फ़िक्र न थी। वे घर से आते तो गलियों में होकर। डर था कि कहीं किसी बादशाही मुलाज़िम की निगाह न पड़ जाय, जो बेगार में पकड़ जायँ। हज़ारों रुपए सालाना की जागीर मुफ़्त ही हज़म करना चाहते थे।

एक दिन दोनों मित्र मसजिद के खँडहर में बैठे हुए शतरंज खेल

रहे थे। मिरज़ा की बाज़ी कुछ कमज़ोर थी। मीरसाहब उन्हें किश्त-पर-किश्त दे रहे थे। इतने में कम्पनी के सैनिक आते हुए दिखाई दिये। यह गोरों की फ़ौज थी, जो लखनऊ पर अधिकार जमाने के लिए आ रही थी।

मीरसाहब बोले—अँगरेज़ी फ़ौज आ रही है; ख़ुदा ख़ैर करे।

मिरज़ा—आने दीजिये, किश्त बचाइये। यह किश्त!

मीर—ज़रा देखना चाहिये, यहीं आड़ में खड़े हो जायँ।

मिरज़ा—देख लीजियेगा, जल्दी क्या है, फिर किश्त!

मीर—तोपख़ाना भी है। कोई पाँच हज़ार आदमी होंगे। कैसे-कैसे जवान हैं। लाल बन्दरों के-से मुँह। सूरत देखकर ख़ौफ़ मालूम होता है।

मिरज़ा—जनाब, हीले न कीजिये। ये चकमे किसी और को दीजिएगा। यह किश्त!

मीर—आप भी अजीब आदमी हैं। यहाँ तो शहर पर आफ़त आई हुई है, और आपको किश्त की सूझी है! कुछ इसकी भी ख़बर है कि शहर घिर गया, तो घर कैसे चलेंगे?

मिरज़ा—जब घर चलने का वक्त आवेगा, तो देखी जायगी—यह किश्त! बस, अब की शह में मात है।

फ़ौज निकल गई। दस बजे का समय था। फिर बाज़ी बिछ गई।

मिरज़ा बोले—आज खाने की कैसे ठहरेगी?

मीर—अजी, आज तो रोज़ा है। क्या आपको ज़्यादा भूख मालूम होती है?

मिरज़ा—जी नहीं। शहर में न-जाने क्या हो रहा है।

मीर—शहर में कुछ न हो रहा होगा। लोग खाना खा-खाकर आराम से सो रहे होंगे। हुज़ूर नवाब साहब भी ऐशगाह में होंगे।

दोनों सज्जन फिर जो खेलने बैठे, तो तीन बज गये। अब की मिरज़ाजी की बाज़ी कमज़ोर थी। चार का गजर बज ही रहा था कि फ़ौज की वापसी की आहट मिली। नवाब वाजिदअली पकड़ लिये गये

थे, और सेना उन्हें किसी अज्ञात स्थान को लिये जा रही थी। शहर में न कोई हलचल थी, न मार-काट! एक बूँद भी ख़ून नहीं गिरा था। आज तक किसी स्वाधीन देश के राजा की पराजय इतनी शान्ति से, इस तरह ख़ून बहे बिना, न हुई होगी। यह वह अहिंसा न थी, जिस पर देवगण प्रसन्न होते हैं। यह वह कायरपन था, जिस पर बड़े-से-बड़े कायर भी आँसू बहाते हैं। अवध के विशाल देश का नवाब बन्दी बना चला जाता था, और लखनऊ ऐश की नींद में मस्त था। यह राजनीतिक अधःपतन की चरम सीमा थी।

मिरज़ा ने कहा—हुज़ूर नवाबसाहब को ज़ालिमों ने क़ैद कर लिया है।

मीर—होगा, यह लीजिये शह!

मिरजा—जनाब, ज़रा ठहरिये। इस वक्त इधर तबीयत नहीं लगती। बेचारे नवाबसाहब इस वक्त ख़ून के आँसू रो रहे होंगे।

मीर—रोया ही चाहें। यह ऐश वहाँ कहाँ नसीब होगा। यह किश्त!

मिरजा—किसी के दिन बराबर नहीं जाते। कितनी दर्दनाक हालत है।

मीर—हाँ; सो तो है ही—यह लो फिर किश्त! बस, अबकी किश्त में मात है, बच नहीं सकते।

मिरजा—ख़ुदा की क़सम, आप बड़े बेदर्द हैं। इतना बड़ा हादसा देखकर भी आपको दुख नहीं होता। हाय, ग़रीब वाजिदअली शाह!

मीर—पहले अपने बादशाह को तो बचाइये, फिर नवाबसाहब का मातम कीजियेगा। यह किश्त और मात! लाना हाथ!

बादशाह को लिये हुए सेना सामने से निकल गई। उनके जाते ही मिरज़ा ने फिर बाज़ी बिछा दी। हार की चोट बुरी होती है। मीर ने कहा—आइये, नवाबसाहब के मातम में एक मरसिया कह डालें। लेकिन मिरज़ा की राजभक्ति अपनी हार के साथ लुप्त हो चुकी थी। वह हार का बदला चुकाने के लिए अधीर हो रहे थे।

(४)

शाम हो गई। खँडहर में चमगादड़ों ने चीखना शुरू किया। अबाबीलें आ-आकर अपने-अपने घोसलों में चिमटीं। पर दोनों खिलाड़ी डटे हुए थे, मानो दो खून के प्यासे सूरमा आपस में लड़ रहे हों। मिरज़ाजी तीन बाज़ियाँ लगातार हार चुके थे; इस चौथी बाज़ी का रंग भी अच्छा न था। वह बार-बार जीतने का दृढ़ निश्चय करके सँभलकर खेलते थे; लेकिन एक-न-एक चाल ऐसी बेढब आ पड़ती थी, जिससे बाज़ी ख़राब हो जाती थी। हर बार हार के साथ प्रतिकार की भावना और भी उग्र होती जाती थी। उधर मीरसाहब मारे उमंग के ग़ज़लें गाते थे, चुटकियाँ लेते थे, मानो कोई गुप्त धन पा गये हों। मिरज़ाजी सुन-सुनकर झुँझलाते और हार की झेंप मिटाने के लिए उनकी दाद देते थे। पर ज्यों-ज्यों बाज़ी कमज़ोर पड़ती थी, धैर्य हाथ से निकला जाता था। यहाँ तक कि वह बात-बात पर झुँझलाने लगे—जनाब, आप चाल बदला न कीजिये। यह क्या कि एक चाल चले, और फिर उसे बदल दिया। जो कुछ चलना हो, एक बार चल लीजिये। यह आप मुहरे पर हाथ क्यों रखते हैं? मुहरे को छोड़ दीजिये। जब तक आपको चाल न सूझे, मुहरा छुइये ही नहीं। आप एक-एक चाल आध-आध घण्टे में चलते हैं। इसकी सनद नहीं। जिसे एक चाल चलने में पाँच मिनट से ज़्यादा लगे, उसको मात समझी जाय। फिर आपने चाल बदली! चुपके से मुहरा वहीं रख दीजिये।

मीरसाहब का फ़रज़ी पिटता था। बोले—मैंने चाल चली ही कब थी?

मिरज़ा—आप चाल चल चुके हैं। मुहरा वहीं रख दीजिये—उसी घर में!

मीर—उस घर में क्यों रखूँ? मैंने हाथ से मुहरा छोड़ा ही कब था?

मिरज़ा—मुहरा आप क़यामत तक न छोड़ें, तो क्या चाल ही न होगी? फ़रज़ी पिटते देखा, तो धाँधली करने लगे!

मीर—धाँधली आप करते हैं। हार-जीत तक़दीर से होती है; धाँधली करने से कोई नहीं जीतता?

मिरज़ा—तो इस बाज़ी में आपको मात हो गई।

मीर—मुझे क्यों मात होने लगी?

मिरज़ा—तो आप मुहरा उसी घर में रख दीजिये, जहाँ पहले रक्खा था।

मीर—वहाँ क्यों रखूँ? नहीं रखता!

मिरज़ा—क्यों न रखिएगा? आपको रखना होगा!

तकरार बढ़ने लगी। दोनों अपनी-अपनी टेक पर अड़े थे। न यह दबता था, न वह! अप्रासंगिक बातें होने लगीं। मिरज़ा बोले—किसी ने ख़ानदान में शतरंज खेली होती, तब तो इसके क़ायदे जानते। वे तो हमेशा घास छीला किये, आप शतरंज क्या खेलियेगा। रियासत और ही चीज़ है। जागीर मिल जाने से ही कोई रईस नहीं हो जाता।

मीर—क्या! घास आपके अब्बाजान छीलते होंगे। यहाँ तो पीढ़ियों से शतरंज खेलते चले आ रहे हैं।

मिरज़ा—अजी, जाइये भी, ग़ाज़ीउद्दीन हैदर के यहाँ बावरची का काम करते-करते उम्र गुज़र गई, आज रईस बनने चले हैं। रईस बनना कुछ दिल्लगी नहीं है।

मीर—क्यों अपने बुजुर्गों के मुँह में कालिख लगाते हो—वे ही बावरची का काम करते होंगे। यहाँ तो हमेशा बादशाह के दस्तरख़्वान पर खाना खाते चले आये हैं।

मिरज़ा—अरे चल चरकटे, बहुत बढ़-बढ़कर बातें न कर।

मीर—ज़बान सँभालिये, वरना बुरा होगा। मैं ऐसी बातें सुनने का आदी नहीं हूँ। यहाँ तो किसी ने आँखें दिखाईं कि उसकी आँखें निकालीं। है हौसला?

मिरज़ा—आप मेरा हौसला देखना चाहते हैं, तो फिर आइये आज दो-दो हाथ हो जायँ, इधर या उधर!

मीर—तो यहाँ तुमसे दबनेवाला कौन है?

दोनों दोस्तों ने कमर से तलवारें निकाल लीं। नवाबी ज़माना था; सभी तलवार, पेशक़ब्ज़, कटार वग़ैरह बाँधते थे। दोनों विलासी

थे ; पर कायर न थे। उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था—बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें। पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैंतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं। दोनों ज़ख्म खाकर गिरे, और दोनों ने वहीं तड़प-तड़पकर जानें दे दीं। अपने बादशाह के लिए जिनकी आँखों से एक बूँद आँसू न निकला, उन्हीं दोनों प्राणियों ने शतरंज के वज़ीर की रक्षा में प्राण दे दिये।

अँधेरा हो चला था। बाज़ी बिछी हुई थी। दोनों बादशाह अपने अपने सिंहासनों पर बैठे हुए मानो इन दोनों वीरों की मृत्यु पर रो रहे थे।

चारों तरफ़ सन्नाटा छाया हुआ था। खँडहर की टूटी हुई मेहराबें, गिरी हुई दीवारें और धूल-धूसरित मीनारें इन लाशों को देखती और सिर धुनती थीं।

वज्रपात

दिल्ली की गलियाँ दिल्ली-निवासियों के रुधिर से प्लावित हो रही हैं। नादिरशाह की सेना ने सारे नगर में आतंक जमा रखा है। जो कोई सामने आ जाता है, उसे उनकी तलवार के घाट उतरना पड़ता है। नादिरशाह का प्रचंड क्रोध किसी भाँति शांत ही नहीं होता। रक्त की वर्षा भी उसके कोप की आग को बुझा नहीं सकती।

नादिरशाह दरबार-आम में तख़्त पर बैठा हुआ है। उसकी आँखों से जैसे ज्वालाएँ निकल रही हैं। दिल्लीवालों की इतनी हिम्मत कि उसके सिपाहियों का अपमान करें! उन कापुरुषों की यह मजाल! यही काफ़िर तो उसकी सेना की एक ललकार पर रण-क्षेत्र से निकल भागे थे! नगर-निवासियों का आर्त-नाद सुन-सुनकर स्वयं सेना के दिल काँप जाते हैं; मगर नादिरशाह की क्रोधाग्नि शांत नहीं होती।

यहाँ तक कि उसका सेनापति भी उसके सम्मुख जाने का साहस नहीं कर सकता। वीर पुरुष दयालु होते हैं। असहायों पर, दुर्बलों पर, स्त्रियों पर उन्हें क्रोध नहीं आता। इन पर क्रोध करना वे अपनी शान के ख़िलाफ़ समझते हैं, किन्तु निष्ठुर नादिरशाह की वीरता दया-शून्य थी।

दिल्ली का बादशाह सिर झुकाये नादिरशाह के—पास बैठा हुआ था। हरमसरा में विलास करनेवाला बादशाह नादिरशाह की अविनय-पूर्ण बातें सुन रहा था; पर मजाल न थी कि ज़बान खोल सके। उसे अपनी ही जान के लाले पड़े थे, पीड़ित प्रजा की रक्षा कौन करे? वह सोचता था, मेरे मुँह से कुछ निकले, और यह मुझी को डाट बैठे, तो?

अन्त को जब सेना की पैशाचिक क्रूरता पराकाष्ठा को पहुँच गई, तो मुहम्मदशाह के वज़ीर से न रहा गया। वह कविता का मर्मज्ञ था, ख़ुद भी कवि था। जान पर खेलकर नादिरशाह के सामने पहुँचा और यह शेर पढ़ा—

कसे न मांद कि दीगर ब तेग़ नाज़ कुशी;
मगर कि ज़िंदा कुनी ख़ल्क़ रा व बाज़ कुशी।

अर्थात् तेरी निगाहों की तलवार से कोई नहीं बचा। अब यही उपाय है कि मुर्दों को फिर जिलाकर क़त्ल कर।

शेर ने दिल पर चोट किया। पत्थर में भी सूराख़ होते हैं; पहाड़ों में भी हरियाली होती है; पाषाण-हृदयों में भी रस होता है। इस शेर ने पत्थर को पिघला दिया। नादिरशाह ने सेनापति को बुलाकर क़त्ल-आम बन्द करने का हुक्म दिया। एकदम तलवारें म्यान में चली गईं। क़ातिलों के उठे हुए हाथ उठे ही रह गये। जो सिपाही जहाँ था, वहीं बुत बन गया।

शाम हो गई थी। नादिरशाह शाही बाग़ में सैर कर रहा था। बार-बार वही शेर पढ़ता और झूमता था—

कसे न मांद कि दीगर ब तेग़े नाज़ कुशी;
मगर कि ज़िंदा कुनी ख़ल्क़ रा व बाज़ कुशी।

(२)

दिल्ली का ख़ज़ाना लुट रहा है। शाही महल पर पहरा है, कोई अंदर से बाहर, या बाहर से अंदर आ-जा नहीं सकता। बेगमें भी अपने महलों से बाहर बाग में निकलने की हिम्मत नहीं कर सकतीं। महज़ ख़ज़ाने पर ही आफ़त नहीं आई हुई है, सोने-चाँदी के बरतनों, बेश-क़ीमत तसवीरों और आराइश की अन्य सामग्रियों पर भी हाथ साफ़ किया जा रहा है। नादिरशाह तख्त पर बैठा हुआ हीरे और जवाहरात के ढेरों को ग़ौर से देख रहा है; पर वह चीज़ नज़र नहीं आती, जिसके लिए मुद्दत से उसका चित्त लालायित हो रहा था। उसने मुग़ल आज़म नाम के हीरे की प्रशंसा, उसकी करामातों की चर्चा सुनी थी—उसको धारण करनेवाला मनुष्य दीर्घजीवी होता है, कोई रोग उसके निकट नहीं आता, उस रत्न में पुत्रदायिनी शक्ति है, इत्यादि। दिल्ली पर आक्रमण करने के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ इस रत्न को प्राप्त करना भी एक कारण था। सोने-चाँदी के ढेरों और बहुमूल्य रत्नों की चमक-दमक से उसकी आँखें भले ही चौंधिया जायँ, पर हृदय उल्लसित न होता था। उसे तो मुग़ल-आज़म की धुन थी, और मुग़ल-आज़म का वहाँ कहीं पता न था। वह क्रोध से उन्मत्त हो होकर शाही मंत्रियों की ओर देखता और अपने अफ़सरों को झिड़कियाँ देता था; पर अपना अभिप्राय खोलकर न कह सकता था। किसीकी समझ में न आता था कि वह इतना आतुर क्यों हो रहा है। यह तो ख़ुशी से फूले न समाने का अवसर है। अतुल सम्पत्ति सामने पड़ी हुई है, संख्या में इतनी सामर्थ्य नहीं कि उसकी गणना कर सके! संसार का कोई भी महीपति इस विपुल धन का एक अंश भी पाकर अपने को भाग्यशाली समझता; परन्तु यह पुरुष जिसने इस धन-राशि का शतांश भी पहले कभी आँखों से न देखा होगा, जिसकी उम्र भेड़ें चराने में ही गुज़री, क्यों इतना उदासीन है! आख़िर जब रात हुई, बादशाह का ख़ज़ाना खाली हो गया, और उस रत्न के दर्शन न हुए, तो नादिरशाह की

क्रोधाग्नि फिर भड़क उठी। उसने बादशाह के मंत्री को—उसी मंत्री को, जिसकी काव्य-मर्मज्ञता ने प्रजा के प्राण बचाये थे—एकान्त में बुलाया, और कहा—मेरा गुस्सा तुम देख चुके हो। अगर फिर उसे नहीं देखना चाहते, तो लाज़िम है कि मेरे साथ कामिल सफ़ाई का बर्ताव करो। वरना अगर दोबारा यह शोला भड़का, तो दिल्ली की ख़ैरियत नहीं।

वज़ीर—जहाँपनाह, गुलामों से तो कोई ख़ता सरज़द नहीं हुई। ख़ज़ाने की सब कुञ्जियाँ जनाबेआली के सिपहसालार के हवाले कर दी गई हैं।

नादिर—तुमने मेरे साथ दग़ा की है।

वज़ीर—(त्योरी चढ़ाकर) आपके हाथ में तलवार है, और हम कमज़ोर हैं, जो चाहे फ़रमावें ; पर इस इलज़ाम के तसलीम करने में मुझे उज्र है।

नादिर—क्या उसके सबूत की ज़रूरत है ?

वज़ीर—जी हाँ, क्योंकि दग़ा की सज़ा क़त्ल है, और कोई बिला सबब अपने क़त्ल पर रज़ामंद न होगा।

नादिर—इसका सबूत मेरे पास है, हालाँकि नादिर ने कभी किसी को सबूत नहीं दिया। वह अपनी मरज़ी का बादशाह है, और किसी को सबूत देना अपनी शान के ख़िलाफ़ समझता है। पर यहाँ पर ज़ाती मुआमिला है। तुमने मुग़ल-आज़म हीरा क्यों छिपा दिया ?

वज़ीर के चेहरे का रङ्ग उड़ गया। वह सोचने लगा—यह हीरा बादशाह को जान से भी ज़्यादा अज़ीज़ है। वह इसे एक क्षण भी अपने पास से जुदा नहीं करते। उनसे क्योंकर कहूँ ? उन्हें कितना सदमा होगा ! मुल्क गया, ख़ज़ाना गया, इज्ज़त गई। बादशाही की यही एक निशानी उनके पास रह गई है। उनसे कैसे कहूँ ? मुमकिन है, वह गुस्से में आकर इसे कहीं फेंक दें, या तुड़वा डालें। इन्सान की आदत है कि वह अपनी चीज़ दुश्मन को देने की अपेक्षा उसे नष्ट कर देना अच्छा समझता है। बादशाह बादशाह है। मुल्क न सही,

अधिकार न सही, सेना न सही; पर ज़िन्दगीभर की स्वेच्छाचारिता एक दिन में नहीं मिट सकती। यदि नादिर को हीरा न मिला, तो वह न जाने दिल्ली पर क्या सितम ढावे। आह! उसकी कल्पना ही से रोमांच हो जाता है। ख़ुदा न करे, दिल्ली को फिर यह दिन देखना पड़े।

सहसा नादिर ने पूछा—मैं तुम्हारे जवाब का मुंतज़िर हूं! क्या यह तुम्हारी दग़ा का काफ़ी सबूत नहीं है?

वज़ीर—जहाँपनाह, वह हीरा बादशाह सलामत को जान से ज़्यादा अज़ीज़ है। वह उसे हमेशा अपने पास रखते हैं।

नादिर—झूठ मत बोलो। हीरा बादशाह के लिए है, बादशाही हीरे के लिए नहीं। बादशाह को हीरा जान से ज़्यादा अज़ीज़ है—का मतलब सिर्फ़ इतना है कि वह बादशाह को बहुत अज़ीज़ है, और यह कोई वजह नहीं कि मैं उस हीरे को उनसे न लूँ। अगर बादशाह यों न देंगे, तो मैं जानता हूँ कि मुझे क्या करना होगा। तुम जाकर इस मुआमले में उसी नाज़ुकफ़हमी से काम लो, जो तुमने कल दिखाई थी। आह, कितना ला-जवाब शेर था—

कस न मांद कि दीगर ब तेगे नाज़ कुशी;
मगर कि ज़िन्दा कुनी ख़ल्क रा व बाज़ कुशी

(३)

मन्त्री सोचता हुआ चला कि यह समस्या क्योंकर हल करूँ? बादशाह के दीवानख़ाने में पहुँचा, तो देखा, बादशाह उसी हीरे को हाथ में लिये चिन्ता में मग्न बैठे हुए हैं।

बादशाह को इस वक़्त इसी हीरे की फ़िक्र थी। लुटे हुए पथिक की भाँति वह अपनी यह लकड़ी हाथ से न देना चाहता था। वह जानता था कि नादिर को इस हीरे की ख़बर है। वह यह भी जानता था कि ख़ज़ाने में इसे न पाकर उसके क्रोध की सीमा न रहेगी। लेकिन, सब कुछ जानते हुए भी, वह हीरे को हाथ से न जाने देना चाहता था। अन्त को उसने निश्चय किया, मैं इसे न दूँगा, चाहे मेरी जान ही

पर क्यों न बन जाय। रोगी की इस अन्तिम साँस को न निकलने दूँगा। हाय, कहाँ छिपाऊँ? इतना बड़ा मकान है कि उसमें एक नगर समा सकता है, पर इस नन्हीं-सी चीज़ के लिए कहीं जगह नहीं, जैसे किसी अभागे को इतनी बड़ी दुनिया में भी कहीं पनाह नहीं मिलती। किसी सुरक्षित स्थान में न रखकर क्यों न इसे किसी ऐसी जगह रख दूँ, जहाँ किसी का ख़याल ही न पहुँचे। कौन अनुमान कर सकता है कि मैंने हीरे को अपनी सुराही में रखा होगा? अच्छा, हुक्के की फ़र्शी में क्यों न डाल दूँ? फ़रिश्तों को भी ख़बर न होगी।

यह निश्चय करके उसने हीरे को फ़र्शी में डाल दिया। पर तुरन्त ही उसे शंका हुई कि ऐसे बहुमूल्य रत्न को इस जगह रखना उचित नहीं! कौन जाने, जालिम को मेरी यह गुड़गुड़ी ही पसन्द आ जाय। उसने तुरन्त गुड़गुड़ी का पानी तश्तरी में उँड़ेल दिया, और हीरे को निकाल लिया। पानी की दुर्गन्ध उड़ी; पर इतनी हिम्मत न पड़ती थी कि ख़िदमतगार को बुलाकर पानी फेकवा दे। भय होता था, कहीं वह ताड़ न जाय।

वह इसी दुविधा में पड़ा हुआ था कि मन्त्री ने आकर बन्दगी की। बादशाह को उस पर पूरा विश्वास था; किन्तु उसे अपनी क्षुद्रता पर इतनी लज्जा आई कि वह इस रहस्य को उस पर भी न प्रकट कर सका। गुमशुम होकर उसकी ओर ताकने लगा।

मन्त्री ने बात छेड़ी—आज ख़ज़ाने में हीरा न मिला, तो नादिर बहुत झल्लाया। कहने लगा—तुमने मेरे साथ दग़ा की है; मैं शहर लुटवा लूँगा, क़त्ल-आम कर दूँगा, सारे शहर को ख़ाक-सियाह कर डालूँगा। मैंने कहा—जनाबेआली को अख़्तियार है, जो चाहें, करें। पर हमने ख़ज़ाने की सब कुंजियाँ आपके सिपहसालार को दे दी हैं। वह कुछ साफ़-साफ़ तो कहता न था, बस, कनायों में बातें कर रहा था, और भूखे गीदड़ की तरह इधर-उधर बौखलाया फिरता था कि किसे पावे और नोच खाय।

मुहम्मदशाह—मुझे तो उसके सामने बैठते हुए ऐसा ख़ौफ़ मालूम

होता है, गोया किसी शेर का सामना हो। ज़ालिम की आँखें कितनी तुन्द और ग़ज़बनाक हैं। आदमी क्या है, शैतान है। ख़ैर, मैं भी उसी उधेड़-बुन में पड़ा हुआ हूँ कि इसे क्योंकर छिपाऊँ। सल्तनत जाय, ग़म नहीं ; पर इस हीरे को मैं उस वक़्त तक न दूँगा, जब तक कोई मेरी गरदन पर सवार होकर इसे छीन न ले।

वज़ीर—खुदा न करे कि हुज़ूर के दुश्मनों को यह ज़िल्लत उठानी पड़े। मैं एक तरकीब बतलाऊँ। हुज़ूर इसे अपने अमामे (पगड़ी) में रख लें। वहाँ तक उसके फ़रिश्तों का भी ख़याल न पहुँचेगा।

मुहम्मदशाह—(उछलकर) वल्लाह, तुमने ख़ूब सोचा ; वाक़ई तुम्हें ख़ूब सूझी। हज़रत इधर-उधर टटोलने के बाद अपना-सा मुँह लेकर रह जायँगे। मेरे अमामे को कौन देखेगा ? इसी से तो मैंने तुम्हें लुक़मान का ख़िताब दिया है। बस, यही तय रहा। कहीं तुम ज़रा देर पहले आ जाते, तो मुझे इतना दर्द सर न उठाना पड़ता।

(४)

दूसरे ही दिन दोनों बादशाहों में सुलह हो गई। वज़ीर नादिरशाह के क़दमों पर गिर पड़ा, और अर्ज़ की—अब इस डूबती हुई किश्ती को आप ही पार लगा सकते हैं ; वरना इसका अल्लाह ही बेली है ! हिन्दुओं ने सिर उठाना शुरू कर दिया है ; मरहठे, राजपूत, सिख, सभी अपनी-अपनी ताक़तों को मुकम्मिल कर रहे हैं। जिस दिन उनमें मेल-मिलाप हुआ, उसी दिन यह नाव भँवर में पड़ जायगी, और दो-चार चक्कर खाकर हमेशा के लिए नीचे बैठ जायगी।

नादिरशाह को ईरान से चले अरसा हो गया था। वहाँ से रोज़ाना बाग़ियों की बग़ावत की ख़बरें आ रही थीं। नादिरशाह जल्द वहाँ लौट जाना चाहता था। इस समय उसे दिल्ली में अपनी सल्तनत क़ायम करने का अवकाश न था। सुलह पर राज़ी हो गया। सन्धि-पत्र पर दोनों बादशाहों ने हस्ताक्षर कर दिये।

दोनों बादशाहों ने एक ही साथ नमाज़ पढ़ी, एक ही दस्तरख़्वान पर खाना खाया, एक ही हुक़्क़ा पिया, और एक दूसरे से गले मिलकर

अपने-अपने स्थान को चले।

मुहम्मदशाह खुश था। राज्य बच जाने की उतनी खुशी न थी, जितनी हीरे के बच जाने की।

मगर नादिरशाह हीरा न पाकर भी दुखी न था। सबसे हँस-हँसकर बातें करता था, मानो शील और विनय का साक्षात् अवतार है।

(५)

प्रातःकाल है ; दिल्ली में नौबत झड़ रही है। खुशी की महफ़िलें सजाई जा रही हैं। तीन दिन पहले यहाँ रक्त की नदी बही थी। आज आनन्द की लहरें उठ रही हैं। आज नादिरशाह दिल्ली से रुख़सत हो रहा है।

अशर्फ़ियों से लदे हुए ऊँटों की क़तार शाही महल के सामने रवाना होने को तैयार खड़ी है। बहुमूल्य वस्तुएँ गाड़ियों में लदी हुई हैं। दोनों तरफ़ की फ़ौजें गले मिल रही हैं। अभी कल दोनों पक्ष एक दूसरे के ख़ून के प्यासे थे। आज भाई-भाई हो रहे हैं।

नादिरशाह तख़्त पर बैठा हुआ है। मुहम्मदशाह भी उसी तख़्त पर उसकी बग़ल में बैठे हुए हैं। यहाँ भी परस्पर प्रेम का व्यवहार है। नादिरशाह ने मुसकराकर कहा—ख़ुदा करे, यह सुलह हमेशा क़ायम रहे और लोगों के दिलों से इन ख़ूनी दिनों की याद मिट जाय।

मुहम्मदशाह—मेरी तरफ़ से ऐसी कोई बात न होगी जो सुलह को ख़तरे में डाले। मैं ख़ुदा से यह दोस्ती क़ायम रखने के लिए हमेशा दुआ करता रहूँगा।

नादिरशाह—सुलह की जितनी शर्तें थीं, अब पूरी हो चुकीं। सिर्फ़ एक बात बाक़ी है। मेरे यहाँ दस्तूर है कि सुलह के वक़्त अमामे बदल लिये जाते हैं। इसके बग़ैर सुलह की कारवाई पूरी नहीं होती। आइये, हम लोग भी अपने-अपने अमामे बदल लें। लीजिये, यह मेरा अमामा हाज़िर है।

यह कहकर नादिर ने अपना अमामा उतारकर मुहम्मदशाह की तरफ़ बढ़ाया। बादशाह के हाथों के तोते उड़ गये। समझ गया, मुझे

से दुगुनी की गई — दोनों तरफ़ के शूर-सामन्त सामने खड़े थे ; न कुछ कहते बनता था, न सुनते। बचने का कोई उपाय न था और न कोई उपाय सोच निकालने का अवसर ही। कोई जवाब न सूझा। इनकार की गुञ्जाइश न थी। मन मसोसकर रह गया। चुपके से अमामा सिर से उतारा, और नादिरशाह की तरफ़ बढ़ा दिया। हाथ काँप रहे थे, आँखों में क्रोध और विषाद के आँसू भरे हुए थे। मुख पर हलकी-सी मुसकराहट झलक रही थी—वह मुसकराहट, जो अश्रुपात से भी कहीं अधिक करुण और व्यथा-पूर्ण होती है। कदाचित् अपने प्राण निकालकर देने में भी उसे इससे अधिक पीड़ा न होती।

नादिरशाह पहाड़ों और नदियों को नाँघता हुआ ईरान को चला जा रहा था। ७० ऊँटों और इतनी ही बैल-गाड़ियों का क़तार देख-देखकर उसका हृदय बाँसों उछल रहा था। वह बार-बार ख़ुदा को धन्यवाद देता था, जिसकी असीम कृपा ने आज उसकी कीर्ति को उज्ज्वल बनाया था। अब वह केवल ईरान ही का बादशाह नहीं, हिन्दुस्तान जैसे विस्तृत प्रदेश का भी स्वामी था। पर सबसे ज़्यादा खुशी उसे मुग़ल-आज़म हीरा पाने की थी, जिसे बार-बार देखकर भी उसकी आँखें तृप्त न होती थीं। सोचता था, जिस समय मैं दरबार में यह रत्न धारण करके आऊँगा, सबकी आँखें झपक जायँगी, लोग आश्चर्य से चकित रह जायँगे।

उसकी सेना अन्न-जल के कठिन कष्ट भोग रही थी। सरहदों की विद्रोही सेनाएँ पीछे से उसको दिक़ कर रही थीं। नित्य दस-बीस आदमी मर जाते या मारे जाते थे ; पर नादिरशाह को ठहरने की फुरसत न थी। वह भागाभाग चला जा रहा था।

ईरान की स्थिति बड़ी भयङ्कर थी। शाहज़ादा ख़ुद विद्रोह शान्त करने के लिए गया हुआ था ; पर विद्रोह दिन-दिन उग्र रूप धारण करता जाता था। शाही सेना कई युद्धों में परास्त हो चुकी थी। हर घड़ी यही भय होता था कि कहीं वह स्वयं शत्रुओं के बीच घिर न जाय।

पर वाह रे प्रताप ! शत्रुओं ने ज्योंही सुना कि नादिरशाह ईरान

आ पहुँचा, त्योंही उनके हौसले पस्त हो गये। उसका सिंहनाद सुनते ही उनके हाथ-पाँव फूल गये। इधर नादिरशाह ने तेहरान में प्रवेश किया, उधर विद्रोहियों ने शाहज़ादे से सुलह की प्रार्थना की, शरण में आ गये। नादिरशाह ने यह शुभ-समाचार सुना, तो उसे निश्चय हो गया कि सब उसी हीरे की करामात है। यह उसी का चमत्कार है, जिसने शत्रुओं का सिर झुका दिया, हारी हुई बाज़ी जिता दी।

शाहज़ादा विजयी होकर लौटा, तो प्रजा ने बड़े समारोह से उसका स्वागत और अभिवादन किया। सारा तेहरान दीपावली की ज्योति से जगमगा उठा। मंगल-गान की ध्वनि से सब गली और कूचे गूँज उठे।

दरबार सजाया गया। शायरों ने क़सीदे सुनाये। नादिरशाह ने गर्व से उठकर शाहज़ादे के ताज को 'मुगल-आज़म' हीरे से अलंकृत कर दिया। चारों ओर 'मरहबा! मरहबा!' की आवाज़ें बुलंद हुई। शाहज़ादे के मुख की कान्ति हीरे के प्रकाश से दूनी दमक उठी। पितृस्नेह से हृदय पुलकित हो उठा। नादिर—वह नादिर, जिसने दिल्ली में ख़ून की नदी बहाई थी—पुत्र-प्रेम से फूला न समाता था। उसकी आँखों से गर्व और हार्दिक उल्लास के आँसू बह रहे थे।

(७)

सहसा बन्दूक की आवाज़ आई—धायँ! धायँ! दरबार हिल उठा। लोगों के कलेजे दहल उठे। हाय! वज्रपात हो गया! हाय रे दुर्भाग्य! बन्दूक की आवाज़ें कानों में गूँज ही रही थीं कि शाहज़ादा कटे हुए पेड़ की तरह भूमि पर गिर पड़ा; साथ ही वह रत्न-जटित मुकुट भी नादिरशाह के पैरों के पास आ गिरा।

नादिरशाह ने उन्मत्त की भाँति हाथ उठाकर कहा—क़ातिलों को पकड़ो! साथ ही शोक से विह्वल होकर वह शाहज़ादे के प्राणहीन शरीर पर गिर पड़ा। जीवन की सारी अभिलाषाओं का अन्त हो गया।

लोग क़ातिलों की तरफ़ दौड़े। फिर धायँ-धायँ की आवाज़ आई, और दोनों क़ातिल गिर पड़े। उन्होंने आत्महत्या कर ली। वे दोनों विद्रोही-दल के नेता थे।

हाय रे मनुष्य के मनोरथ, तेरी भित्ति कितनी अस्थिर है ! बालू पर की दीवार तो वर्षा में गिरती है, पर तेरी दीवार बिना पानी-बूँद के ढा जाती है। आँधी में दीपक का कुछ भरोसा किया जा सकता है ; पर तेरा नहीं ! तेरी अस्थिरता के आगे बालकों का घरोंदा अचल पर्वत है, वेश्या का प्रेम सती की प्रतिज्ञा की भाँति अटल !

नादिरशाह को लोगों ने लाश पर से उठाया। उसका करुण क्रन्दन हृदयों को हिलाये देता था। सभी की आँखों से आँसू बह रहे थे। होनहार कितना प्रबल, कितना निष्ठुर, कितना निर्दय और कितना निर्मम है !

नादिरशाह ने हीरे को ज़मीन से उठा लिया। एक बार उसे विषाद-पूर्ण नेत्रों से देखा। फिर मुकुट को शाहज़ादे के सिर पर रख दिया, और वज़ीर से कहा—यह हीरा इसी लाश के साथ दफ़न होगा।

रात का समय था। तेहरान में मातम छाया हुआ था। कहीं दीपक या अग्नि का प्रकाश न था। न किसी ने दिया जलाया, और न भोजन बनाया। अफ़ीमचियों की चिलमें भी आज ठंडी हो रही थीं। मगर क़ब्रिस्तान में मशालें रोशन थीं—शाहज़ादे की अन्तिम क्रिया हो रही थी।

जब फ़ातिहा ख़तम हुआ, नादिरशाह ने अपने हाथों से मुकुट को लाश के साथ क़ब्र में रख दिया। राज और संगतराश हाज़िर थे। उसी वक्त क़ब्र पर ईंट-पत्थर और चूने का मज़ार बनने लगा।

नादिर एक महीने तक एक क्षण के लिए भी वहाँ से न हटा। वहीं सोता था, वहीं राज्य का काम करता था। उसके दिल में यह बैठ गई थी कि मेरा अहित इसी हीरे के कारण हुआ। यही मेरे सर्व-नाश और अचानक वज्रपात का कारण है।

सत्याग्रह

(१)

हिज़ एक्सेलेंसी वायसराय बनारस आ रहे थे। सरकारी कर्मचारी, छोटे से बड़े तक, उनके स्वागत की तैयारियाँ कर रहे थे। इधर कांग्रेस ने शहर में हड़ताल मनाने की सूचना दे दी थी। इससे कर्मचारियों में बड़ी हलचल थी। एक ओर सड़कों पर झंडियाँ लगाई जा रही थीं, सफ़ाई हो रही थी, बड़े-बड़े विशाल फाटक बनाये जा रहे थे, दफ़्तरों की सजावट हो रही थी, पंडाल बन रहा था; दूसरी ओर फ़ौज और पुलिस के सिपाही सङ्गीनें चढ़ाये शहर की गलियों में और सड़कों पर क़वायद करते फिरते थे। कर्मचारियों की सिर-तोड़ कोशिश थी कि हड़ताल न होने पावे, मगर कांग्रेसियों को धुन थी कि हड़ताल हो और ज़रूर हो। अगर कर्मचारियों को पशु-बल का ज़ोर है, तो हमें नैतिक बल का भरोसा। इस बार दोनों की परीक्षा हो जाय कि मैदान किसके हाथ रहता है।

घोड़े पर सवार मैजिस्ट्रेट सुबह से शाम तक दूकानदारों को धमकियाँ देता फिरता कि एक-एक को जेल भिजवा दूँगा, बाज़ार लुटवा दूँगा, यह करूँगा और वह करूँगा! दूकानदार हाथ बाँधकर कहते—हुजूर बादशाह हैं, विधाता हैं, जो चाहें कर सकते हैं। पर हम क्या करें? कांग्रेसवाले हमें जीता न छोड़ेंगे। हमारी दूकानों पर धरने देंगे, हमारे ऊपर बाल बढ़ायेंगे, कुएँ में गिरेंगे, उपवास करेंगे। कौन जाने, दो-चार प्राण ही दे दें, तो हमारे मुँह पर सदैव के लिए कालिख पुत जायगी। हुजूर उन्हीं कांग्रेसवालों को समझावें, तो हमारे ऊपर बड़ा एहसान करें। हड़ताल न करने से हमारी कुछ हानि थोड़े ही होगी। देश के बड़े-बड़े आदमी आवेंगे, हमारी दूकानें खुली रहेंगी, तो एक के दो लेंगे, महँगे सौदे बेचेंगे; पर करें क्या, इन शैतानों से कोई बस नहीं चलता।

राय हरनन्दन साहब, राजा लालचन्द और ख़ाँबहादुर मौलवी

महमूदअली तो कर्मचारियों से भी ज़्यादा बेचैन थे। मैजिस्ट्रेट के साथ-साथ और अकेले भी बड़ी कोशिश करते थे। अपने मकान पर बुलाकर दूकानदारों को समझाते, अनुनय-विनय करते, आँखें दिखाते, इक्के-बग्घीवालों को धमकाते, मज़दूरों की ख़ुशामद करते; पर कांग्रेस के मुट्ठीभर आदमियों का कुछ ऐसा आतंक छाया हुआ था कि कोई इनकी सुनता ही न था। यहाँ तक कि पड़ोस की कुँजड़िन ने भी निर्भय होकर कह दिया—हुज़ूर, चाहे मार डालो, पर दूकान न खुलेगी। नाक न कटवाऊँगी। सबसे बड़ी चिंता यह थी कि कहीं पंडाल बनानेवाले मज़दूर, बढ़ई, लोहार वग़ैरह काम न छोड़ दें; नहीं तो अनर्थ ही हो जायगा। राय साहब ने कहा—हुज़ूर, दूसरे शहरों से दूकानदार बुलवावें, और एक बाज़ार अलग खोलें।

ख़ाँ साहब ने फ़रमाया—वक़्त इतना कम रह गया है कि दूसरा बाज़ार तैयार नहीं हो सकता। हुज़ूर कांग्रेसवालों को गिरफ्तार कर लें, या उनकी जायदाद ज़ब्त कर लें, फिर देखिये कैसे क़ाबू में नहीं आते! राजा साहब बोले—पकड़-धकड़ से तो लोग और झल्लायेंगे। कांग्रेसवालों से हुज़ूर कहें कि तुम हड़ताल बन्द करा दो, तो सबको सरकारी नौकरी दे दी जायगी। उसमें अधिकांश बेकार लोग भरे पड़े हैं, यह प्रलोभन पाते ही फूल उठेंगे।

मगर मैजिस्ट्रेट को कोई राय न जँची। यहाँ तक कि वायसराय के आने में तीन दिन और रह गये।

(२)

आख़िर राजा साहब को एक युक्ति सूझी। क्यों न हम लोग भी नैतिक बल का प्रयोग करें? आख़िर कांग्रेसवाले धर्म और नीति के नाम पर ही तो यह तूमार बाँधते हैं। हम लोग भी उन्हीं का अनुकरण करें, शेर को उसकी माँद में पछाड़ें। कोई ऐसा आदमी पैदा करना चाहिये, जो व्रत करे कि दूकानें न खुलीं, तो मैं प्राण दे दूँगा। यह ज़रूरी है कि वह ब्राह्मण हो, और ऐसा, जिसको शहर के लोग मानते हों, आदर करते हों। अन्य सहयोगियों के मन में भी यह बात बैठ

गई। उछल पड़े। राय साहब ने कहा—बस, अब पड़ाव मार लिया। अच्छा, ऐसा कौन पण्डित है, पण्डित गदाधर शर्मा?

राजा—जी नहीं, उसे कौन मानता है? खाली समाचार-पत्रों में लिखा करता है। शहर के लोग उसे क्या जानें?

राय साहब—दमड़ी ओझा तो है इस ढङ्ग का?

राजा—जी नहीं, कालेज के विद्यार्थियों के सिवा उसे और कौन जानता है?

राय साहब—पण्डित मोटेराम शास्त्री?

राजा—बस, बस। आपने ख़ूब सोचा। बेशक वह है इस ढंग का। उसी को बुलाना चाहिये। विद्वान् है, धर्म-कर्म से रहता है। चतुर भी है! वह अगर हाथ में आ जाय तो फिर बाजी हमारी है।

राय साहब ने तुरन्त पण्डित मोटेराम के घर सन्देशा भेजा। उस समय शास्त्रीजी पूजा पर थे। यह पैगाम सुनते ही जल्दी से पूजा समाप्त की और चले। राजा साहब ने बुलाया है, धन्य भाग! धर्म-पत्नी से बोले—आज चन्द्रमा कुछ बली मालूम होते हैं। कपड़े लाओ, देखूँ, क्यों बुलाया है?

स्त्री ने कहा—भोजन तैयार है, करते जाओ; न-जाने कब लौटने का अवसर मिले।

किन्तु शास्त्रीजी ने आदमी को इतनी देर खड़ा रखना उचित न समझा। जाड़े के दिन थे। हरी बनात की अचकन पहनी, जिस पर लाल शंजाफ़ लगी हुई थी। गले में एक ज़री का दुपट्टा डाला। फिर सिर पर बनारसी साफ़ा बाँधा। लाल चौड़े किनारे की रेशमी धोती पहनी, और खड़ाऊँ पर चले। उनके मुख से ब्रह्मतेज टपकता था। दूर ही से मालूम होता था कि कोई महात्मा आ रहे हैं। रास्ते में जो मिलता, सिर झुकाता। कितने ही दूकानदारों ने खड़े होकर पैलगी की। आज काशी का नाम इन्हीं की बदौलत चल रहा है, नहीं तो और कौन रह गया है। कितना नम्र स्वभाव है! बालकों से हँसकर बातें करते हैं। इस ठाट से पण्डितजी राजा साहब के मकान पर पहुँचे।

तीनों मित्रों ने खड़े होकर उनका सम्मान किया। खाँ बहादुर बोले--कहिये पण्डितजी, मिजाज तो अच्छे हैं? वल्लाह, आप नुमाइश में रखने के क़ाबिल आदमी हैं। आपका वज़न तो दस मन से कम न होगा?

राय साहब--एक मन इल्म के लिए दस मन अक़्ल चाहिये। उसी क़ायदे से एक मन अक़्ल के लिए दस मन का जिस्म ज़रूरी है, नहीं तो उसका बोझ कौन उठावे?

राजा साहब—आप लोग इसका मतलब नहीं समझ सकते। बुद्धि एक प्रकार का नजला है, जब दिमाग़ में नहीं समाती, तो जिस्म से आ जाती है।

खाँ साहब—मैंने तो बुजुर्गों की ज़बानी सुना है कि मोटे आदमी अक्ल के दुश्मन होते हैं।

राय साहब—आपका हिसाब कमज़ोर था, वरना आपकी समझ में इतनी बात ज़रूर आ जाती कि जब अक्ल और जिस्म में १ और १० की निस्बत है, तो जितना ही मोटा आदमी होगा, उतना ही उसकी अक्ल का वज़न भी ज़्यादा होगा।

राजा साहब--इससे यह साबित हुआ कि जितना ही मोटा आदमी, उतनी ही मोटी उसकी अक्ल।

मोटेराम--जब मोटी अक्ल की बदौलत राज-दरबार में पूछ होती है, तो मुझे पतली अक्ल लेकर क्या करना है!

हास-परिहास के बाद राजा साहब ने वर्तमान समस्या पण्डितजी के सामने उपस्थित की, और उसके निवारण का जो उपाय सोचा था, वह भी प्रकट किया। बोले--बस, यह समझ लीजिये कि इस साल आपका भविष्य पूर्णतया अपने हाथों में है। शायद किसी आदमी को अपने भाग्य-निर्णय का ऐसा महत्त्वपूर्ण अवसर न मिला होगा। हड़ताल न हुई, तो और तो कुछ नहीं कह सकते, आपको जीवन-भर किसी के दरवाजे जाने की ज़रूरत न होगी। बस, ऐसा कोई व्रत ठानिये कि शहरवाले थर्रा उठें। कांग्रेसवालों ने धर्म की आड़ लेकर इतनी शक्ति

बढ़ाई है। बस, ऐसी कोई युक्ति निकालिये कि जनता के धार्मिक भावों को चोट पहुँचे।

मोटेराम ने गम्भीर भाव से उत्तर दिया—यह तो कोई ऐसा कठिन काम नहीं है। मैं तो ऐसे-ऐसे अनुष्ठान कर सकता हूँ कि आकाश से जल की वर्षा करा दूँ; मरी के प्रकोप को भी शान्त कर दूँ; अन्न का भाव घटा-बढ़ा दूँ। कांग्रेसवालों को परास्त कर देना तो कोई बड़ी बात नहीं। अँगरेजी पढ़े-लिखे महानुभाव समझते हैं कि जो काम हम कर सकते हैं, वह कोई नहीं कर सकता। पर गुप्त विद्याओं का उन्हें ज्ञान ही नहीं।

ख़ाँ साहब—तब तो जनाब यह कहना चाहिये कि आप दूसरे खुदा हैं। हमें क्या मालूम था कि आपमें यह कुदरत है; नहीं तो इतने दिनों तक क्यों परेशान होते?

मोटेराम—साहब, मैं गुप्त-धन का पता लगा सकता हूँ, पितरों को बुला सकता हूँ, केवल गुण-ग्राहक चाहिये। संसार में गुणियों का अभाव नहीं है, गुणज्ञों का ही अभाव है—गुन ना हिरानो, गुन-गाहक हिरानी है।

राजा—भला इस अनुष्ठान के लिए आपको क्या भेंट करना होगा?

मोटेराम—जो कुछ आपकी श्रद्धा हो।

राजा—कुछ बतला सकते हैं कि यह कौन-सा अनुष्ठान होगा?

मोटेराम—अनशन-व्रत के साथ मन्त्रों का जप होगा। सारे शहर में हलचल न मचा दूँ तो मोटेराम नाम नहीं!

राजा—तो फिर कब से?

मोटेराम—आज ही हो सकता है। हाँ, पहले देवताओं के आवाहन के निमित्त थोड़े-से रुपए दिला दीजिये।

रुपए की कमी ही क्या थी। पण्डितजी को रुपए मिल गये और वह खुश-खुश घर आये। धर्म-पत्नी से सारा समाचार कहा। उसने चिन्तित होकर कहा—तुमने नाहक यह रोग अपने सिर लिया! भूख न बरदाश्त हुई, तो? सारे शहर में भद्द हो जायगी, लोग हँसी उड़ावेंगे। रुपए लौटा दो।

मोटेराम ने आश्वासन देते हुए कहा—भूख कैसे न बरदाश्त

होगी ? मैं ऐसा मूर्ख थोड़े ही हूँ कि योंही जा बैठूँगा। पहले मेरे भोजन का प्रबन्ध करो। अमृतियाँ, लड्डू, रसगुल्ले मँगाओ। पेट भर भोजन कर लूँ। फिर आध सेर मलाई खाऊँगा, उसके ऊपर आध सेर बादाम की तह जमाऊँगा। बची-खुची कसर मलाईवाले दही से पूरी कर दूँगा। फिर देखूँगा, भूख क्योंकर पास फटकती है। तीन दिन तक तो साँस ही न ली जायगी, भूख की कौन चलावे। इतने में तो सारे शहर में खलबली मच जायगी। भाग्य-सूर्य उदय हुआ है, इस समय आगा-पीछा करने से पछताना पड़ेगा। बाज़ार न बन्द हुआ, तो समझ लो मालामाल हो जाऊँगा। नहीं तो यहाँ गाँठ से क्या जाता है! सौ रुपए तो हाथ लग ही गये।

इधर तो भोजन का प्रबन्ध हुआ, उधर पण्डित मोटेराम ने डौंड़ी पिटवा दी कि सन्ध्या-समय टाउनहाल के मैदान में पण्डित मोटेराम देश की राजनीतिक समस्या पर व्याख्यान देंगे, लोग अवश्य आवें। पण्डितजी सदैव राजनीतिक विषयों से अलग रहते थे। आज वह इस विषय पर कुछ बोलेंगे, सुनना चाहिये। लोगों को उत्सुकता हुई। पण्डितजी का शहर में बड़ा मान था। नियत समय पर कई हज़ार आदमियों की भीड़ लग गई। पण्डितजी घर से अच्छी तरह तैयार होकर पहुँचे। पेट इतना भरा हुआ था कि चलना कठिन था! ज्योंही वह वहाँ पहुँचे, दर्शकों ने खड़े होकर इन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया।

मोटेराम बोले—नगरवासियो, व्यापारियो, सेठो और महाजनो! मैंने सुना है, तुम लोगों ने कांग्रेसवालों के कहने में आकर बड़े लाट साहब के शुभागमन के अवसर पर हड़ताल करने का निश्चय किया है। यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है? वह चाहें, तो आज तुम लोगों को तोप के मुँह पर उड़वा दें, सारे शहर को खुदवा डालें। राजा हैं, हँसी-ठट्ठा नहीं। वह तरह देते जाते हैं, तुम्हारी दीनता पर दया करते हैं, और तुम गउओं की तरह हत्या के बल खेत चरने को तैयार हो! लाट साहब चाहें तो आज रेल बन्द कर दें, डाक बन्द कर दें, माल का आना-जाना बन्द कर दें। तब बताओ, क्या करोगे? वह चाहें तो

आज सारे शहरवालों को जेल में डाल दें। बताओ, क्या करोगे? तुम उनसे भागकर कहाँ जा सकते हो? है कहीं ठिकाना? इसलिए जब इसी देश में और उन्हीं के अधीन रहना है, तो इतना उपद्रव क्यों मचाते हो? याद रखो, तुम्हारी जान उनकी मुट्ठी में है। ताऊन के कीड़े फैला दें तो सारे नगर में हाहाकार मच जाय। तुम झाड़ू से आँधी को रोकने चले हो? ख़बरदार, जो किसी ने बाज़ार बन्द किया; नहीं तो कहे देता हूँ, यहीं अन्न-जल बिना प्राण दे दूँगा।

एक आदमी ने शंका की—महाराज, आपके प्राण निकलते-निकलते महीने-भर से कम न लगेगा। तीन दिन में क्या होगा?

मोटेराम ने गरजकर कहा—प्राण शरीर में नहीं रहता, ब्रह्माण्ड में रहता है। मैं चाहूँ, तो योग-बल से अभी प्राण त्याग कर सकता हूँ। मैंने तुम्हें चेतावनी दे दी, अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मेरा कहना मानोगे, तो तुम्हारा कल्याण होगा। न मानोगे, हत्या लगेगी, संसार में कहीं मुँह न दिखला सकोगे। बस, यह लो, मैं यहीं आसन जमाता हूँ।

(२)

शहर में यह समाचार फैला, तो लोगों के होश उड़ गये। अधिकारियों की इस नई चाल ने उन्हें हतबुद्धि-सा कर दिया। कांग्रेस के कर्मचारी तो अब भी कहते थे कि यह सब पाखंड है। राजभक्तों ने पण्डित को कुछ दे-दिलाकर यह स्वाँग खड़ा किया है। जब और कोई बस न चलता, फ़ौज, पुलीस, कानून सभी युक्तियों से हार गये, तो यह नई माया रची है। यह और कुछ नहीं, राजनीति का दिवाला है। नहीं तो पंडितजी ऐसे कहाँ के देश-सेवक थे, जो देश की दशा से दुखी होकर व्रत ठानते। इन्हें भूखों मरने दो, दो दिन में चें बोल जायँगे। इस नई चाल की जड़ अभी से काट देनी चाहिये। कहीं यह चाल सफल हो गई, तो समझ लो, अधिकारियों के हाथ में एक नया शस्त्र आ जायगा, और वह सदैव इसका प्रयोग करेंगे। जनता इतनी समझदार तो है नहीं कि इन रहस्यों को समझे। गीदड़-भभकी में आ जायगी।

लेकिन नगर के बनिये-महाजन, जो प्रायः धर्म-भीरु होते हैं, ऐसे घबरा गये कि उन पर इन बातों का कुछ असर ही न होता था। वे कहते थे—साहब, आप लोगों के कहने से सरकार से बुरे बने, नुक़सान उठाने को तैयार हुए, रोज़गार छोड़ा, कितनों के दिवाले हो गये, अफ़सरों को मुँह दिखाने लायक़ नहीं रहे। पहले जाते थे, अधिकारी लोग 'आइये सेठजी' कहकर सम्मान करते थे, अब रेलगाड़ियों में धक्के खाते हैं, पर कोई नहीं सुनता, आमदनी चाहे कुछ हो या न हो, वहियों की तौल देखकर कर (टैक्स) बढ़ा दिया जाता है। यह सब सहा और सहेंगे, लेकिन धर्म के मामले में हम आप लोगों का नेतृत्व नहीं स्वीकार कर सकते। जब एक विद्वान्, कुलीन, धर्म-निष्ठ ब्राह्मण हमारे ऊपर अन्न-जल त्याग कर रहा है, तब हम क्योंकर भोजन करके टाँगें फैलाकर सोवें? कहीं मर गया, तो भगवान् के सामने क्या जबाब देंगे?

सारांश यह कि कांग्रेसवालों की एक न चली। व्यापारियों का एक डेपुटेशन नौ बजे रात को पण्डितजी की सेवा में उपस्थित हुआ। पण्डितजी ने आज भोजन तो ख़ूब डटकर किया था, लेकिन डटकर भोजन करना उनके लिए कोई असाधारण बात न थी। महीने में प्रायः २० दिन वह अवश्य ही न्यौता पाते थे, और निमन्त्रण में डटकर भोजन करना एक स्वाभाविक बात है। अपने सहभोजियों की देखा-देखी, लाग-डाट की धुन में, या गृह-स्वामी के सविनय आग्रह से, और सबसे बढ़कर पदार्थों की उत्कृष्टता के कारण, भोजन मात्रा से अधिक हो ही जाता है। पंडितजी की जठराग्नि ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होती रहती थी। अतएव इस समय भोजन का समय आ जाने से उनकी नीयत कुछ डावाँडोल हो रही थी। यह बात नहीं कि वह भूख से व्याकुल थे। लेकिन भोजन का समय आ जाने पर अगर पेट अफरा हुआ न हो, अजीर्ण न हो गया हो, तो मन में एक प्रकार की भोजन की चाह होने लगती है। शास्त्रीजी की इस समय यही दशा हो रही थी। जी चाहता था, किसी खोंचेवाले को पुकारकर कुछ ले लेते, किन्तु अधिकारियों ने

उनकी शरीर-रक्षा के लिए वहाँ कई सिपाहियों को तैनात कर दिया था, वे सब हटने का नाम न लेते थे। पंडितजी की विशाल बुद्धि इस समय यही समस्या हल कर रही थी कि इन यमदूतों को कैसे टालूँ? ख़ामख़्वाह इन पाजियों को यहाँ खड़ा कर दिया! मैं कोई क़ैदी तो हूँ नहीं कि भाग जाऊँगा।

अधिकारियों ने शायद यह व्यवस्था इसलिए कर रखी थी कि कांग्रेसवाले ज़बर्दस्ती पण्डितजी को वहाँ से भगाने की चेष्टा न कर सकें। कौन जाने, वे क्या चाल चलें। कहीं किसी कुत्ते ही को उन पर छोड़ दें, या दूर से पत्थर फेंकने लगें। ऐसे अनुचित और अपमानजनक व्यवहारों से पण्डितजी की रक्षा करना अधिकारियों का कर्तव्य था।

वह अभी इस चिन्ता में थे कि व्यापारियों का डेपुटेशन आ पहुँचा। पण्डितजी कुहनियों के बल लेटे हुए थे, सँभल बैठे। नेताओं ने उनके चरण छूकर कहा—महाराज, हमारे ऊपर आपने क्यों यह कोप किया है? आपकी जो आज्ञा हो, वह हम शिरोधार्य करें। आप उठिये, अन्न-जल ग्रहण कीजिये। हमें नहीं मालूम था कि आप सचमुच यह व्रत ठाननेवाले हैं, नहीं तो हम पहले ही आपसे विनती करते। अब कृपा कीजिये, दस बजने का समय है। हम आपका वचन कभी न टालेंगे।

मोटेराम—ये कांग्रेसवाले तुम्हें मटियामेट करके छोड़ेंगे! आप तो डूबते ही हैं; तुम्हें भी अपने साथ ले डूबेंगे! बाज़ार बन्द रहेगा, तो इससे तुम्हारा ही टोटा होगा; सरकार को क्या! तुम नौकरी छोड़ दोगे, आप भूखों मरोगे; सरकार को क्या? तुम जेल जाओगे, आप चक्की पीसोगे; सरकार को क्या? न-जाने इन सबको क्या सनक सवार हो गई है कि अपनी नाक कटाकर दूसरों का असगुन मनाते हैं। तुम इन कुपन्थियों के कहने में न आओ। क्यों, दूकानें खुली रखोगे?

सेठ—महाराज, जब तक शहर-भर के आदमियों की पंचायत न हो जाय, तब तक हम इसका बीमा कैसे ले सकते हैं! कांग्रेसवालों ने कहीं लूट मचवा दी, तो कौन हमारी मदद करेगा? आप उठिये, भोजन पाइये, हम कल पंचायत करके आपकी सेवा में जैसा कुछ होगा, हाल देंगे।

मोटेराम—तो फिर पंचायत करके आना।

डेपुटेशन जब निराश होकर लौटने लगा, तो पंडितजी ने कहा—किसी के पास सुँघनी तो नहीं है?

एक महाशय ने डिबिया निकालकर दे दी।

(४)

लोगों के जाने के बाद मोटेराम ने पुलीसवालों से पूछा—तुम यहाँ क्यों खड़े हो?

सिपाहियों ने कहा—साहब का हुक्म है, क्या करें?

मोटेराम—यहाँ से चले जाओ।

सिपाही—आपके कहने से चले जायँ? कल नौकरी छूट जायगी, तो आप खाने को देंगे?

मोटेराम—हम कहते हैं, चले जाओ; नहीं तो हम ही यहाँ से चले जायँगे। हम कोई क़ैदी नहीं हैं, जो तुम घेरे खड़े हो?

सिपाही—चले क्या जाइयेगा, मजाल है!

मोटेराम—मजाल क्यों नहीं है बे! कोई जुर्म किया है!

सिपाही—अच्छा, जाओ तो देखें?

पण्डितजी ब्रह्म-तेज में आकर उठे और एक सिपाही को इतनी ज़ोर से धक्का दिया कि वह कई क़दम पर जा गिरा। दूसरे सिपाहियों की हिम्मत छूट गई। पण्डितजी को उन सबने थल-थल समझ लिया था, पराक्रम देखा, तो चुपके-से सटक गये।

मोटेराम अब लगे इधर-उधर नज़रें दौड़ाने कि कोई खोंचेवाला नज़र आ जाय, तो उससे कुछ लें। किन्तु तुरन्त ध्यान आ गया, कहीं उसने किसी से कह दिया, तो? लोग तालियाँ बजाने लगेंगे। नहीं, ऐसी चतुराई से काम करना चाहिये कि किसी को कानोकान ख़बर न हो। ऐसे ही संकटों में तो बुद्धि-बल का परिचय मिलता है। एक क्षण में उन्होंने इस कठिन प्रश्न को हल कर लिया।

दैवयोग से उसी समय एक खोंचेवाला जाता दिखाई दिया। ११ बज चुके थे, चारों तरफ़ सन्नाटा छा गया था। पण्डितजी ने

बुलाया—खोंचेवाले, ओ खोंचेवाले !

खोंचेवाला—कहिये क्या दूँ ? भूख लग आई न ? अन्न-जल छोड़ना साधुओं का काम है, हमारा आपका नहीं।

मोटेराम—अबे, क्या बकता है ? यहाँ क्या किसी साधु से कम हैं ? चाहें, तो महीनों पड़े रहें, और भूख-प्यास न लगे। तुझे तो केवल इसलिए बुलाया है कि जरा अपनी कुप्पी मुझे दे। देखूँ, तो वहाँ क्या रेंग रहा है। मुझे भय होता है कि साँप न हो।

खोंचेवाले ने कुप्पी उतारकर दे दी। पण्डितजी उसे लेकर इधर-उधर ज़मीन पर कुछ खोजने लगे। इतने में कुप्पी उनके हाथ से छूटकर गिर पड़ी और बुझ गई। सारा तेल बह गया। पण्डितजी ने उसमें एक ठोकर और लगाई कि बचा-खुचा तेल भी बह जाय।

खोंचेवाला—(कुप्पी को हिलाकर)—महाराज, इसमें तो ज़रा भी तेल नहीं बचा। अब तक चार पैसे का सौदा बेचता, आपने यह खटराग बढ़ा दिया !

मोटेराम—भैया, हाथ ही तो है, छूट गिरी, तो अब क्या हाथ काट डालूँ ? यह लो पैसे, जाकर कहीं से तेल भरा लो।

खोंचेवाला—(पैसे लेकर) तो अब तेल भरवाकर मैं यहाँ थोड़े ही आऊँगा।

मोटेराम—खोंचा रखे जाओ, लपककर थोड़ा तेल ले लो ; नहीं मुझे कोई साँप काट लेगा तो तुम्हीं पर हत्या पड़ेगी। कोई जानवर है ज़रूर। देखो, वह रेंगता है। ग़ायब हो गया। दौड़ जाओ पट्ठे, तेल लेते आओ, मैं तुम्हारा खोंचा देखता रहूँगा। डरते हो तो, अपने रुपए-पैसे लेते जाओ।

खोंचेवाला बड़े धर्म-संकट में पड़ा। खोंचे से पैसे निकालता है, तो भय है कि पण्डितजी अपने दिल में बुरा न मानें। सोचें मुझे बेईमान समझ रहा है। छोड़कर जाता है तो कौन जाने, इनकी नीयत क्या हो। किसी की नीयत सदा ठीक नहीं रहती। अन्त को उसने यही निश्चय किया कि खोंचा यहीं छोड़ दूँ, जो कुछ तक़दीर में होगा, वह

होगा। वह उधर बाज़ार की तरफ़ चला, इधर पण्डितजी ने खोंचे पर निगाह दौड़ाई, तो बहुत हताश हुए। मिठाई बहुत कम बच रही थी। पाँच-छः चीज़ें थीं, मगर किसी में दो अदद से ज़्यादा निकालने की गुञ्जाइश न थी। भंडा फूट जाने का खटका था। पंडितजी ने सोचा—इतने से क्या होगा? केवल क्षुधा और प्रबल हो जायगी, शेर के मुँह खून लग जायगा! गुनाह बेलज़्ज़त है। अपनी जगह पर आ बैठे। लेकिन दम-भर के बाद प्यास ने फिर ज़ोर किया। सोचे—कुछ तो ढाढ़स हो ही जायगा। आहार कितना सूक्ष्म हो, फिर भी आहार ही है। उठे, मिठाई निकाली; पर पहला ही लड्डू मुँह में रखा था कि देखा, खोंचेवाला तेल की कुप्पी जलाये क़दम बढ़ाता चला आ रहा है। उसके पहुँचने के पहले मिठाई का समाप्त हो जाना अनिवार्य था। एक साथ दो चीज़ें मुँह में रखीं। अभी चुबला ही रहे थे कि वह निशा-चर दस क़दम और आगे बढ़ आया। एक साथ चार चीज़ें मुँह में डालीं, और अधकुचली ही निगल गये। अभी ६ अदद और थीं और खोंचेवाला फाटक तक आ चुका था। सारी की सारी मिठाई मुँह में डाल ली। अब न चबाते बनता है, न उगलते। वह शैतान मोटरकार की तरह कुप्पी चमकाता हुआ चला ही आता था। जब वह बिलकुल सामने आ गया तो, पण्डितजी ने जल्दी से सारी मिठाई निगल ली। मगर आख़िर आदमी ही थे, कोई मगर तो थे नहीं। आँखों में पानी भर आया, गला फँस गया, शरीर में रोमांच हो आया, ज़ोर-से खाँसने लगे। खोंचेवाले ने तेल की कुप्पी बढ़ाते हुए कहा—यह लीजिये, देख लीजिये, चले तो हैं आप उपवास करने, पर प्राणों का इतना डर है। आपको क्या चिन्ता, प्राण भी निकल जायँगे, तो सरकार बाल-बच्चों की परवस्ती करेगी।

पण्डितजी को क्रोध तो ऐसा आया कि इस पाजी को खोटी-खरी सुनाऊँ, लेकिन गले से आवाज़ न निकली। कुप्पी चुपके से ले ली, और झूठ-मूठ इधर-उधर देखकर लौटा दी।

खोंचेवाला—आपको क्या पड़ी थी, जो चले सरकार का पच्छ इसलिये मैं आपको

करने? कहीं कल दिन-भर पंचायत होगी, तो रात तक कुछ तय होगा। तब तक तो आपकी आँखों में तितलियाँ उड़ने लगेंगी।

यह कहकर वह चला गया, और पण्डितजी भी थोड़ी देर तक खाँसने के बाद सो रहे।

(५)

दूसरे दिन सवेरे ही से व्यापारियों ने मिसकौट करनी शुरू की। उधर कांग्रेसवालों में भी हलचल मची। अमनसभा के अधिकारियों ने भी कान खड़े किये। यह तो इन भोले-भाले बनियों को धमकाने की अच्छी तरकीब हाथ आई। पंडित-समाज ने अलग एक सभा की, और उसमें यह निश्चय किया कि पंडित मोटेराम को राजनीतिक मामलों में पड़ने का कोई अधिकार नहीं। हमारा राजनीति से क्या संबंध? ग़रज़ सारा दिन इसी वाद-विवाद में कट गया, और किसी ने पण्डितजी की ख़बर न ली। लोग खुल्लमखुल्ला कहते थे कि पण्डितजी ने एक हज़ार रुपए सरकार से लेकर यह अनुष्ठान किया है। बेचारे पंडितजी ने रात तो लोट-पोटकर काटी, पर उठे तो शरीर मुरदा-सा जान पड़ता था। खड़े होते थे, तो आँखें तिलमिलाने लगती थीं, सिर में चक्कर आ जाता था। पेट में जैसे कोई बैठा हुआ कुरेद रहा हो। सड़क की तरफ़ आँखें लगी हुई थीं कि लोग मनाने तो नहीं आ रहे हैं। संध्योपासन का समय इसी प्रतीक्षा में कट गया। इस समय पूजन के पश्चात् नित्य नाश्ता किया करते थे। आज अभी मुँह में पानी भी न गया था। न-जाने वह शुभ घड़ी कब आयेगी। फिर पंडिताइन पर क्रोध आने लगा। आप तो रात को भर-पेट खाकर सोई होंगी, इस वक़्त भी जल-पान कर ही चुकी होंगी, पर इधर भूलकर भी न झाँका कि मरे या जीते हैं। कुछ बात करने ही के बहाने से क्या थोड़ा-सा मोहनभोग बनाकर न ला सकती थीं? पर किसे इतनी चिंता है? रुपए लेकर रख लिये, फिर जो कुछ मिलेगा, वह भी रख लेंगी। मुझे अच्छा उल्लू बनाया!

क़िस्सा-कोताह पंडितजी ने दिन-भर इंतज़ार किया; पर कोई

मनानेवाला नज़र न आया। लोगों के दिल में जो यह संदेह पैदा हुआ था कि पंडितजी ने कुछ ले-देकर यह स्वाँग रचा है, स्वार्थ के वशीभूत होकर यह पाखंड खड़ा किया है, वही उनको मनाने में बाधक होता था।

(६)

रात के ९ बज गये थे। सेठ भोंदूमल ने, जो व्यापारी समाज के नेता थे, निश्चयात्मक भाव से कहा—मान लिया, पंडितजी ने स्वार्थ-वश ही यह अनुष्ठान किया है; पर इससे वह कष्ट तो कम नहीं हो सकता, जो अन्न-जल के बिना प्राणीमात्र को होता है। यह धर्म-विरुद्ध है कि एक ब्राह्मण हमारे ऊपर दाना-पानी त्याग दे और हम पेट-भर-भरकर चैन की नींद सोवें। अगर उन्होंने धर्म के विरुद्ध आचरण किया है, तो उसका दंड उन्हें भोगना पड़ेगा। हम क्यों अपने कर्तव्य से मुँह फेरें?

कांग्रेस के मन्त्री ने दबी हुई आवाज़ से कहा—मुझे तो जो कुछ कहना था, वह मैं कह चुका। आप लोग समाज के नेता हैं, जो फ़ैसला कीजिये, हमें मंजूर है। चलिये, मैं भी आपके साथ चला चलूँगा। धर्म का कुछ अंश मुझे भी मिल जायगा; पर एक विनती सुन लीजिये—आप लोग पहले मुझे वहाँ जाने दीजिये। मैं एकांत में उनसे दस मिनट बातें करना चाहता हूँ। आप लोग फाटक पर खड़े रहियेगा। जब मैं वहाँ से लौट आऊँ, तो फिर जाइयेगा।

इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती थी? प्रार्थना स्वीकृत हो गई।

मंत्रीजी पुलीस-विभाग में बहुत दिनों तक रह चुके थे, मानव-चरित्र की कमज़ोरियों को जानते थे। वह सीधे बाज़ार गये, और ५) की मिठाई ली। उसमें मात्रा से अधिक सुगंध डालने का प्रयत्न किया, चाँदी के वरक़ लगवाये, और एक दोने में लिये रूठे हुए ब्रह्म-देव की पूजा करने चले। एक झज्झर में ठंढा पानी लिया, और उसमें केवड़े का जल मिलाया। दोनों ही चीज़ों से ख़ुशबू की लपटें उड़ रही थीं। सुगन्ध में कितनी उत्तेजक शक्ति है, कौन नहीं जानता। इससे

बिना भूख की भूख लग आती है, भूखे आदमी की तो बात ही क्या ?

पण्डितजी इस समय अचेत भूमि पर पड़े हुए थे। रात को कुछ नहीं मिला। दस-पाँच छोटी-छोटी मिठाइयां का क्या ज़िक्र ! दोपहर को कुछ नहीं मिला, और इस वक्त भी भोजन की वेला टल गई थी। भूख में अब आशा की व्याकुलता नहीं, निराशा की शिथिलता थी। सारे अग ढीले पड़ गये थे। यहाँ तक कि आँखें भी न खुलती थीं। उन्हें खोलने की बार-बार चेष्टा करते ; पर वे आप-ही-आप बन्द हो जातीं। ओठ सूख गये थे। ज़िंदगी का कोई चिह्न था, तो बस, उनका धीरे-धीरे कराहना। ऐसा घोर संकट उनके ऊपर कभी न पड़ा था। अजीर्ण की शिकायत तो उन्हें महीने में दो-चार बार हो जाती थी, जिसे वह हड़ आदि की फंकियों से शान्त कर लिया करते थे ; पर अजीर्णावस्था में ऐसा कभी न हुआ था कि उन्होंने भोजन छोड़ दिया हो। नगर-निवासियों को, अमन-सभा को, सरकार को, ईश्वर को, कांग्रेस को और धर्म-पत्नी को जी-भरकर कोस चुके थे। किसी से कोई आशा न थी। अब इतनी शक्ति भी न रही थी कि स्वयं खड़े होकर बाज़ार जा सकें। निश्चय हो गया था कि आज रात को अवश्य प्राण-पखेरू उड़ जायँगे। जीवन-सूत्र कोई रस्सी तो है ही नहीं कि चाहे जितने झटके दो, टूटने का नाम न ले।

मन्त्रीजी ने पुकारा—शास्त्रीजी !

मोटेराम ने पड़े-पड़े आँखें खोल दीं। उनमें ऐसी करुण वेदना भरी हुई थी, जैसे किसी बालक के हाथ से कौआ मिठाई छीन ले गया हो।

मन्त्रीजी ने दोने की मिठाई सामने रख दी, और झज्झर पर कुल्हड़ औंधा दिया। इस काम से सुचित होकर बोले—यहाँ कब तक पड़े रहियेगा ?

सुगन्ध ने पण्डितजी की इन्द्रियों पर संजीवनी का काम किया। पण्डितजी उठ बैठे और बोले—देखो, कब तक निश्चय होता है।

मन्त्री—यहाँ कुछ निश्चय-विश्चय न होगा। आज दिन-भर पंचायत

हुआ की, कुछ तय न हुआ। कल कहीं शाम को लाट साहब आवेंगे। तब तक तो आपकी न-जाने क्या दशा होगी। आपका चेहरा बिल्कुल पीला पड़ गया है।

मोटेराम—यहीं मरना बदा होगा, तो कौन टाल सकता है? इस दोने में क़लाकन्द है क्या?

मन्त्री—हाँ, तरह-तरह की मिठाइयाँ हैं। एक नातेदार के यहाँ बैना भेजने के लिए विशेष रीति से बनवाई हैं।

मोटेराम—जभी इनमें इतनी सुगन्ध है। ज़रा दोना खोलिये तो!

मंत्री ने मुसकराकर दोना खोल दिया, और पंडितजी नेत्रों से मिठाइयाँ खाने लगे। अन्धा आँखें पाकर भी संसार को ऐसे तृष्णा-पूर्ण नेत्रों से न देखेगा। मुँह में पानी भर आया। मंत्रीजी ने कहा—आपका व्रत न होता, तो दो-चार मिठाइयाँ आपको चखाता। ५) सेर के दाम दिये हैं।

मोटेराम—तब तो बहुत ही श्रेष्ठ होंगी। मैंने बहुत दिन हुए क़ला-क़न्द नहीं खाया।

मंत्री—आपने भी तो बैठे-बैठाये झंझट मोल ले लिया। प्राण ही न रहेंगे, तो धन किस काम आयेगा?

मोटेराम—क्या करूँ, फँस गया। मैं इतनी मिठाइयों का जल-पान कर जाता था। (हाथ से मिठाइयों को टटोलकर) भोला की दूकान की होंगी?

मंत्री—चखिये दो-चार!

मोटेराम—क्या चखूँ, धर्म-संकट में पड़ा हूँ।

मंत्री—अजी चखिये भी! इस समय जो आनन्द प्राप्त होगा, वह लाख रुपए में भी नहीं मिल सकता। कोई किसी से कहने जाता है क्या!

मोटेराम—मुझे भय किसका है? मैं यहाँ दाना-पानी बिना मर रहा हूँ, और किसी को परवा ही नहीं। तो फिर मुझे क्या डर? लाओ, इधर दोना बढ़ाओ। जाओ, सबसे कह देना, शास्त्रीजी ने व्रत तोड़

दिया। भाड़ में जाय बाज़ार और व्यापार! यहाँ किसी की चिन्ता नहीं। जब धर्म नहीं रहा, तो मैंने ही धर्म का बीड़ा थोड़े ही उठाया है!

यह कहकर पंडितजी ने दोना अपनी तरफ़ खींच लिया, और लगे बढ़-बढ़कर हाथ मारने। यहाँ तक कि एक पल-भर में आधा दोना समाप्त हो गया। सेठ लोग आकर फाटक पर खड़े थे। मन्त्री ने जाकर कहा—ज़रा चलकर तमाशा देखिये। आप लोगों को न बाज़ार खोलना पड़ेगा, न ख़ुशामद करनी पड़ेगी। मैंने सारी समस्याएँ हल कर दीं। यह कांग्रेस का प्रताप है।

चाँदनी छिटकी हुई थी। लोगों ने आकर देखा, पंडितजी मिठाई ठिकाने लगाने में वैसे ही तन्मय हो रहे हैं, जैसे कोई महात्मा समाधि में मग्न हो।

भोंदूमल ने कहा—पंडितजी के चरण छूता हूँ। हम लोग तो आ ही रहे थे, आपने क्यों जल्दी की? ऐसी जुगुत बताते कि आपकी प्रतिज्ञा भी न टूटती, और कार्य भी सिद्ध हो जाता।

मोटेराम—मेरा काम सिद्ध हो गया। यह अलौकिक आनन्द है, जो धन के ढेरों से नहीं प्राप्त हो सकता। अगर कुछ श्रद्धा हो, तो इसी दूकान की इतनी ही मिठाई और मँगवा दो।*

---

* हम यह कहना भूल गये कि मंत्रीजी को मिठाई लेकर मैदान में आते समय पुलिस के सिपाही को ।) पैसे देने पड़े थे। यह नियम-विरुद्ध था; लेकिन मंत्रीजी ने इस बात पर अड़ना उचित न समझा।

—लेखक

भाड़े का टट्टू

(१)

आगरा कॉलेज के मैदान में संध्या-समय दो युवक हाथ से हाथ मिलाये टहल रहे थे। एक का नाम यशवन्त था, दूसरे का रमेश। यशवन्त डील-डौल का ऊँचा और बलिष्ठ था। उसके मुख पर संयम और स्वास्थ्य की कान्ति झलकती थी। रमेश छोटे क़द और इकहरे बदन का, तेजहीन और दुर्बल आदमी था। दोनों में किसी विषय पर बहस हो रही थी।

यशवन्त ने कहा—मैं आत्मा के आगे धन का कुछ मूल्य नहीं समझता।

रमेश बोला—बड़ी ख़ुशी की बात है।

यशवन्त—हाँ, देख लेना। तुम ताना मार रहे हो, लेकिन मैं दिखला दूँगा कि धन को कितना तुच्छ समझता हूँ।

रमेश—ख़ैर, दिखला देना। मैं तो धन को तुच्छ नहीं समझता। धन के लिए आज १५ वर्ष से किताबें चाट रहा हूँ; धन के लिए मा-बाप, भाई-बन्द सबसे अलग यहाँ पड़ा हूँ; न-जाने अभी कितनी सलामियाँ देनी पड़ेंगी, कितनी ख़ुशामद करनी पड़ेगी। क्या इसमें आत्मा का पतन न होगा? मैं तो इतने ऊँचे आदर्श का पालन नहीं कर सकता। यहाँ तो अगर किसी मुक़दमे में अच्छी रिश्वत पा जायँ, तो शायद छोड़ न सकें। क्या तुम छोड़ दोगे?

यशवन्त—मैं उसकी ओर आँख उठाकर भी न देखूँगा, और मुझे विश्वास है कि तुम जितने नीच बनते हो, उतने नहीं हो।

रमेश—मैं उससे कहीं नीच हूँ, जितना कहता हूँ।

यशवन्त—मुझे तो यक़ीन नहीं आता कि स्वार्थ के लिए तुम किसी को नुक़सान पहुँचा सकोगे।

रमेश—भाई, संसार में आदर्श का निर्वाह केवल संन्यासी ही कर सकता है; मैं तो नहीं कर सकता। मैं तो समझता हूँ कि अगर तुम्हें धक्का देकर तुमसे बाज़ी जीत सकूँ, तो तुम्हें ज़रूर गिरा दूँगा। और,

बुरा न मानो, तो कह दूँ, तुम भी मुझे ज़रूर गिरा दोगे। स्वार्थ का त्याग करना कठिन है।

यशवन्त—तो मैं कहूँगा कि तुम भाड़े के टट्टू हो।

रमेश—और मैं कहूँगा कि तुम काठ के उल्लू हो।

(२)

यशवन्त और रमेश साथ-साथ स्कूल में दाखिल हुए और साथ-ही-साथ उपाधियाँ लेकर कालेज से निकले। यशवन्त कुछ मन्दबुद्धि, पर बला का मिहनती था। जिस काम को हाथ में लेता, उससे चिपट जाता, और उसे पूरा करके ही छोड़ता। रमेश तेज़ था, पर आलसी। घंटे-भर भी जमकर बैठना उसके लिए मुश्किल था। एम० ए० तक तो वह आगे रहा और यशवन्त पीछे, मिहनत बुद्धि-बल से परास्त होती रही; लेकिन सिविल-सर्विस में पाँसा पलट गया। यशवन्त सब धन्धे छोड़कर किताबों पर पिल पड़ा; घूमना-फिरना, सैर-सपाटा, सरकस-थिएटर, यार-दोस्त, सबसे मुँह मोड़कर अपनी एकान्त-कुटीर में जा बैठा। रमेश दोस्तों के साथ गप-शप उड़ाता, क्रिकेट खेलता रहा। कभी-कभी मनोरंजन के तौर पर किताबें देख लेता। कदाचित् उसे विश्वास था कि अब की भी मेरी तेज़ी बाज़ी ले जायगी। अक्सर जाकर यशवन्त को दिक़ करता। उसकी किताब बन्द कर देता; कहता, क्यों प्राण दे रहे हो? सिविल-सर्विस कोई मुक्ति तो नहीं है, जिसके लिए दुनिया से नाता तोड़ लिया जाय! यहाँ तक कि यशवन्त उसे आते देखता, तो किवाड़ें बन्द कर लेता।

आख़िर परीक्षा का दिन आ पहुँचा। यशवन्त ने सब कुछ याद किया था, पर किसी प्रश्न का उत्तर सोचने लगता, तो उसे मालूम होता, मैंने जितना पढ़ा था, सब भूल गया! वह बहुत घबराया हुआ था। रमेश पहले से कुछ सोचने का आदी न था। सोचता, जब परचा सामने आयेगा, उस वक्त देखा जायगा। वह आत्मविश्वास से फूला-फूला फिरता था।

परीक्षा का फल निकला, तो सुस्त कछुआ तेज़ ख़रगोश से बाज़ी

मार ले गया था।

अब रमेश की आँखें खुलीं। पर वह हताश न हुआ। योग्य आदमी के लिए यश और धन की कमी नहीं, यह उसका विश्वास था। उसने क़ानून की परीक्षा की तैयारी शुरू की, और यद्यपि उसमें उसने बहुत ज़्यादा मिहनत न की, लेकिन अव्वल दरजे में पास हुआ। यशवन्त ने उसको बधाई का तार भेजा। वह अब एक ज़िले का अफ़सर हो गया था।

(२)

दस साल गुज़र गये। यशवन्त दिलोजान से काम करता था, और उसके अफ़सर उससे बहुत प्रसन्न थे। पर अफ़सर जितने प्रसन्न थे, मातहत उतने ही अप्रसन्न रहते थे। वह खुद जितनी मिहनत करता था, मातहतों से भी उतनी ही मिहनत लेना चाहता था; खुद जितना बेलौस था, मातहतों को भी उतना ही बेलौस बनाना चाहता था। ऐसे आदमी बड़े कारगुज़ार समझे जाते हैं। यशवंत की कारगुज़ारी का अफ़सरों पर सिक्का जमता जाता था। पाँच वर्षों में ही वह ज़िले का जज बना दिया गया।

रमेश इतना भाग्यशाली न था। वह जिस इजलास में वकालत करने जाता, वहीं असफल रहता। हाकिम को नियत समय पर आने में देर हो जाती, तो खुद भी चल देता और फिर बुलाने से भी न आता। कहता—अगर हाकिम वक्त की पाबन्दी नहीं करता, तो मैं क्यों करूँ? मुझे क्या गरज़ पड़ी है कि घंटों उनके इजलास पर खड़ा उनकी राह देखा करूँ? बहस इतनी निर्भीकता से करता कि खुशामद के आदी हुक्काम की निगाहों में उसकी निर्भीकता गुस्ताख़ी मालूम होती। सहनशीलता उसे छू नहीं गई थी। हाकिम हो या दूसरे पक्ष का वकील, जो उसके मुँह लगता, उसी की ख़बर लेता था। यहाँ तक कि एक बार वह ज़िला-जज ही से लड़ बैठा। फल यह हुआ कि उसकी सनद छीन ली गई। किन्तु मुवक्किलों के हृदय में उसका सम्मान ज्यों-का-त्यों रहा।

तब उसने आगरा-कालेज में शिक्षक का पद प्राप्त कर लिया।

किन्तु यहाँ भी दुर्भाग्य ने साथ न छोड़ा। प्रिंसिपल से पहले ही दिन खटपट हो गई। प्रिंसिपल का सिद्धांत यह था कि विद्यार्थियों को राजनीति से अलग रहना चाहिये। वह अपने कालेज के किसी छात्र को किसी राजनीतिक जलसे में शरीक न होने देते। रमेश पहले ही दिन से इस आज्ञा का खुल्लमखुल्ला विरोध करने लगा। उसका कथन था कि अगर किसी को राजनीतिक जलसों में शामिल होना चाहिये, तो विद्यार्थी को। यह भी उसकी शिक्षा का एक अंग है। अन्य देशों में छात्रों ने युगान्तर उपस्थित कर दिया है, तो इस देश में क्यों उनकी ज़बान बन्द की जाती है? इसका फल यह हुआ कि साल खतम होने के पहले ही रमेश को इस्तीफ़ा देना पड़ा। किन्तु विद्यार्थियों पर उसका दबाव तिल-भर भी कम न हुआ।

इस भाँति कुछ तो अपने स्वभाव और कुछ परिस्थितियों ने रमेश को मार-मारकर हकीम बना दिया। पहले मुवक्किलों का पक्ष लेकर अदालत से लड़ा, फिर छात्रों का पक्ष लेकर प्रिंसिपल से रार मोल ली, और अब प्रजा का पक्ष लेकर सरकार को चुनौती दी। वह स्वभाव ही से निर्भीक, आदर्शवादी, सत्यभक्त तथा आत्माभिमानी था। ऐसे प्राणी के लिए प्रजा-सेवक बनने के सिवा और उपाय ही क्या था। समाचार-पत्रों में वर्तमान परिस्थिति पर उसके लेख निकलने लगे। उसकी आलोचनाएँ इतनी स्पष्ट, इतनी व्यापक और इतनी मार्मिक होती थीं कि शीघ्र ही उसकी कीर्ति फैल गई। लोग मान गये कि इस क्षेत्र में एक नई शक्ति का उदय हुआ है। अधिकारी लोग उसके लेख पढ़कर तिलमिला उठते थे। उसका निशाना इतना ठीक बैठता था कि उससे बच निकलना असम्भव था। अतिशयोक्तियाँ तो उनके सिरों पर से सन-सनाती हुई निकल जाती थीं। उनका वे दूर से तमाशा देख सकते थे; अभिज्ञताओं की वे उपेक्षा कर सकते थे। ये सब शस्त्र उनके पास तक पहुँचते ही न थे, रास्ते ही में गिर पड़ते थे। पर रमेश के निशाने ठीक सिरों पर बैठते और अधिकारियों में हलचल और हाहाकार मचा देते थे।

देश की राजनीतिक स्थिति चिन्ताजनक हो रही थी। यशवंत अपने पुराने मित्र के लेखों को पढ़-पढ़कर काँप उठते थे। भय होता, कहीं वह क़ानून के पंजे में न आ जाय। बार-बार उसे संयत रहने की ताकीद करते, बार-बार मिन्नतें करते कि ज़रा अपनी क़लम को और नरम कर दो, जान-बूझकर क्यों विषधर क़ानून के मुँह में उँगली डालते हो? लेकिन रमेश को नेतृत्व का नशा चढ़ा हुआ था। वह इन पत्रों का जवाब तक न देता था।

पाँचवें साल यशवन्त बदलकर आगरे का ज़िला जज हो गया।

(४)

देश की राजनीतिक दशा चिन्ताजनक हो रही थी। ख़ुफ़िया-पुलीस ने एक तूफ़ान खड़ा कर दिया था। उसकी कपोल-कल्पित कथाएँ सुन-सुनकर हुक्कामों की रूह फ़ना हो रही थी। कहीं अख़बारों का मुँह बन्द किया जाता था, कहीं प्रजा के नेताओं का। ख़ुफ़िया-पुलीस ने अपना उल्लू सीधा करने के लिए हुक्कामों के कुछ इस तरह कान भरे कि उन्हें हरएक स्वतन्त्र विचार रखनेवाला आदमी ख़ूनी और क़ातिल नज़र आता था।

रमेश यह अन्धेर देखकर चुप बैठनेवाला मनुष्य न था। ज्यों-ज्यों अधिकारियों की निरंकुशता बढ़ती थी, त्यों-त्यों उसका भी जोश बढ़ता जाता था। रोज़ कहीं न कहीं व्याख्यान देता और उसके प्रायः सभी व्याख्यान विद्रोहात्मक भावों से भरे होते थे। स्पष्ट और खरी बातें कहना ही विद्रोह है! अगर किसी का राजनीतिक भाषण विद्रोहात्मक नहीं माना गया, तो समझ लो, उसने अपने आन्तरिक भावों को गुप्त रखा है। उसके दिल में जो कुछ है, उसे ज़बान पर लाने का साहस उसमें नहीं है। रमेश ने मनोभावों को गुप्त रखना सीखा ही न था। प्रजा का नेता बनकर जेल और फाँसी से डरना क्या! जो आफ़त आनी हो, आवे। वह सब कुछ सहने को तैयार बैठा था। अधिकारियों की आँखों में भी वही सबसे ज़्यादा गड़ा हुआ था।

एक दिन यशवन्त ने रमेश को अपने यहाँ बुला भेजा। रमेश के

जी में तो आया कि कह दे, तुम्हें आते क्या शरम आती है ? आख़िर हो तो ग़ुलाम ही ! लेकिन फिर कुछ सोचकर कहला भेजा, कल शाम को आऊँगा। दूसरे दिन वह ठीक ६ बजे यशवन्त के बँगले पर जा पहुँचा। उसने किसी से इसका ज़िक्र न किया। कुछ तो यह ख़्याल था कि लोग कहेंगे, मैं अफ़सरों की ख़ुशामद करता हूँ, और कुछ यह कि शायद इससे यशवन्त को कोई हानि पहुँचे।

वह यशवंत के बँगले पर पहुँचा, तो चिराग़ जल चुके थे। यशवंत ने आकर उसे गले से लगा लिया। आधी रात तक दोनों मित्रों में ख़ूब बातें होती रहीं। यशवंत ने इतने दिनों में नौकरी के जो अनुभव प्राप्त किये थे, सब बयान किये। रमेश को यह जानकर आश्चर्य हुआ कि यशवंत के राजनीतिक विचार कितने विषयों में मेरे विचारों से भी ज़्यादा स्वतन्त्र हैं। उसका यह ख़्याल बिलकुल ग़लत निकला कि वह बिलकुल बदल गया होगा, वफ़ादारी के राग अलापता होगा।

रमेश ने कहा--भले आदमी, जब इतना जले हुए हो, तो छोड़ क्यों नहीं देते नौकरी ? और कुछ न सही, अपनी आत्मा की रक्षा तो कर सकोगे !

यशवंत—मेरी चिन्ता पीछे करना, इस समय अपनी चिंता करो। मैंने तुम्हें सावधान करने को बुलाया है। इस वक़्त सरकार की नज़र में तुम बेतरह खटक रहे हो। मुझे भय है कि तुम कहीं पकड़े न जाओ।

रमेश—इसके लिए तो तैयार बैठा हूँ।

यशवंत—आख़िर आग में कूदने से लाभ ही क्या ?

रमेश—हानि-लाभ देखना मेरा काम नहीं। मेरा काम तो अपने कर्तव्य का पालन करना है।

यशवंत—हठी तो तुम सदा के हो, मगर मौक़ा नाज़ुक है, सँभले रहना ही अच्छा है। अगर मैं देखता कि जनता में वास्तविक जागृति है, तो तुमसे पहले मैदान में आता। पर जब देखता हूँ कि अपने ही मरे स्वर्ग देखना है, तो आगे क़दम रखने की हिम्मत नहीं पड़ती।

दोनों दोस्तों में देर तक बातें हुआ कीं। कालेज के दिन याद

आये। सहपाठियों के लिए कालेज की पुरानी स्मृतियाँ मनोरंजन और हास्य का अविरल स्रोत हुआ करती हैं। अध्यापकों पर आलोचनाएँ हुईं; कौन-कौन साथी क्या कर रहा है, इसकी चरचा हुई। बिलकुल यही मालूम होता था कि दोनों अब भी कालेज के छात्र हैं। गंभीरता नाम को भी न थी।

रात ज़्यादा हो गई। भोजन करते-करते एक बज गया। यशवंत ने कहा—अब कहाँ जाओगे, यहीं सो रहो, और बातें हों। तुम तो कभी आते भी नहीं?

रमेश तो रमते जोगी थे ही; खाना खाकर बातें करते-करते सो गये। नींद खुली, तो नौ बज गये थे। यशवंत सामने खड़े मुसकरा रहे थे।

इसी रात को आगरे में भयंकर डाका पड़ गया।

(५)

रमेश दस बजे घर पहुँचे, तो देखा, पुलीस ने उनका मकान घेर रखा है। इन्हें देखते ही एक अफ़सर ने वारंट दिखाया। तुरन्त घर की तलाशी होने लगी। मालूम नहीं, क्योंकर रमेश के मेज़ की दराज़ में एक पिस्तौल निकल आया। फिर क्या था, हाथों में हथकड़ी पड़ गई। अब किसे उनके डाके में शरीक होने से इनकार हो सकता था? और भी कितने ही आदमियों पर आफ़त आई। सभी प्रमुख नेता चुन लिये गये। मुक़दमा चलने लगा।

औरों की बात तो ईश्वर जाने, पर रमेश निरपराध था। इसका उसके पास ऐसा प्रबल प्रमाण था, जिसकी सत्यता से किसी को इनकार न हो सकता था। पर क्या वह इस प्रमाण का उपयोग कर सकता था।

रमेश ने सोचा, यशवंत स्वयं मेरे वकील द्वारा सफ़ाई के गवाहों में अपना नाम लिखाने का प्रस्ताव करेगा। मुझे निर्दोष जानते हुए वह कभी मुझे जेल न जाने देगा। वह इतना हृदय-शून्य नहीं है। लेकिन दिन गुज़रते जाते थे, और यशवंत की ओर से इस प्रकार का कोई प्रस्ताव न होता था; और रमेश खुद संकोच-वश उसका

नाम लिखाते हुए डरते थे। न-जाने इसमें उसे क्या बाधा हो। अपनी रक्षा के लिए वह उसे सङ्कट में न डालना चाहते थे।

यशवंत हृदय-शून्य न थे, भाव-शून्य न थे, लेकिन कर्म-शून्य अवश्य थे। उन्हें अपने परम मित्र को निर्दोष मारे जाते देखकर दुःख होता था, कभी-कभी रो पड़ते थे; पर इतना साहस न होता था कि सफ़ाई देकर उसे छुड़ा लें। न-जाने अफ़सरों को क्या ख़्याल हो! कहीं यह न समझने न लगें कि मैं भी षड्यंत्रकारियों से सहानुभूति रखता हूँ, मेरा भी उनके साथ कुछ सम्पर्क है! यह मेरे हिन्दुस्तानी होने का दंड है! जानकर ज़हर निगलना पड़ रहा है। पुलीस ने अफ़सरों पर इतना आतंक जमा दिया है कि चाहे मेरी शहादत से रमेश छूट भी जाय, खुल्लमखुल्ला मुझ पर अविश्वास न किया जाय, पर दिलों से यह सन्देह क्योंकर दूर होगा कि मैंने केवल एक स्वदेश-बन्धु को छुड़ाने के लिए झूटी गवाही दी? और, बन्धु भी कौन? जिस पर राज-विद्रोह का अभियोग है!

इसी सोच-विचार में एक महीना गुज़र गया। उधर मैजिस्ट्रेट ने यह मुक़दमा यशवन्त ही के इजलास में भेज दिया। डाके में कई ख़ून हो गये थे, और मैजिस्ट्रेट को उतनी कड़ी सज़ाएँ देने का अधिकार न था जितनी उसके विचार में दी जानी चाहिये थीं।

(६)

यशवन्त अब बड़े संकट में पड़ा। उसने छुट्टी लेनी चाही; लेकिन मंज़ूर न हुई। सिविल-सर्जन अंगरेज़ था। इस वजह से उसकी सनद लेने की हिम्मत न पड़ी। बला सिर पर आ पड़ी थी, और उससे बचने का कोई उपाय न सूझता था।

भाग्य की कुटिल क्रीड़ा देखिये। साथ खेले और साथ पढ़े हुए दो मित्र एक दूसरे के सम्मुख खड़े थे, केवल एक कठघरे का अन्तर था। पर एक की जान दूसरे की मुट्ठी में थी। दोनों की आँखें कभी चार न होतीं। दोनों सिर नीचा किये रहते थे। यद्यपि यशवन्त न्याय के पद पर था, और रमेश मुलज़िम, लेकिन यथार्थ में दशा इसके प्रतिकूल

थी। यशवन्त की आत्मा लज्जा, ग्लानि और मानसिक पीड़ा से तड़पती थी, और रमेश का मुख निर्दोषिता के प्रकाश से चमकता रहता था।

दोनों मित्रों में कितना अन्तर था! एक कितना उदार था। दूसरा कितना स्वार्थी। रमेश चाहता, तो भरी अदालत में उस रात की बात कह देता। लेकिन यशवन्त जानता था, रमेश फाँसी से बचने के लिए भी उस प्रमाण का आश्रय न लेगा, जिसे मैं गुप्त रखना चाहता हूँ।

जब तक मुक़दमे की पेशियाँ होती रहीं, तब तक यशवन्त को असह्य मर्म वेदना होती रही। उसकी आत्मा और स्वार्थ में नित्य संग्राम होता रहता था, पर फ़ैसले के दिन तो उसकी वही दशा हो रही थी, जो किसी ख़ून के अपराधी की हो। इजलास पर जाने की हिम्मत न पड़ती थी। वह तीन बजे कचहरी पहुँचा। मुलज़िम अपना भाग्य-निर्णय सुनने को तैयार खड़े थे। रमेश भी आज रोज़ से ज़्यादा उदास था। उसके जीवन-संग्राम में वह अवसर आ गया था, जब उसका सिर तलवार की धार के नीचे होगा। अब तक भय सूक्ष्म रूप में था, आज उसने स्थूल रूप धारण कर लिया था।

यशवंत ने दृढ़ स्वर में फ़ैसला सुनाया! जब उसके मुख से ये शब्द निकले कि रमेशचंद्र को ७ वर्ष कठिन कारावास, तो उसका गला रुँध गया। उसने तजवीज़ मेज़ पर रख दी। कुर्सी पर बैठकर पसीना पोंछने के बहाने आँखों में उमड़े हुए आँसुओं को पोंछा। इसके आगे तजवीज़ उससे न पढ़ी गई।

(७)

रमेश जेल से निकलकर पक्का क्रान्तिवादी बन गया। जेल की अँधेरी कोठरी में दिन-भर के कठिन परिश्रम के बाद वह दीनों के उपकार और सुधार के मंसूबे बाँधा करता था। सोचता, मनुष्य क्यों पाप करता है? इसीलिए न कि संसार में इतनी विषमता है। कोई तो विशाल भवनों में रहता है, और किसी को पेड़ की छाँह भी मयस्सर नहीं। कोई रेशम और रत्नों से मढ़ा हुआ है, किसी को फटा वस्त्र भी नहीं। ऐसे न्याय-विहीन संसार में यदि चोरी, हत्या और अधर्म है, तो

यह किसका दोष है ? वह एक ऐसी समिति खोलने का स्वप्न देखा करता, जिसका काम संसार से इस विषमता को मिटा देना हो। संसार सबके लिए है, और उसमें सबको सुख भोगने का समान अधिकार है। न डाका डाका है, न चोरी चोरी। धनी अगर अपना धन ख़ुशी से नहीं बाँट देता, तो उसकी इच्छा के विरुद्ध बाँट लेने में क्या पाप ! धनी उसे पाप कहता है, तो कहे। उसका बनाया हुआ क़ानून अगर दंड देना चाहता है, तो दे। हमारी अदालत भी अलग होगी। उसके सामने वे सभी मनुष्य अपराधी होंगे, जिनके पास ज़रूरत से ज़्यादा सुख-भोग की सामग्रियाँ हैं। हम भी उन्हें दंड देंगे, हम भी उनसे कड़ी मिहनत लेंगे। जेल से निकलते ही उसने इस सामाजिक क्रांति की घोषणा कर दी। गुप्त सभाएँ बनने लगीं, शस्त्र जमा किये जाने लगे, और थोड़े ही दिनों में डाकों का बाज़ार गरम हो गया। पुलीस ने उनका पता लगाना शुरू किया। उधर क्रान्तिकारियों ने पुलीस पर भी हाथ साफ़ करना शुरू किया। उनकी शक्ति दिन-दिन बढ़ने लगी। काम इतनी चतुराई से होता था कि किसी को अपराधियों का कुछ सुराग़ न मिलता। रमेश कहीं ग़रीबों के लिए दवाख़ाने खोलता, कहीं बैंक। डाके के रुपयों से उसने इलाक़े ख़रीदना शुरू किया। जहाँ कोई इलाक़ा नीलाम होता, वह उसे ख़रीद लेता। थोड़े ही दिनों में उसके अधीन एक बड़ी जायदाद हो गई। इसका नफ़ा ग़रीबों ही के उपकार में ख़र्च होता था ! तुर्रा यह कि सभी जानते थे, यह रमेश की करामात है; पर किसी को मुँह खोलने की हिम्मत न होती थी। सभ्य-समाज की दृष्टि में रमेश से ज़्यादा घृणित और कोई प्राणी संसार में न था। लोग उसका नाम सुनकर कानों पर हाथ रख लेते थे। शायद उसे प्यासों मरता देखकर कोई एक बूँद पानी भी उसके मुँह में न डालता। लेकिन किसी की मजाल न थी कि उस पर आक्षेप कर सके।

इस तरह कई साल गुज़र गये। सरकार ने डाकुओं का पता लगाने के लिए बड़े-बड़े इनाम रखे। यूरोप से गुप्त पुलीस के सिद्ध-हस्त आदमियों को बुलाकर इस काम पर नियुक्त किया। लेकिन ग़ज़ब

के डकैत थे, जिनकी हिकमत के आगे किसी की कुछ न चलती थी।

पर रमेश ख़ुद अपने सिद्धान्तों का पालन न कर सका। ज्यों-ज्यों दिन गुज़रते थे, उसे अनुभव होता था कि मेरे अनुयायियों में असन्तोष बढ़ता जाता है। उनमें भी जो ज़्यादा चतुर और साहसी थे, वे दूसरों पर रोब जमाते और लूट के माल में बराबर हिस्सा न देते थे। यहाँ तक कि रमेश से कुछ लोग जलने लगे। वह अब राजसी ठाट से रहता था। लोग कहते, उसे हमारी कमाई को यों उड़ाने का क्या अधिकार है? नतीजा यह हुआ कि आपस में फूट पड़ गई।

रात का वक़्त था। काली घटा छाई हुई थी। आज डाकगाड़ी में डाका पड़नेवाला था। प्रोग्राम पहले से तैयार कर लिया गया था। पाँच साहसी युवक इस काम के लिए चुने गये थे।

सहसा एक युवक ने खड़े होकर कहा—आप बार-बार मुझी को क्यों चुनते हैं? हिस्सा लेनेवाले तो सभी हैं, मैं ही क्यों बार-बार अपनी जान जोखिम में डालूँ?

रमेश ने दृढ़ता से कहा—इसका निश्चय करना मेरा काम है कि कौन कहाँ भेजा जाय। तुम्हारा काम केवल मेरी आज्ञा का पालन है।

युवक—अगर मुझसे काम ज़्यादा लिया जाता है, तो हिस्सा क्यों नहीं ज़्यादा दिया जाता?

रमेश ने उसकी त्योरियाँ देखीं, और चुपके से पिस्तौल हाथ में लेकर बोले—इसका फ़ैसला वहाँ से लौटने के बाद होगा।

युवक—मैं जाने से पहले इसका फ़ैसला करना चाहता हूँ।

रमेश ने इसका जवाब न दिया। वह पिस्तौल से उसका काम तमाम कर देना चाहते ही थे कि युवल खिड़की से नीचे कूद पड़ा और भागा। कूदने-फाँदने में उसका जोड़ न था। चलती रेलगाड़ी से फाँद पड़ना उसके बायें हाथ का खेल था।

वह वहाँ से सीधा गुप्त पुलीस के प्रधान के पास पहुँचा।

(८)

यशवंत ने भी पेंशन लेकर वकालत शुरू की थी। न्याय-विभाग

के सभी लोगों से उनकी मित्रता थी। उनकी वकालत बहुत जल्द चमक उठी। यशवंत के पास लाखों रुपए थे। उन्हें पेंशन भी बहुत मिलती थी। वह चाहते, तो घर बैठे आनन्द से अपनी उम्र के बाक़ी दिन काट देते। देश और जाति की कुछ सेवा करना भी उनके लिए मुश्किल न था। ऐसे ही पुरुषों से निस्स्वार्थ सेवा की आशा की जा सकती है। पर यशवंत ने अपनी सारी उम्र रुपए कमाने में गुज़ारी थी, और वह अब कोई ऐसा काम न कर सकते थे, जिसका फल रुपयों की सूरत में न मिले।

यों तो सारा सभ्य-समाज रमेश से घृणा करता था, लेकिन यशवंत सबसे बढ़ा हुआ था। कहता, अगर कभी रमेश पर मुक़दमा चलेगा, तो मैं बिना फ़ीस लिये सरकार की तरफ़ से पैरवी करूँगा। खुल्लमखुल्ला रमेश पर छींटे उड़ाया करता—यह आदमी नहीं, शैतान है, राक्षस है; ऐसे आदमी का तो मुँह न देखना चाहिये। उफ़्! इसके हाथों कितने भले घरों का सर्वनाश हो गया! कितने भले आदमियों के प्राण गये। कितनी स्त्रियाँ विधवा हो गईं! कितने बालक अनाथ हो गये। आदमी नहीं पिशाच है। मेरा बस चले, तो इसे गोली मार दूँ, जीता चुनवा दूँ!

(६)

सारे शहर में शोर मचा हुआ था—रमेश बाबू पकड़ गये! बात सच्ची थी। रमेश सचमुच पकड़ गया था। उसी युवक ने, जो रमेश के सामने कूदकर भागा था, पुलीस के प्रधान से सारा कच्चा चिट्ठा बयान कर दिया था। अपहरण और हत्या का कैसा रोमाञ्चकारी, कैसा पैशाचिक, कैसा पाप-पूर्ण वृत्तान्त था!

भद्र-समुदाय बग़लें बजाता था। सेठों के घरों में घी के चिराग़ जलते थे। उनके सिर पर एक नंगी तलवार लटकती रहती थी, आज वह हट गई। अब वे मीठी नींद सो सकते थे।

अख़बारों में रमेश के हथकंडे छपने लगे। वे बातें जो अब तक मारे भय के किसी की ज़बान पर न आती थीं, अब अख़बारों में निकलने लगीं। उन्हें पढ़कर पता चलता था कि रमेश ने कितना अँधेर मचा रखा था। कितने ही राजे और रईस उसे माहवार टैक्स दिया

करते थे। उसका पुरज़ा पहुँचता, फलाँ तारीख को इतने रुपए भेज दो। फिर किसकी मजाल थी कि उसका हुक्म टाल सके। वह जनता के हित के लिए जो काम करता, उसके लिए भी अमीरों से चन्दे लिये जाते थे। रक़म लिखना रमेश का काम था। अमीर को बिना कान-पूँछ हिलाये वह रक़म दे देनी पड़ती थी।

लेकिन भद्र-समुदाय जितना ही प्रसन्न था, जनता उतनी ही दुखी थी। अब कौन पुलीसवालों के अत्याचार से उनकी रक्षा करेगा, कौन सेठों के ज़ुल्म से उन्हें बचावेगा, कौन उनके लड़कों के लिए कला-कौशल के मदरसे खोलेगा! वे अब किसके बल पर कूदेंगे? वह अब अनाथ थे। वही उनका अवलंब था। अब वे किसका मुँह ताकेंगे? किसको अपनी फ़रियाद सुनावेंगे?

पुलीस शहादतें जमा कर रही थी। सरकारी वकील ज़ोरों से मुक़दमा चलाने की तैयारियाँ कर रहा था। लेकिन रमेश की तरफ़ से कोई वकील न खड़ा होता था। ज़िले-भर में एक ही आदमी था, जो उसे क़ानून के पंजे से छुड़ा सकता था। वह था यशवंत! लेकिन यशवंत जिसके नाम से कानों पर उँगली रखता था, क्या उसी की वकालत करने को खड़ा होगा? असंभव!

रात के ६ बजे थे। यशवंत के कमरे में एक स्त्री ने प्रवेश किया। यशवंत अख़बार पढ़ रहा था। बोला—क्या चाहती हो?

स्त्री—अपने पति के लिए एक वकील।

यशवन्त—तुम्हारा पति कौन है?

स्त्री—वही जो आपके साथ पढ़ता था, और जिस पर डाके का झूठा अभियोग चलाया जानेवाला है?

यशवंत ने चौंककर पूछा—तुम रमेश की स्त्री हो?

स्त्री—हाँ।

यशवन्त—मैं उनकी वकालत नहीं कर सकता।

स्त्री—आपको अख़्तियार है। आप अपने ज़िले के आदमी हैं, और मेरे पति के मित्र भी रह चुके हैं। इसलिए सोचा था, क्यों बाहर-

वालों को बुलाऊँ। मगर अब इलाहाबाद या कलकत्ते से ही किसी को बुलाऊँगी।

यशवन्त—मिहनताना दे सकोगी?

स्त्री ने अभिमान के साथ कहा—बड़े से बड़े वकील का मिहनताना क्या होता है?

यशवन्त—तीन हज़ार रुपए रोज़!

स्त्री—बस! आप इस मुक़दमे को ले लें, मैं आपको तीन हज़ार रुपए रोज़ दूँगी।

यशवन्त—तीन हज़ार रुपए रोज़!

स्त्री—हाँ, और यदि आपने उन्हें छुड़ा लिया, तो पचास हज़ार रुपए आपको इनाम के तौर पर और दूँगी।

यशवंत के मुँह में पानी भर आया। अगर मुक़दमा दो महीने भी चला, तो कम से कम एक लाख रुपए सीधे हो जायँगे। पुरस्कार ऊपर से। पूरे दो लाख की गोटी है। इतना धन तो ज़िन्दगी-भर में भी न जमा कर पाये थे। मगर दुनिया क्या कहेगी? अपनी आत्मा भी तो नहीं गवाही देती। ऐसे आदमी को क़ानून के पंजे से बचाना असंख्य प्राणियों की हत्या करना है। लेकिन गोटी दो लाख की है। कुछ रमेश के फँस जाने से इस जत्थे का अन्त तो हुआ नहीं जाता। उसके चेले-चापड़ तो रहेंगे ही। शायद वे अब और भी उपद्रव मचावें। फिर मैं दो लाख की गोटी क्यों जाने दूँ! लेकिन मुझे कहीं मुँह दिखाने को जगह न रहेगी! न सही। जिसका जी चाहे खुश हो, जिसका जी चाहे नाराज़। ये दो लाख तो नहीं छोड़े जाते। कुछ मैं किसी का गला तो दबाता नहीं, चोरी तो करता नहीं! अपराधियों की रक्षा करना तो मेरा काम ही है।

सहसा स्त्री ने पूछा—आप क्या जवाब देते हैं?

यशवन्त—मैं कल जवाब दूँगा। ज़रा सोच लूँ?

स्त्री—नहीं, मुझे इतनी फ़ुरसत नहीं है। अगर आपको कुछ उलझन हो तो साफ़-साफ़ कह दीजिये, मैं और प्रबन्ध करूँ।

यशवन्त को और विचार करने का अवसर न मिला। जल्दी का फैसला स्वार्थ ही की ओर झुकता है। यहाँ हानि की सम्भावना नहीं रहती।

यशवन्त—आप कुछ रुपए पेशगी दे सकती हैं ?

स्त्री—रुपयों की मुझसे बार-बार चरचा न कीजिये। उनकी जान के सामने रुपयों की हस्ती क्या है! आप जितनी रक़म चाहें, मुझसे ले लें। आप चाहे उन्हें छुड़ा न सकें, लेकिन सरकार के दाँत ज़रूर खट्टे कर दें।

यशवन्त—ख़ैर, मैं ही वकील हो जाऊँगा। कुछ पुरानी दोस्ती का निर्वाह भी तो करना चाहिये।

(१०)

पुलीस ने एँड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया, सैकड़ों शहादतें पेश कीं। मुख़बिर ने तो पूरी गाथा ही सुना दी; लेकिन यशवन्त ने कुछ ऐसी दलीलें कीं, शहादतों को कुछ इस तरह झूठा सिद्ध किया, और मुख़बिर की कुछ ऐसी ख़बर ली कि रमेश बेदाग़ छूट गये। उन पर कोई अपराध न सिद्ध हो सका। यशवन्त जैसे संयत और विचारशील वकील का उनके पक्ष में खड़े हो जाना ही इसका प्रमाण था कि सरकार ने ग़लती की।

सन्ध्या का समय था। रमेश के द्वार पर शामियाना तना हुआ था। ग़रीबों को भोजन कराया जा रहा था। मित्रों की दावत हो रही थी। यह रमेश के छूटने का उत्सव था। यशवन्त को चारों ओर से धन्यवाद मिल रहे थे। रमेश को बधाइयाँ दी जा रही थीं। यशवन्त बार-बार रमेश से बोलना चाहता था, लेकिन रमेश उसकी ओर से मुँह फेर लेते थे। अब तक उन दोनों में एक बात भी न हुई थी।

आख़िर यशवन्त ने एक बार झुँझलाकर कहा—तुम तो मुझसे इस तरह ऐंठे हुए हो, मानो मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई की है।

रमेश—और आप क्या समझते हैं कि मेरे साथ भलाई की है? पहले आपने मेरे इस लोक का सर्वनाश किया था, अबकी परलोक का किया। पहले न्याय किया होता, तो मेरी ज़िन्दगी सुधर जाती और

अब जेल जाने देते, तो आफ़त बन जाती।

यशवन्त—यह तो न कहोगे कि मुझे इस मामले में कितने साहस से काम लेना पड़ा।

रमेश—आपने साहस से काम नहीं लिया, स्वार्थ से काम लिया। आप अपने स्वार्थ के भक्त हैं। मैं तो आपको 'भाड़े का टट्टू' समझता हूँ! मैंने अपने जीवन का बहुत दुरुपयोग किया; लेकिन उसे आपके जीवन से बदलने को किसी दशा में भी तैयार नहीं हूँ। आप मुझसे धन्यवाद की आशा न रखें।

बाबाजी का भोग

(१)

रामधन अहीर के द्वार पर एक साधु आकर बोला—बच्चा, तेरा कल्याण हो, कुछ साधु पर श्रद्धा कर।

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा—साधु द्वार पर आये हैं, उन्हें कुछ दे दे।

स्त्री बरतन माँज रही थी, और इस घोर चिन्ता में मग्न थी कि आज भोजन क्या बनेगा, घर में अनाज का एक दाना भी न था। चैत का महीना था! किन्तु यहाँ दोपहर ही को अन्धकार छा गया था। उपज सारी-की-सारी खलिहान से उठ गई। आधी महाजन ने ले ली, आधी ज़मींदार के प्यादों ने वसूल की, भूसा बेचा तो बैल के व्यापारी से गला छूटा, बस थोड़ी-सी गाँठ अपने हिस्से में आई। उसी को पीट-पीटकर एक मन-भर दाना निकला था। किसी तरह चैत का महीना पार हुआ। अब आगे क्या होगा, क्या बैल खायेंगे, क्या घर के प्राणी खायेंगे, यह ईश्वर ही जाने। पर द्वार पर साधु आ गया है, उसे निराश कैसे लौटायें, अपने दिल में क्या कहेगा!

स्त्री ने कहा—क्या दे दूँ, कुछ तो रहा नहीं?

रामधन—जा देख, तो मटके में, कुछ आटा-वाटा मिल जाय तो ले आ!

स्त्री—मटके झाड़-पोंछकर तो कल ही चूल्हा जला था। क्या उसमें बरकत होगी?

रामधन—तो मुझसे तो यह न कहा जायगा कि बाबा घर में कुछ नहीं है। किसी के घर से माँग ला।

स्त्री—जिससे लिया उसे देने की नौबत नहीं आई, अब और किस मुँह से माँगू?

रामधन—देवताओं के लिए कुछ अँगौवा निकाला है न, वही ला, दे आऊँ!

स्त्री—देवताओं की पूजा कहाँ से होगी?

रामधन—देवता माँगने तो नहीं आते? समाई होगी करना, न समाई हो न करना।

स्त्री—अरे तो कुछ अँगौवा भी पँसेरी दो पँसेरी है? बहुत होगा तो आध सेर। इसके बाद क्या फिर कोई साधु न आयेगा? उसे तो जवाब देना ही पड़ेगा।

रामधन—यह बला तो टलेगी, फिर देखी जायगी।

स्त्री झुँझलाकर उठी और एक छोटी-सी हाँड़ी उठा लाई, जिसमें मुश्किल से आध सेर आटा था। यह गेहूँ का आटा बड़े यत्न से देवताओं के लिए रखा हुआ था। रामधन कुछ देर खड़ा सोचता रहा, तब आटा एक कटोरे में रखकर बाहर आया, और साधु की झोली में डाल दिया।

(२)

महात्मा ने आटा लेकर कहा—बच्चा, अब तो साधु आज यहीं रमेंगे। कुछ थोड़ी-सी दाल दे, तो साधु का भोग लग जाय।

रामधन ने फिर आकर स्त्री से कहा। संयोग से दाल घर में थी। रामधन ने दाल, नमक, उपले जुटा दिये। फिर कुएँ से पानी खींच लाया। साधु ने बड़ी विधि से बाटियाँ बनाईं, दाल पकाई, और आलू

झोली में से निकालकर भुरता बनाया। जब सब सामग्री तैयार हो गई, तो रामधन से बोले—बच्चा, भगवान् के भोग के लिए कौड़ी-भर घी चाहिए। रसोई पवित्र न होगी तो भोग कैसे लगेगा ?

रामधन—बाबाजी, घी तो घर में न होगा।

साधु—बच्चा, भगवान् का दिया तेरे पास बहुत है। ऐसी बात न कह।

रामधन—महाराज, मेरे गाय-भैंस कुछ नहीं है, घी कहाँ से होगा ?

साधु—बच्चा, भगवान् के भंडार में सब कुछ है, जाकर मालकिन से कहो तो ?

रामधन ने जाकर स्त्री से कहा—घी माँगते हैं, माँगने को भीख, पर घी बिना कौर नहीं धँसता।

स्त्री—तो इसी दाल में से थोड़ी लेकर बनिये के यहाँ से ला दो। जब सब किया है, तो इतने के लिए उन्हें क्यों नाराज़ करते हो ?

घी आ गया। साधुजी ने ठाकुरजी की पिंडी निकाली, घंटी बजाई, और भोग लगाने बैठे। ख़ूब तनकर खाया, फिर पेट पर हाथ फेरते हुए द्वार पर लेट गये। थाली, बटली, और कलछुली रामधन घर में माँजने के लिए उठा ले गया।

उस रात रामधन के घर चूल्हा नहीं जला। थोड़ी दाल पकाकर ही पी ली।

रामधन लेटा, तो सोच रहा था—मुझसे तो यही अच्छे !

विनोद

(१)

विद्यालयों में विनोद की जितनी लीलाएँ होती रहती हैं, वे यदि एकत्र की जा सकें, तो मनोरंजन की बड़ी उत्तम सामग्री हाथ आये। वहाँ अधिकांश छात्र जीवन की चिंताओं से मुक्त रहते हैं। कितने ही तो परीक्षाओं की चिन्ता से भी बरी रहते हैं। वहाँ मटरगश्त करने, गप

उड़ाने और हँसी-मज़ाक करने के सिवा उन्हें कोई और काम नहीं रहता। उनका क्रियाशील उत्साह कभी विद्यालय के नाट्य मंच पर प्रकट होता है, कभी विशेष उत्सवों के अवसर पर! उनका शेष समय अपने और मित्रों के मनोरंजन में व्यतीत होता है। वहाँ जहाँ किसी महाशय ने किसी विभाग में विशेष उत्साह दिखाया (क्रिकेट, हाकी, फुटबाल को छोड़कर), और वह विनोद का लक्ष्य बना। अगर कोई महाशय बड़े धर्मनिष्ठ है, संध्या और हवन में तत्पर रहते हैं, बिला नाग़ा नमाज़ अदा करते हैं, तो उन्हें हास्य का लक्ष्य बनने में देर नहीं लगती। अगर किसी को पुस्तकों से प्रेम है, कोई परीक्षा के लिए बड़े उत्साह से तैयारियाँ करता है, तो समझ लीजिये कि उसकी मिट्टी ख़राब करने के लिए कहीं-न-कहीं अवश्य षड्यंत्र रचा जा रहा है। सारांश यह कि वहाँ निर्द्वन्द्व, निरीह, खुले-दिल आदमियों के लिए कोई बाधा नहीं, उनसे किसी को शिकायत नहीं होती; लेकिन मुल्लाओं और पंडितों की बड़ी दुर्गति होती है।

महाशय चक्रधर इलाहाबाद के एक सुविख्यात विद्यालय के छात्र थे। एम० ए० क्लास में दर्शन का अध्ययन करते थे। किन्तु जैसा विद्वज्जनों का स्वभाव होता है, हँसी-दिल्लगी से कोसों दूर भागते थे। जातीयता के गर्व में चूर रहते थे। हिन्दू आचार-विचार की सरलता और पवित्रता पर मुग्ध थे। उन्हें नेकटाई, कॉलर, वास्कट आदि वस्त्रों से घृणा थी। सीधा-सादा मोटा कुरता और चमरौंधे जूते पहनते। प्रातःकाल नियमित रूप से सन्ध्या-हवन करके मस्तक पर चन्दन का तिलक भी लगाया करते थे। ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों के अनुसार सिर घुटाते थे; किन्तु लम्बी चोटी रख छोड़ी थी। उनका कथन था कि चोटी रखने में प्राचीन आर्य ऋषियों ने अपनी सर्वज्ञता का प्रचण्ड परिचय दिया है। चोटी के द्वारा शरीर की अनावश्यक उष्णता बाहर निकल जाती और विद्युत् प्रवाह शरीर में प्रविष्ट होता है। इतना ही नहीं, शिखा को ऋषियों ने हिन्दू-जातीयता का मुख्य लक्षण घोषित किया है। भोजन सदैव अपने हाथ से बनाते थे, और वह भी बहुत सुपाच्य और सूक्ष्म।

उनकी धारणा थी कि आहार का मनुष्य के नैतिक विकास पर विशेष प्रभाव पड़ता है। विजातीय वस्तुओं को हेय समझते थे। कभी क्रिकेट या हाकी के पास न फटकते थे। पाश्चात्य सभ्यता के तो वह शत्रु ही थे। यहाँ तक कि अँगरेज़ी लिखने-बोलने में भी उन्हें संकोच होता था, जिसका परिणाम यह था कि उनकी अँगरेज़ी बहुत कमज़ोर थी, और वह उसमें सीधा-सा पत्र भी मुश्किल से लिख सकते थे। अगर उनको कोई व्यसन था, तो पान खाने का। इसके गुणों का समर्थन, और वैद्यक ग्रन्थों से उनकी परिपुष्टि करते थे।

विद्यालय के खिलाड़ियों को इतना धैर्य कहाँ कि ऐसा शिकार देखें और उस पर निशाना न मारें। आपस में काना-फूसी होने लगी कि इस जंगली को सीधे रास्ते पर लाना चाहिये। कैसा पण्डित बना फिरता है! किसी को कुछ समझता ही नहीं। अपने सिवा सभी को जातीय भाव से हीन समझता है। इसकी ऐसी मिट्टी पलीद करो कि सारा पाखण्ड भूल जाय!

संयोग से अवसर भी अच्छा मिल गया। कालेज खुलने के थोड़े ही दिनों बाद एक एँग्लो-इंडियन रमणी दर्शन-क्लास में सम्मिलित हुई। वह कवि-कल्पित सभी उपमाओं का आगार थी। सेब का-सा खिला हुआ रंग, सुकोमल शरीर, सहास्य छवि, और उस पर मनोहर वेष-भूषा। छात्रों को विनोद का मसाला हाथ लगा। लोग इतिहास और भाषा छोड़-छोड़कर दर्शन की कक्षा में प्रविष्ट होने लगे।

सबकी आँखें उसी चन्द्रमुखी की ओर चकोर की नाईं लगी रहती थीं। सब उसकी कृपा कटाक्ष के अभिलाषी थे। सभी उसकी मधुर वाणी सुनने के लिए लालायित थे। किन्तु प्रकृति का जैसा नियम है। आचार-शील हृदयों पर प्रेम का जादू जब चल जाता है, तब वारा-न्यारा करके ही छोड़ता है। और लोग तो आँखें ही सेंकने में मग्न रहा करते थे, किन्तु पण्डित चक्रधर प्रेम-वेदना से विकल और सत्य अनुराग से उन्मत्त हो उठे। रमणी के मुख की ओर ताकते भी झेंपते थे कि कहीं किसी की निगाह न पड़ जाय, तो इस तिलक और शिखा पर फ़बतियाँ

उड़ने लगें। जब अवसर पाते, तो अत्यन्त विनम्र, सचेष्ट, आतुर और अनुरक्त नेत्रों से देख लेते; किन्तु आँखें चुराये हुए और सिर झुकाये हुए, कि कहीं अपना परदा न खुल जाय, दीवार के कानों को खबर न हो जाय।

मगर दाई से पेट कहाँ छिप सकता है! ताड़नेवाले ताड़ ही गये। यारों ने परिडतजी की मुहब्बत की निगाह पहचान ही ली। मुँह-माँगी मुराद पाई। बाछें खिल गईं। दो महाशयों ने उनसे घनिष्ठता बढ़ानी शुरू कर दी। मैत्री को संघटित करने लगे। जब समझ गये कि इन पर हमारा विश्वास जम गया, शिकार पर वार करने का अवसर आ गया, तो एक रोज़ दोनों ने बैठकर लेडियों की शैली में परिडतजी के नाम एक पत्र लिखा—'माई डियर चक्रधर,

बहुत दिनों से विचार कर रही हूँ कि आपको पत्र लिखूँ मगर इस भय से कि बिना परिचय के ऐसा साहस करना अनुचित होगा, अब तक ज़ब्त करती रही। पर अब नहीं रहा जाता। आपने मुझ पर न जाने क्या जादू कर दिया है कि एक क्षण के लिए भी आपकी सूरत आँखों से नहीं उतरती। आपकी सौम्य मूर्ति, प्रतिभाशाली मस्तक और साधारण पहनावा सदैव आँखों के सामने फिरा करता है। मुझे स्वभावतः आडम्बर से घृणा है। पर यहाँ सभी को कृत्रिमता के रंग में डूबा पाती हूँ। जिसे देखिये, मेरे प्रेम में अनुरक्त है; पर मैं उन प्रेमियों के मनोभावों से परिचित हूँ। वे सब के-सब लंपट और शोहदे हैं। केवल आप एक ऐसे सज्जन हैं जिनके हृदय में मुझे सद्भाव और सदनुराग की झलक देख पड़ती। बार-बार उत्कंठा होती है कि आपसे कुछ बातें करती; मगर आप मुझसे इतनी दूर बैठते हैं कि वार्तालाप का सुअवसर नहीं प्राप्त होता। ईश्वर के लिए कल से आप मेरे समीप ही बैठा कीजिये; और कुछ न सही तो आपके सामीप्य ही से मेरी आत्मा तृप्त होती रहेगी।

इस पत्र को पढ़कर फाड़ डालियेगा, और इसका उत्तर लिखकर पुस्तकालय में तीसरी आलमारी के नीचे रख दीजियेगा!

आपकी

लूसी।'

यह पत्र डाक में डाल दिया गया और लोग उत्सुक नेत्रों से से देखने लगे कि इसका क्या असर होता है। उन्हें बहुत लंबा इंतज़ार न करना पड़ा। दूसरे दिन कालेज में आकर पंडितजी को लूसी के सन्निकट बैठने की फ़िक्र हुई। वे दोनों महाशय, जिन्होंने उनसे आत्मीयता बढ़ा रखी थी, लूसी के निकट बैठा करते थे। एक का नाम था नईम और दूसरे का गिरिधर सहाय। चक्रधर ने जाकर गिरिधर से कहा—यार, तुम मेरी जगह जा बैठो। मुझे यहाँ बैठने दो।

नईम—क्यों? आपको हसद होता है क्या?

चक्रधर—हसद-वसद की बात नहीं, यहाँ प्रोफेसर साहब का लेक्चर सुनाई नहीं देता। मैं कानों का ज़रा भारी हूँ।

गिरिधर—पहले तो आपको यह बीमारी न थी। यह रोग कब से उत्पन्न हो गया?

नईम—और फिर प्रोफेसर साहब तो यहाँ से और भी दूर हो जायँगे जी?

चक्रधर—दूर हो जायँगे तो क्या, यहाँ अच्छा रहेगा। मुझे कभी-कभी झपकियाँ आ जाती हैं। सामने डर लगा रहता है कि कहीं उनकी निगाह न पड़ जाय।

गिरिधर—आपको तो झपकियाँ ही आती हैं न। यहाँ तो वही घंटा सोने का है। पूरी एक नींद लेता हूँ। फिर?

नईम—तुम भी अजीब आदमी हो। जब दोस्त होकर एक बात कहते हैं, तो उसको मानने में तुम्हें क्या एतराज़? चुपके से दूसरी जगह जा बैठो।

गिरिधर—अच्छी बात है, छोड़े देता हूँ। किन्तु यह समझ लीजियेगा कि यह कोई साधारण त्याग नहीं है। मैं अपने ऊपर बहुत जब्र कर रहा हूँ। कोई दूसरा लाख रुपए भी देता, तो जगह न छोड़ता।

नईम—अरे भई, यह जन्नत है जन्नत! लेकिन दोस्त की ख़ातिर भी तो है कोई चीज़?

चक्रधर ने कृतज्ञता-पूर्ण दृष्टि से देखा और वहाँ जाकर बैठ गये।

थोड़ी देर के बाद लूसी भी अपनी जगह पर आ बैठी। अब पंडितजी बार-बार उसकी ओर सापेक्ष भाव से ताकते हैं कि वह कुछ बातचीत करे, और वह प्रोफेसर का भाषण सुनने में तन्मय हो रही है। आपने समझा, शायद लज्जावश नहीं बोलती। लज्जाशीलता रमणियों का सबसे सुन्दर भूषण भी तो है। उसके डेस्क की ओर मुँह फेर-फेरकर ताकने लगे। उसे इनके पान चबाने से शायद घृणा होती थी—बार-बार मुँह दूसरी ओर फेर लेती थी। किन्तु पंडितजी इतने सूक्ष्मदर्शी, इतने कुशाग्रबुद्धि न थे। इतने प्रसन्न थे, मानो सातवें आसमान पर हैं। सबको उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, मानो प्रत्यक्ष रूप से कह रहे हैं कि तुम्हें यह सौभाग्य कहाँ नसीब? मुझ सा प्रतापी और कौन होगा?

दिन तो गुज़रा। संध्या-समय पण्डितजी नईम के कमरे में आये, और बोले—यार, एक लेटर-राइटर (पत्र-व्यवहार-शिक्षक) की आवश्यकता है। किसका लेटर-राइटर सबसे अच्छा है?

नईम ने गिरिधर की ओर कनखियों से देखकर पूछा—लेटर-राइटर लेकर क्या कीजियेगा?

गिरिधर—फ़ुज़ूल है। नईम ख़ुद किस लेटर-राइटर से कम हैं।

चक्रधर ने कुछ सकुचाते हुए कहा—अच्छा, कोई प्रेम पत्र लिखना हो, तो कैसे आरम्भ किया जाय?

नईम—डार्लिङ्ग लिखते हैं। और जो बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध हो, तो डियर डार्लिङ्ग लिख सकते हैं।

चक्रधर—और समाप्त कैसे करना चाहिये?

नईम—पूरा हाल बताइये, तो ख़त ही न लिख दें?

चक्रधर—नहीं, आप इतना बता दीजिये, मैं लिख लूँगा।

नईम—अगर बहुत प्यारा माशूक हो, तो लिखिये—Your dying lover; और अगर साधारण प्रेम हो, तो लिख सकते हैं—Yours for ever.

चक्रधर—कुछ शुभ कामना के भाव भी तो रहने चाहियें न?

नईम—बेशक! बिला आदाब के भी कोई ख़त होता है, और वह

भी मुहब्बत का ! माशूक के लिए आदाब लिखने में फ़क़ीरों की तरह दुआएँ देनी चाहियें ! आप लिख सकते हैं—God give you everlasting grace and beauty, या—May you remain happy in love and lovely.

चक्रधर—एक काग़ज़ पर लिख दो।

गिरिधर ने एक पत्र के टुकड़े पर कई वाक्य लिख दिये। जब भोजन करके लौटे, तो चक्रधर ने अपने किवाड़े बन्द कर लिये, और ख़ूब बना-बनाकर पत्र लिखा। अक्षर बिगड़-बिगड़ जाते थे, इसलिए कई बार लिखना पड़ा। कहीं पिछले पहर जाकर पत्र समाप्त हुआ। तब आपने उसे इत्र में बसाया, और दूसरे दिन पुस्तकालय में, निर्दिष्ट स्थान पर रख दिया। यार लोग तो ताक में थे ही, पत्र उड़ा लाये, और ख़ूब मज़े ले-लेकर पढ़ा।

(२)

तीन दिन के बाद चक्रधर को फिर एक पत्र मिला। लिखा था—

'माई डियर चक्रधर,

तुम्हारी प्रेम-पत्री मिली। बार-बार पढ़ा। आँखों से लगाया; चुम्बन किया। कितनी मनोहर महक थी। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि हमारा प्रेम भी ऐसा ही सुरभि-सिंचित रहे। आपको शिकायत है कि मैं आपसे बातें क्यों नहीं करती। प्रिय, प्रेम बातों से नहीं, हृदय से होता है। जब मैं तुम्हारी ओर से मुँह फेर लेती हूँ, तो मेरे दिल पर क्या गुज़रती है, यह मैं ही जानती हूँ। एक दबी हुई ज्वाला है, जो अन्दर ही अन्दर मुझे भस्म कर रही है। आपको मालूम नहीं, कितनी आँखें हमारी ओर एक टक ताकती रहती हैं। ज़रा भी सन्देह हुआ, और चिरवियोग की विपत्ति हमारे सिर पड़ी। इसलिए हमें बहुत ही सावधान रहना चाहिये। तुमसे एक याचना करती हूँ, क्षमा करना। मैं तुम्हें अँगरेज़ी पोशाक में देखने को बहुत उत्कंठित हो रही हूँ। यों तो तुम चाहे जो वस्त्र धारण करो, मेरी आँखों के तारे हो—विशेषकर तुम्हारा सादा कुरता मुझे बहुत ही सुन्दर मालूम होता है—फिर भी, बाल्यावस्था से जिन वस्त्रों को देखती

चली आती हूँ, उन पर विशेष अनुराग होना स्वाभाविक है। मुझे आशा है, तुम निराश न करोगे। मैंने तुम्हारे लिए एक वास्कट बनाया है। उसे मेरे प्रेम का तुच्छ उपहार समझकर स्वीकार करो।

तुम्हारी

लूसी।"

पत्र के साथ ही एक छोटा-सा पैकट था। वास्कट उसी में बंद था। यारों ने आपस में चंदा करके बड़ी उदारता से इसका मूल-धन एकत्र किया था। उस पर सैंट परसेंट से भी अधिक लाभ होने की संभावना थी। पंडित चक्रधर उक्त उपहार और पत्र पाकर इतने प्रसन्न हुए, जिसका ठिकाना नहीं। उसे लेकर सारे छात्रावास में चक्कर लगा आये। मित्र-वृन्द देखते थे, उसकी काट-छाँट की सराहना करते थे; तारीफ़ों के पुल बाँधते थे; उसके मूल्य का अतिशयोक्ति-पूर्ण अनुमान करते थे। कोई कहता था—यह सीधे पेरिस से सिलकर आया है; इस मुल्क में ऐसे कारीगर कहाँ! कौन, अगर कोई इसके टक्कर का वास्कट सिलवा दे, तो १००) की बाज़ी बदता हूँ! पर वास्तव में उसके कपड़े का रंग इतना गहरा था कि कोई सुरुचि रखनेवाला मनुष्य उसे पहनना पसन्द न करता। चक्रधर को लोगों ने पूर्व-मुख करके खड़ा किया, और फिर शुभमहूर्त में वह वास्कट उन्हें पहनाया! आप फूले न समाते थे। कोई इधर से आकर कहता—भाई, तुम तो बिलकुल पहचाने नहीं जाते। चोला ही बदल दिया। अपने वक़्त के यूसुफ़ हो। यार, क्यों न हो, तभी तो यह ठाट है। मुखड़ा कैसा दमकने लगा, मानो तपाया हुआ कुंदन है। अजी, एक वास्कट पर यह जोबन है, कहीं पूरा अँगरेज़ी सूट पहन लो, तो न-जाने क्या ग़ज़ब हो जाय! सारी मिसें लोट-पोट हो जायँ। गला छुड़ाना मुश्किल हो जाय।

आख़िर सलाह हुई कि उनके लिए एक अँगरेज़ी सूट बनवाना चाहिये। इस कला के विशेषज्ञ उनके साथ गुट बाँधकर सूट बनवाने चले। पण्डितजी घर के सम्पन्न थे। एक अँगरेज़ी दूकान से बहुमूल्य सूट लिया गया। रात को इसी उत्सव में गाना-बजाना भी हुआ।

दूसरे दिन, दस बजे, लोगों ने पण्डितजी को सूट पहनाया। आप अपनी उदासीनता दिखाने के लिए बोले—मुझे तो बिलकुल अच्छा नहीं लगता। आप लोगों को न जाने क्यों ये कपड़े अच्छे लगते हैं?

नईम—ज़रा आइने में सूरत देखिये, तो मालूम हो। ख़ासे शाहज़ादे मालूम पड़ते हो। तुम्हारे हुस्न पर मुझे तो रश्क है। ख़ुदा ने तो आपको ऐसी सूरत दी, और उसे आप मोटे कपड़ों में छिपाये हुए थे।

चक्रधर को नेकटाई बाँधने का ज्ञान न था। बोले—भई इसे तो ठीक कर दो। गिरिधरसहाय ने नेकटाई इतनी कसकर बाँधी कि पण्डितजी को साँस लेना भी मुश्किल हो गया। बोले—यार, बहुत तंग है।

गिरिधर—इसका फ़ैशन ही यह है; हम क्या करें। ढीली टाई ऐब में दाख़िल है।

नईम—इन्होंने तो फिर भी बहुत ढीली रखी है। मैं तो और भी कसकर बाँधता हूँ।

चक्रधर—अजी, यहाँ तो दम घुट रहा है!

नईम—और टाई का मंशा ही क्या है? इसीलिए तो बाँधी जाती है कि आदमी बहुत ज़ोर-ज़ोर से साँस न ले सके।

चक्रधर के प्राण संकट में थे। आँखें लाल हो रही थीं, चेहरा भी सुर्ख़ हो गया था। मगर टाई को ढीला करने की हिम्मत न पड़ती थी। इस सज-धज से आप कालेज चले, तो मित्रों का एक ग़ोल सम्मान का भाव दिखाता आपके पीछे-पीछे चला, मानो बरातियों का समूह है। एक दूसरे की तरफ़ ताकता, और रूमाल मुँह में देकर हँसता था। मगर पण्डितजी को क्या ख़बर। वह तो अपनी धुन में मस्त थे। अकड़-अकड़कर चलते हुए आकर क्लास में बैठ गये। थोड़ी देर के बाद लूसी भी आई। पण्डित का यह वेष देखा, तो चकित हो गई। उसके अधरों पर मुसकान की एक अपूर्व रेखा अंकित हो गई। पण्डितजी ने समझा, यह उसके उल्लास का चिह्न है। बार-बार मुसकराकर उसकी ओर ताकने और रहस्य-पूर्ण भाव से देखने लगे। किन्तु वह लेश-मात्र

भी ध्यान न देती थी।

पण्डितजी की जीवनचर्या, धर्मोत्साह और जातीय प्रेम में बड़े वेग से परिवर्तन होने लगे। सबसे पहले शिखा पर छुरा फिरा। अँगरेजी फ़ैशन के बाल कटवाये गये। लोगों ने कहा—यह क्या महाशय! आप तो फ़रमाते थे कि शिखा द्वारा विद्युत्प्रवाह शरीर में प्रवेश करता है। अब वह किस मार्ग से जायगा? पण्डितजी ने दार्शनिक भाव से मुसकराकर कहा—मैं तुम लोगों को उल्लू बनाता था। क्या मैं इतना भी नहीं जानता कि यह सब पाखण्ड है। मुझे अन्तःकरण से इस पर विश्वास ही कब था; आप लोगों को चकमा देना चाहता था।

नईम—वल्लाह, आप एक ही झाँसेबाज़ निकले। हम लोग आपको बछिया के ताऊ ही समझते थे, मगर आप तो आठों गाँठ कुम्मैत निकले?

चक्रधर—देखता था कि लोग कहते क्या हैं।

शिखा के साथ साथ सन्ध्या और हवन की भी इतिश्री हो गई। हवन-कुण्ड कमरे में चारपाई के नीचे फेंक दिया गया। कुछ दिनों के बाद सिगरेट के जले हुए टुकड़े रखने का काम देने लगा। जिस आसन पर बैठकर हवन किया करते थे, वह पायदान बना। अब प्रति-दिन साबुन रगड़ते, बालों में कंघी करते और सिगार पीते। यार लोग उन्हें चंग पर चढ़ाते रहते थे। यह प्रस्ताव हुआ कि इस चंडूल से वास्कट के रुपए वसूल करने चाहियें मय सूद के! फिर क्या था, लूसी का एक पत्र आ गया—'आपके रूपान्तर से मुझे जितना आनन्द हुआ, उसे शब्दों में नहीं प्रकट कर सकती। आपसे मुझे ऐसी ही आशा थी। अब आप इस योग्य हो गये हैं कि कोई यूरोपियन लेडी आपके सहवास में अपना अपमान नहीं समझ सकती। अब आपसे प्रार्थना केवल यही है कि मुझे अपने अनन्त और अविरल प्रेम का कोई चिह्न प्रदान कीजिये, जिसे मैं सदैव अपने पास रखूँ। मैं कोई बहुमूल्य वस्तु नहीं, केवल प्रेमोपहार चाहती हूँ।'

चक्रधर ने मित्रों से पूछा—अपनी पत्नी के लिए कुछ सौगात

भेजना चाहता हूँ। क्या भेजना उचित होगा ?

नईम—जनाब, यह तो उसकी तालीम और मज़ाक़ पर मुनहसर है। अगर वह नये फैशन की लेडी है, तो कोई बेश-क़ीमत, सुबुक, वज़ादार चीज़, या ऐसी ही कई चीज़ें भेजिये। मसलन् रूमाल, रिस्टवाच, लवेंडर की शीशी, फ़ैंसी कंघी, आईना, लाकेट, ब्रूच वग़ैरह। और, ख़ुदा न ख़्वास्ता अगर गँवारिन हैं, तो किसी दूसरे आदमी से पूछिये। मुझे गँवारिनों के मज़ाक़ का इल्म नहीं।

चक्रधर—जनाब, अँगरेज़ी पढ़ी हुई हैं। बड़े ऊँचे ख़ानदान की हैं।

नईम—तो फिर मेरी सलाह पर अमल कीजिये।

सन्ध्या-समय मित्रगण चक्रधर के साथ बाज़ार गये और ढेर की ढेर चीजें बटोर लाये। सब की सब ऊँचे दरजे की। कोई ७५) ख़र्च हुए। मगर पण्डितजी ने उफ़ तक न की। हँसते हुए रुपये निकाले। लौटते वक़्त नईम ने कहा—अफ़सोस, हमें ऐसी खुशमज़ाक बीबी न मिली!

गिरिधर—ज़हर खा लो, ज़हर!

नईम—भई, दोस्ती के माने तो यही हैं कि एक बार हमें भी उनकी ज़ियारत हो। क्यों पंडितजी, आप इसमें कोई हरज समझते हैं ?

चक्रधर—माता-पिता न होते, तो कोई हरज न था। अभी तो मैं उन्हीं का मुहताज हूँ। इतनी स्वतंत्रता क्योंकर बरतूँ ?

नईम—ख़ैर ख़ुदा उन्हें जल्द दुनिया से नजात दे।

रातोरात पैकट बना, और प्रातःकाल पंडितजी उसे ले जाकर लाइब्रेरी में रख आये। लाइब्रेरी सबेरे ही खुल जाती थी। कोई अड़चन न हुई। उन्होंने इधर मुँह फेरा, उधर यारों ने माल उड़ाया, और चम्पत हुए। नईम के कमरे में चन्दे के हिसाब से हिस्सा-बाँट हुआ। किसी ने घड़ी पाई; किसी ने रूमाल, किसी ने कुछ। एक-एक रुपए के बदले पाँच-पाँच रुपए हाथ लगे।

(३)

प्रेमी जन का धैर्य अपार होता है। निराशा-पर-निराशा होती है,

पर धैर्य हाथ से नहीं छूटता। पण्डितजी बेचारे विपुल धन-व्यय करने के पश्चात् भी प्रेमिका से संभाषण का सौभाग्य न प्राप्त कर सके। प्रेमिका भी विचित्र थी, जो पत्रों में मिसरी की डली घोल देती, मगर प्रत्यक्ष में दृष्टिपात भी न करती थी। बेचारे बहुत चाहते थे कि स्वयं ही अग्रसर हों, पर हिम्मत न पड़ती थी। विकट समस्या थी। किंतु इससे भी वह निराश न थे। हवन-संध्या तो छोड़ ही बैठे थे। नये फैशन के बाल कट ही चुके थे। अब बहुधा अँगरेज़ी ही बोलते, यद्यपि वह अशुद्ध और भ्रष्ट होती थी। रात को अँगरेज़ी मुहावरों की किताब लेकर पाठ की भाँति रटते। नीचे के दरजों में बेचारे ने इतने श्रम से कभी पाठ न याद किया था। उन्हीं रटे हुए मुहावरों को मौके-बे-मौके काम में लाते। दो-चार बार लूसी के सामने भी अँगरेज़ी बघारने लगे, जिससे उनकी योग्यता का परदा और भी खुल गया।

किंतु दुष्टों को अब भी उन पर दया न आई। एक दिन चक्रधर के पास लूसी का पत्र पहुँचा, जिसमें बहुत अनुनय-विनय के बाद यह इच्छा प्रकट की गई थी कि—'मैं आपको अँगरेज़ी खेल खेलते देखना चाहती हूँ। मैंने आपको कभी फुटबाल या हॉकी खेलते नहीं देखा। अँगरेज़ जेंटिलमैन के लिए हॉकी, क्रिकेट आदि में सिद्धहस्त होना परमावश्यक है! मुझे आशा है, आप मेरा यह तुच्छ याचना स्वीकार करेंगे। अँगरेज़ी वेष-भूषा में, बोल-चाल में, आचार-व्यवहार में कालेज में अब आपका कोई प्रतियोगी नहीं रहा। मैं चाहती हूँ कि खेल के मैदान में भी आपकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो जाय। कदाचित् कभी आपको मेरे साथ लेडियों के सम्मुख खेलना पड़े, तो उस समय आपकी और आपसे ज़्यादा मेरी हेठी होगी। इसलिए टेनिस अवश्य खेलिये।'

दस बजे पंडितजी को यह पत्र मिला। दोपहर को ज्योंही विश्राम की घंटी बजी कि आपने नईम से जाकर कहा—यार ज़रा फुटबाल निकाल दो।

नईम फुटबाल के कप्तान भी थे। मुसकराकर बोले—ख़ैर तो है, इस दोपहर में फुटबाल लेकर क्या कीजियेगा? आप तो कभी मैदान

की तरफ़ झाँकते भी नहीं। आज इस जलती बलती धूप में फुटबाल खेलने की धुन क्यों सवार है ?

चक्रधर—आपको इससे क्या मतलब। आप गेंद निकाल दीजिये। मैं गेंद में भी आप लोगों को नीचा दिखाऊँगा।

नईम—जनाब कहीं चोट-चपेट आ जायगी, मुफ़्त में परेशान होइयेगा। हमारे ही सिर मरहम-पट्टी का बोझ पड़ेगा। ख़ुदा के लिए इस वक्त रहने दीजिये।

चक्रधर—आख़िर चोट तो मुझे लगेगी, आपका इसमें क्या नुक़सान होता है ? आपको ज़रा-सा गेंद निकाल देने में इतनी आपत्ति क्यों है ?

नईम ने गेंद निकाल दिया, और पंडितजी उसी जलती हुई दोपहर में अभ्यास करने लगे। बार-बार गिरते थे, बार-बार तालियाँ पड़ती थीं, मगर वह अपनी धुन में ऐसे मस्त थे कि उसकी कुछ परवा ही न करते थे। इसी बीच में आपने लूसी को आते देख लिया, और भी फूल गये। बार-बार पैर चलाते थे, मगर निशाना ख़ाली जाता था ; पैर पड़ते भी थे तो गेंद पर कुछ असर न होता था। और लोग आकर गेंद को एक ठोकर में आसमान तक पहुँचा देते, तो आप कहते, मैं ज़ोर से मारूँ, तो इससे भी ऊपर जाय, लेकिन फ़ायदा क्या। लूसी दो-तीन मिनट तक खड़ी उनकी बौखलाहट पर हँसती रही। आख़िर नईम से बोली—वेल नईम, इस पण्डित को क्या हो गया है ? रोज़ एक न एक स्वाँग भरा करता है। इसके दिमाग़ में ख़लल तो नहीं पड़ गया ?

नईम—मालूम तो कुछ ऐसा ही होता है।

शाम को सब लोग छात्रालय में आये, तो मित्रों ने जाकर पंडितजी को बधाई दी। यार, हो बड़े ख़ुशनसीब, हम लोग फुटबाल को कालेज की चोटी तक पहुँचाते रहे, मगर किसी ने तारीफ़ न की। तुम्हारे खेल की सबने तारीफ़ की, ख़ासकर लूसी ने। वह तो कहती थी, जिस ढंग से यह खेलते हैं, उस ढंग से मैंने बहुत कम हिंदुस्ता-

नियों को खेलते देखा है। मालूम होता है, आक्सफ़ोर्ड का कोई अभ्यस्त खिलाड़ी है।

चक्रधर—और भी कुछ बोलीं? क्या कहा, सच बताओ?

नईम—अजी, अब साफ़-साफ़ न कहलवाइये। मालूम होता है, आपने टट्टी की आड़ से शिकार खेला है। बड़े उस्ताद हो यार! हम लोग मुँह ताकते रहे, और तुम मैदान मार ले गये। तभी आप रोज़ यह कलेवर बदला करते थे! अब यह भेद खुला। वाक़ई खुशनसीब हो।

चक्रधर—मैं उसी क़ायदे से गेंद में ठोकर मारता था, जैसे किताब में लिखा है।

नईम—तभी तो बाज़ी मार ले गये भाई! और नहीं क्या हम आपसे किसी बात में कम हैं। हाँ, तुम्हारी-जैसी सूरत कहाँ से लावें।

चक्रधर—बहुत बनाओ नहीं। मैं ऐसा कहाँ का बड़ा रूपवान हूँ।

नईम—अजी यह तो नतीजे ही से ज़ाहिर है। यहाँ साबुन और तेल लगाते-लगाते भोर हुआ जाता है, और कुछ असर नहीं होता। मगर आपका रंग बिना हर्रे-फिटकिरी के ही चोखा है।

चक्रधर—कुछ मेरे कपड़े वग़ैरह की निस्बत तो नहीं कहती थीं?

नईम—नहीं, और तो कुछ नहीं कहा। हाँ, इतना देखा कि जब तक खड़ी रहीं, आपकी ही तरफ़ उसकी टकटकी लगी हुई थी।

पण्डितजी अकड़े जाते थे। हृदय फूला जाता था जिन्होंने उनकी वह अनुपम छवि देखी, वे बहुत दिनों तक याद रखेंगे। मगर इस अतुल आनन्द का मूल्य उन्हें बहुत देना पड़ा; क्योंकि अब कालेज का सेशन समाप्त होनेवाला था और मित्रों को पण्डितजी के माथे एक बार दावत खाने की बड़ी अभिलाषा थी। प्रस्ताव होने की देर थी। तीसरे दिन उनके नाम लूसी का पत्र पहुँचा—'वियोग के दुर्दिन आ रहे हैं; न-जाने आप कहाँ होंगे, और मैं कहाँ हूँगी। मैं चाहती हूँ, इस अटल प्रेम की यादगार में एक दावत हो। अगर उसका व्यय आपके लिए असह्य हो, तो मैं सम्पूर्ण भार लेने को तैयार हूँ। इस दावत में मैं और मेरी सखियाँ-सहेलियाँ निमन्त्रित होंगी, कालेज के छात्र और

अध्यापकगण सम्मिलित होंगे। भोजन के उपरान्त हम अपने वियुक्त हृदय के भावों को प्रकट करेंगे। काश, आपका धर्म, आपकी जीवन-प्रणाली और मेरे माता-पिता की निर्दयता बाधक न होती, तो हमें संसार की कोई शक्ति जुदा न कर सकती।'

चक्रधर यह पत्र पाते ही बौखला उठे। मित्रों से कहा—भई, चलते-चलते एक बार सहभोज तो हो जाय। फिर न-जाने कौन कहाँ होगा। मिस लूसी को भी बुलाया जाय।

यद्यपि पंडितजी के पास इस समय रुपए न थे, घरवाले उनकी फिज़ूलख़र्ची की कई बार शिकायत कर चुके थे, मगर पण्डितजी का आत्माभिमान यह कब मानता था कि प्रीतिभोज का भार लूसी पर रखा जाय। वह तो अपने प्राण तक उस पर वार चुके थे। न-जाने क्या-क्या बहाने बनाकर ससुराल से रुपए मँगवाये, और बड़े समारोह से दावत की तैयारियाँ होने लगीं। कार्ड छपवाये गये, भोजन परोसने-वालों के लिए नई वरदियाँ बनवाई गईं। अङ्गरेज़ी और हिन्दुस्तानी, दोनों ही प्रकार के व्यंजनों की व्यवस्था की गई। अंगरेज़ी खाने के लिए रायल होटल से बातचीत की गई। इसमें बहुत सुविधा थी। यद्यपि चीज़ बहुत महँगी थी, लेकिन झंझट से नजात हो गई। अन्यथा सारा भार नईम और उसके दोस्त गिरिधर पर पड़ता। हिन्दुस्तानी भोजन के व्यवस्थापक गिरिधर हुए।

पूरे दो सप्ताह तक तैयारियाँ हुआ कीं। नईम और गिरिधर तो कालेज में केवल मनोरंजन के लिए थे। पढ़ना-पढ़ाना तो उनको था नहीं, आमोद-प्रमोद ही में समय व्यतीत किया करते थे; कवि-सम्मेलन की भी ठहरी। कविजनों के नाम बुलावे भेजे गये। सारांश यह कि बड़े पैमाने पर प्रीतिभोज का प्रबन्ध किया गया, और भोज हुआ भी विराट्। विद्यालय के नौकरों ने पूरियाँ बेचीं। विद्यालय के इतिहास में वह भोज चिरस्मरणीय रहेगा। मित्रों ने ख़ूब बढ़-बढ़कर हाथ मारे। दो-तीन मिसें भी खींच बुलाई गईं। मिरजा नईम लूसी को घेर-घारकर ले ही आये। इसने भोज को और भी रसमय बना दिया।

(४)

किन्तु शोक, महाशोक, इस भोज का परिणाम अभागे चक्रधर के लिए कल्याणकारी न हुआ। चलते चलाते लज्जित और अपमानित होना बदा था। मित्रों की तो दिल्लगी थी, और उस बेचारे की जान पर बन रही थी। सोचे, अब तो विदा होते ही हैं, फिर मुलाकात हो या न हो। अब किस दिन के लिए सब्र करें? मन के प्रेमोद्गारों को निकाल क्यों न लें। कलेजा चीरकर दिखा क्यों न दें। और लोग तो दावत खाने में जुटे हुए थे, और वह मदनबाण-पीड़ित युवक बैठा सोच रहा था कि यह अभिलाषा क्योंकर पूरी हो! अब यह आत्मदमन क्यों? लज्जा क्यों? विरक्ति क्यों? गुप्त रोदन क्यों? मौनमुखापेक्षा क्यों? अन्तर्वेदना क्यों? बैठे-बैठे प्रेम को क्रिया-शील बनाने के लिए मन में बल का संचार करते रहे, कभी देवताओं का स्मरण करते, कभी ईश्वर को अपनी भक्ति की याद दिलाते। अवसर की ताक में इस भाँति बैठे थे, जैसे बगला मेढक की ताक में बैठता है। भोज समाप्त हो गया। पान-इलायची बँट चुकी, वियोग-वार्ता हो चुकी। मिस लूसी अपनी श्रवण-मधुर वाणी से हृदयों में हाहाकार मचा चुकी, और भोज-शाला से निकलकर बाइसिकिल पर बैठी। उधर कवि-सम्मेलन में इस तरह का मिसरा पढ़ा गया—

कोई दीवाना बनाये, कोई दीवाना बने।

इधर चक्रधर चुपके से लूसी के पीछे हो लिये, और साइकिल को भयंकर वेग से दौड़ाते हुए उसे आधे रास्ते में जा पकड़ा। वह इन्हें इस व्यग्रता से दौड़े आते देखकर सहम उठी कि कोई दुर्घटना तो नहीं हो गई। बोली—वेल पंडितजी! क्या बात है? आप इतने बदहवास क्यों हैं? कुशल तो है?

चक्रधर का गला भर आया। कम्पित स्वर से बोले—अब आपसे सदैव के लिए बिछुड़ ही जाऊँगा। यह कठिन विरह-पीड़ा कैसे सही जायगी! मुझे तो शंका है, कहीं पागल न हो जाऊँ!

लूसी ने विस्मित होकर पूछा—आपकी मंशा क्या है? आप बीमार हैं क्या?

चक्रधर—आह डियर डार्लिङ्ग, तुम पूछती हो, मैं बीमार हूँ, मैं मर रहा हूँ, प्राण निकल चुके हैं, केवल प्रेमाभिलाषा का अवलम्ब है!

यह कहकर आपने उसका हाथ पकड़ना चाहा। वह इनका उन्माद देखकर भयभीत हो गई। क्रोध में आकर बोली—आप मुझे यहाँ रोक-कर मेरा अपमान कर रहे हैं। इसके लिए आपको पछताना पड़ेगा।

चक्रधर—लूसी, देखो चलते-चलाते इतनी निष्ठुरता न करो। मैंने ये विरह के दिन किस तरह काटे हैं, सो मेरा दिल ही जानता है। मैं ही ऐसा बेहया हूँ कि अब तक जीता हूँ। दूसरा होता, तो अब तक चल बसा होता। बस, केवल तुम्हारी सुधामयी पत्रिकाएँ ही मेरे जीवन का एकमात्र आधार थीं।

लूसी—मेरी पत्रिकाएँ! कैसी? मैंने आपको कब पत्र लिखे! आप कोई नशा तो नहीं खा आये हैं?

चक्रधर—डियर डार्लिङ्ग, इतनी जल्द न भूल जाओ, इतनी निर्दयता न दिखाओ। तुम्हारे वे प्रेम-पत्र, जो तुमने मुझे लिखे हैं, मेरे जीवन की सबसे बड़ी सम्पत्ति रहेंगे। तुम्हारे अनुरोध से मैंने यह वेष धारण किया, अपना सन्ध्या-हवन छोड़ा, यह आचार-व्यवहार ग्रहण किया। देखो तो ज़रा मेरे हृदय पर हाथ रखकर, कैसी धड़कन हो रही है। मालूम होता है, बाहर निकल पड़ेगा। तुम्हारा यह कुटिल हास्य मेरे प्राण ही लेकर छोड़ेगा। मेरी अभिलाषाओं...

लूसी—तुम भङ्ग तो नहीं खा गये हो या किसी ने तुम्हें चकमा तो नहीं दिया है? मैं तुमको प्रेम-पत्र लिखती! हः हः! ज़रा अपनी सूरत तो देखो, खासे बनैले सुअर मालूम होते हो।

किंतु पण्डितजी अभी तक यही समझ रहे थे कि यह मुझसे विनोद कर रही है। उसका हाथ पकड़ने की चेष्टा करके बोले—प्रिये, बहुत दिनों के बाद यह सुअवसर मिला है। अब न भागने पाओगी?

लूसी को अबकी क्रोध आ गया। उसने ज़ोर से एक चाँटा उनके

लगाया, और सिंहनी की भाँति गरजकर बोली—यू ब्लाडी, हट जा रास्ते से, नहीं तो, अभी पुलीस को बुलाती हूँ। रास्केल !

पण्डितजी चाँटा खाकर चौंधिया गये। आँखों के सामने अँधेरा छा गया। मानसिक आघात पर यह शारीरिक वज्रपात ! यह दुहरी विपत्ति ! वह तो चाँटा मारकर हवा हो गई, और यह वहीं ज़मीन पर बैठकर इस सम्पूर्ण वृत्तान्त की मन ही मन आलोचना करने लगे। चाँटे ने बाहर की आँखें आँसुओं से भर दी थीं, पर अन्दर की आँखें खोल दी थीं। कहीं कालेज के लौंडों ने तो यह शरारत नहीं की ? अवश्य यही बात है। आह ! पाजियों ने बड़ा चकमा दिया ! तभी सब-के-सब मुझे देख-देखकर हँसा करते थे ! मैं भी कुछ कमअक़्ल हूँ, नहीं तो इनके हाथों टेसू क्यों बनता ! बड़ा झाँसा दिया। उम्र-भर याद रहेगा। वहाँ से झल्लाये हुए आये और नईम से बोले—तुम बड़े दग़ाबाज़ हो, परले सिरे के धूर्त, पाजी, उल्लू, गधे, शैतान !

नईम—आखिर कोई बात तो कहिये, या गालियाँ ही देते जाइयेगा ?

गिरिधर—क्या बात हुई, कहीं लूसी से आपने कुछ कहा तो नहीं ?

चक्रधर—उसी के पास से आ रहा हूँ चाँटा खाकर, और मुँह में कालिख लगवाकर। तुम दोनों ने मिलकर मुझे ख़ूब उल्लू बनाया। इसकी कसर न लूँ तो मेरा नाम नहीं। मैं नहीं जानता कि तुम लोग मित्र बनकर मेरी गरदन पर छुरी चला रहे हो ! अच्छा, जो वह गुस्से में आकर पिस्तौल चला देती, तो ?

नईम—अरे यार, माशूक़ों की घातें निराली होती हैं !

चक्रधर—तुम्हारा सिर ! माशूक़ चाँटे लगाया करते हैं ! वे आँखों से तीर चलाते हैं, कटार मारते हैं, या हाथों से मुष्टि-प्रहार करते हैं ?

गिरिधर—उससे आपने क्या कहा ?

चक्रधर—कहा क्या, अपनी विरह-व्यथा की गाथा सुनाता रहा। इस पर उसने ऐसा चाँटा रसीद किया कि कान भन्ना उठे। हाथ हैं उसके कि पत्थर !

गिरिधर—ग़ज़ब ही हो गया। आप हैं निरे चोंच! भले आदमी, इतनी मोटी बुद्धि है तुम्हारी! हम क्या जानते थे कि आप ऐसे छिछोरे हैं, नहीं तो मज़ाक ही क्यों करते। अब आपके साथ हम लोगों पर भी आफ़त आई। कहीं उसने प्रिंसिपल से शिकायत कर दी, तो न इधर के हुए, न उधर के। और जो कहीं अपने किसी अँगरेज़ आशना से कहा, तो जान के लाले पड़ जायँगे। बड़े बेवकूफ हो यार, निरे चोंच हो। इतना भी नहीं समझे कि यह सब दिल्लगी थी। ऐसे बड़े ख़ूबसूरत भी तो नहीं हो।

चक्रधर—दिल्लगी तुम्हारे लिए थी, मेरी तो मौत हो गई। चिड़िया जान से गई, लड़कों का खेल हुआ। अब चुपके से मेरे पाँच सौ रुपए लौटा दीजिये, नहीं तो गरदन ही तोड़ दूँगा!

नईम—रुपयों के बदले जो ख़िदमत चाहे, ले लो। कहो तुम्हारी हजामत बना दें, जूते साफ़ कर दें, सिर सहला दें। बस, खाना देते जाना। क़सम ले लो, जो ज़िन्दगी-भर कहीं जाऊँ, या तरक्की के लिए कहूँ। मा-बाप के सिर से तो बोझ टल जायगा।

चक्रधर—मत जले पर नमक छिड़को जी! आपके आप गये, मुझे भी ले डूबे। तुम्हारी तो अँगरेजी अच्छी है, लोट-पीटकर निकल जाओगे। मैं तो पास भी न हूँगा। बदनाम हुआ, वह अलग। पाँच सौ की चपत भी पड़ी। यह दिल्लगी है कि गला काटना? ख़ैर समझूँगा, और, मैं चाहे न समझूँ, पर ईश्वर ज़रूर समझेंगे।

नईम—ग़लती हुई भाई, मुझे अब ख़ुद इसका अफ़सोस है।

गिरिधर—ख़ैर, रोने-धोने का अभी बहुत मौक़ा है। अब यह बतलाइये कि लूसी ने प्रिंसिपल से कह दिया, तो क्या नतीजा होगा। तीनों आदमी निकाल दिये जायँगे; नौकरी से भी हाथ धोना पड़ेगा। फिर?

चक्रधर—मैं तो प्रिंसिपल से तुम लोगों की सारी क़लई खोल दूँगा?

नईम—क्यों यार, दोस्ती के यही माने हैं?

चक्रधर—जी हाँ, आप-जैसे दोस्तों की यही सज़ा है।

उधर तो रातभर मुशायरे का बाज़ार गरम रहा, और इधर यह त्रिमूर्ति बैठी प्राण-रक्षा के उपाय सोच रही थी। प्रिंसिपल के कानों तक बात पहुँची, और आफ़त आई। अँगरेज़वाली बात है, न-जाने क्या कर बैठे। आख़िर बहुत वाद-विवाद के पश्चात् यह निश्चित हुआ कि नईम और गिरिधर प्रातःकाल मिस लूसी के बँगले पर जायँ, उससे क्षमा-याचना करें, और इस अपमान के लिए वह जो प्रायश्चित्त कहे, उसे स्वीकार करें।

चक्रधर—मैं एक कौड़ी न दूँगा।

नईम—न देना भई! हमारी जान तो है न।

गिरिधर—जान लेकर वह चाटेगी। पहले रुपयों की फ़िक्र कर लो। वह बिना तावान लिये न मानेगी।

नईम—भाई चक्रधर, ख़ुदा के लिए इस वक्त दिल न छोटा करो, नहीं तो हम तीनों की मिट्टी ख़राब होगी। जो कुछ हुआ उसे मुआफ़ करो, अब फिर ऐसी ख़ता न होगी।

चक्रधर—ऊँह, यही न होगा निकाल दिया जाऊँगा। दूकान खोल लूँगा। तुम्हारी तो मिट्टी ख़राब होगी। इस शरारत का मज़ा चखोगे। ओह! कैसा चकमा दिया है!

बहुत ख़ुशामद और चिरौरी के बाद देवता सीधे हुए। प्रातःकाल नईम लूसी के बँगले पर पहुँचे। वहाँ मालूम हुआ कि वह प्रिंसिपल के बँगले पर गई है। अब काटो, तो बदन में लहू नहीं। या अली, तुम्हीं मुश्किल को आसान करनेवाले हो, अब जान की ख़ैर नहीं। प्रिंसिपल ने सुना, तो कच्चा ही खा जायगा, नमक तक न माँगेगा। इस कम्बख़्त पंडित की बदौलत अज़ाब में जान फँसी। इस बेहूदे को सूझी क्या? चला नाज़नीन से इश्क जताने! बन-बिलाव की-सी तो आपकी सूरत है, और ख़ब्त यह कि यह माहरू मुझ पर रीझ गई! हमें भी अपने साथ डुबोये देता है। कहीं लूसी से रास्ते में मुलाक़ात हो गई, तो शायद आरज़ू-मिन्नत करने से मान जाय। लेकिन जो वहाँ पहुँच चुकी है तो फिर कोई उम्मीद नहीं। वह फिर पैरगाड़ी पर बैठे, और बेतहाशा प्रिंसिपल

के बँगले की तरफ़ भागे। ऐसे तेज़ जा रहे थे, मानो पीछे मौत आ रही है। ज़रा-सी ठोकर लगती, तो हड्डी-पसली चूर-चूर हो जाती। पर शोक! कहीं लूसी का पता नहीं। आधा रास्ता निकल गया, और लूसी की गर्द तक न नज़र आई। नैराश्य ने गति को मंद कर दिया। फिर हिम्मत करके चले। बँगले के द्वार पर भी मिल गई, तो जान बच जायगी। सहसा लूसी दिखाई दी! नईम ने पैरों को और भी तेज़ चलाना शुरू किया। वह प्रिंसिपल के बँगले के दरवाज़े पर पहुँच चुकी थी। एक सेकंड में वारा-न्यारा होता था, नाव डूबती थी या पार जाती थी। हृदय उछल-उछलकर कंठ तक आ रहा था। ज़ोर से पुकारा—मिस टरनर, हेलो मिस टरनर, ज़रा ठहर जाओ।

लूसी ने पीछे फिरकर देखा, नईम को पहचानकर ठहर गई, और बोली--मुझसे उस पंडित की सिफ़ारिश करने तो नहीं आये हो? मैं प्रिंसिपल से उसकी शिकायत करने जा रही हूँ।

नईम—तो पहले मुझे और गिरिधर—दोनों को गोली मार दो, फिर जाना।

लूसी—बेहया लोगों पर गोली का असर नहीं होता। उसने मुझे बहुत इंसल्ट किया है।

नईम—लूसी, तुम्हारे क़ुसूरवार हमीं दोनों हैं। वह बेचारा पंडित तो हमारे हाथ का खिलौना था। सारी शरारत हम लोगों की थी। क़सम है तुम्हारे सिर की!

लूसी—You naugty boy

नईम—हम दोनों उसे दिल-बहलाव का एक स्वाँग बनाये हुए थे। इसकी हमें ज़रा भी ख़बर न थी कि वह तुम्हें छेड़ने लगेगा। हम तो समझते थे कि उसमें इतनी हिम्मत ही नहीं है। ख़ुदा के लिए मुआफ़ करो, वरना हम तीनों का ख़ून तुम्हारी गरदन पर होगा।

लूसी---ख़ैर, तुम कहते हो तो प्रिंसिपल से न कहूँगी, लेकिन शर्त यह है कि पंडित मेरे सामने बीस मरतबा कान पकड़कर उठे-बैठे, और मुझे कम से कम २००) तावान दे।

नईम—लूसी, इतनी बेरहमी न करो। यह समझो, उस ग़रीब के दिल पर क्या गुज़र रही होगी। काश, तुम इतनी हसीन न होतीं।

लूसी मुसकराकर बोली—ख़ुशामद करना कोई तुमसे सीख ले।

नईम—तो अब वापस चलो।

लूसी—मेरी दोनों शर्तें मंज़ूर करते हो न ?

नईम—तुम्हारी दूसरी शर्त तो हम सब मिलकर पूरी कर देंगे, लेकिन पहली शर्त सख़्त है। बेचारा ज़हर खाकर मर जायगा। हाँ, उसके एवज़ मैं पचास दफ़ा कान पकड़कर उठ-बैठ सकता हूँ।

लूसी—तुम छुटे हुए शोहदे हो। तुम्हें शर्म कहाँ। मैं उसी को सज़ा देना चाहती हूँ। बदमाश, मेरा हाथ पकड़ना चाहता था !

नईम—ज़रा भी रहम न करोगी ?

लूसी—नहीं, सौ बार नहीं।

नईम लूसी को साथ लाये। पंडित के सामने दोनों शर्तें रखी गईं, तो बेचारा बिलबिला उठा। लूसी के पैरों पर गिर पड़ा, और सिसक-सिसककर रोने लगा। नईम और गिरिधर भी अपने कुकृत्य पर लज्जित हुए। अन्त में लूसी को दया आई। बोली—अच्छा, इन दोनों में से कोई एक शर्त मंज़ूर कर लो। मैं मुआफ़ कर दूँगी।

लोगों को पूरा विश्वास था कि चक्रधर रुपएवाली ही शर्त स्वीकार करेंगे। लूसी के सामने वह कभी कान पकड़कर उठा-बैठी न करेंगे। इसलिए जब चक्रधर ने कहा—मैं रुपए तो न दूँगा, हाँ बीस की जगह चालीस बार उठा-बैठी कर लूँगा, तो सब लोग चकित हो गये। नईम ने कहा—यार, क्यों हम लोगों को ज़लील करते हो ? रुपए क्यों नहीं देते ?

चक्रधर—रुपए बहुत ख़र्च कर चुका। अब इस चुड़ैल के लिए एक कानी कौड़ी तो ख़र्च करूँगा नहीं, दो सौ तो बहुत होते हैं। इसने समझा होगा, चलकर मज़े से दो सौ रुपए मार लाऊँगी, और गुलछर्रे उड़ाऊँगी। यह न होगा। अब तक रुपए ख़र्च करके अपनी हँसी [illegible] अब बिना ख़र्च किये हँसी कराऊँगा। मेरे [illegible]

सब लोग हँसें बला से, पर इसकी खुशी तो न नसीब होगी।

यह कहकर चक्रधर ने कुरता उतार फेंका, धोती ऊपर और बरामदे से नीचे मैदान में उतरकर उठा-बैठी करने लगे। मुख मण्डल क्रोध से तमतमाया हुआ था, पर वह बैठकें लगाये मालूम होता था, कोई पहलवान अपना करतब दिखा रहा है ने अगर बुद्धिमत्ता का कभी परिचय दिया तो इसी अवस लोग खड़े थे, पर किसी के होंठों पर हँसी न थी। सब लो कटे जाते थे। यहाँ तक कि लूसी को भी सिर उठाने का साहस न होता था। सिर गड़ाये बैठी थी। शायद उसे खेद हो रहा था कि मैंने नाहक यह दंड-योजना की।

बीस बार उठते बैठते कितनी देर लगती है। पंडित ने खूब उच्च स्वर से गिनगिनकर बीस की संख्या पूरी की, और गर्व से सिर उठाये अपने कमरे में चले गये। लूसी ने उन्हें अपमानित करना चाहा था, उलटे उसी का अपमान हो गया।

इस दुर्घटना के पश्चात् एक सप्ताह तक कालेज खुला रहा, किन्तु पंडितजी को किसी ने हँसते नहीं देखा। वह विमन और विरक्त भाव से अपने कमरे में बैठे रहते थे। लूसी का नाम ज़बान पर आते ही झल्ला पड़ते थे।

इस साल की परीक्षा में पंडितजी फेल हो गये, पर इस कालेज में फिर न आये, शायद अलीगढ़ चले गये।

समाप्त

यह
सफेद कम